नमः समयसाराय

इन्द्रियज्ञान... ज्ञान नहीं है

संकलन कर्ता :
कु. संध्या बहन जैन
शिकोहाबाद

★

हिन्दी अनुवाद एवम् सम्पादन :
कु. संध्या बहन जैन एवम् नीलम बहन जैन
शिकोहाबाद

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल (रजि.)
१०/२४७३, गली नं. ६, रघुवरपुरा, गांधी नगर,
दिल्ली-११००३१

प्राप्ति स्थान :
शान्ति सागर जैन,
९०५६, ईस्ट पार्क रोड,
नई दिल्ली-११०००५

आवृत्ति : प्रथम गुजराती १००० १६.१०.१९९०
द्वितीय गुजराती ३००० १५.५.१९९१
प्रथम हिन्दी १०००

मिति : श्री वीर निर्वाण सम्वत् २५१७
श्री कहान सम्वत् ११
ज्येष्ठ शुक्ला नौवीं
२०.६.१९९१

मूल्य : रु. १०/-

मुद्रक : पारस प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स,
बी-४५, सेक्टर ८, नौएडा (उ.प्र.)

प्रकाशकीय निवेदन

मंगलम् भगवान वीरो मंगलम् गौतमो गणी।

मंगलम् कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।

परमपूज्य देवाधिदेव शासननायक भगवान श्री **महावीर स्वामी** और **प्रमुख** गणधरदेव प्रभुश्री **गौतमस्वामी** द्वारा प्रवाहित जिनशासन की परम्परा में भरत क्षेत्र को पावन करने वाले एक महान समर्थ दिग्गज आचार्य श्री **कुंदकुंदाचार्य देव** हुए। जिनका नाम भगवान श्री महावीर स्वामी और गणधरदेव श्री गौतम स्वामी के बाद मंगलाचरण में तृतीय स्थान पर लिया जाता है। जिनशासन के स्तम्भ श्री कुंदकुंदाचार्य !, हैं **जैनधरम** के गौरव श्री कुंदकुंदाचार्य ! ऐसी भरत-भूमि की भव्य विभूति श्री कुंदकुंदाचार्य सदेह विदेह क्षेत्र गये और वहाँ ८ दिन रहकर भगवान श्री देवाधिदेव श्री **सीमंधरप्रभु** की दिव्य ध्वनि का साक्षात् रसपान किया। और वहाँ से आकर भारत के भव्यों पर परम करूणा करके परम आध्यात्मिक परमागम शास्त्र श्री समयसार जी आदि की रचना की। श्री समयसार जी कोई अलौकिक-अद्‌भुत-अजोड़-अद्वितीय ग्रंथाधिराज है।

इस ग्रंथाधिराज श्री समयसार जी को देखते ही पूज्य गुरुदेव श्री **कान्जी स्वामी** को ऐसा लगा कि उन्होंने पाने योग्य सब पा लिया है—उनके सहज हृदयोदगार निकले कि— अहो ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'

स्वानुभवमूर्ति ! अध्यात्म युगप्रवर्त्तक ! पूज्य गुरुदेव श्री ने श्री समयसार जी परमागम के ऊपर जाहिर सभा में १९ बार अध्यात्मरस से

ओतप्रोत-प्रवचन देकर तत्वपिपासु जीवों को ज्ञानामृत का पान कराया। मोक्षमार्ग का प्रकाश किया। हे परमोपकारी ! हे मोक्षमार्ग के प्रकाशक ! मुमुक्षु समाज का मस्तक आपश्री के चरण कमल में अत्यन्त विनम्र भाव से सदा नत मस्तक रहेगा !

पूज्य गुरुदेव श्री के अनन्य भक्त, धर्मसुपुत्र, अध्यात्मवेदी पूज्य श्री **लालचन्द्र भाई** जी ने फरमाया कि ''पूज्य गुरुदेव श्री के ४५ वर्ष की स्वानुभवमयी दिव्य वाणी का दोहन यह है कि :—

- शुद्धात्मा का स्वरूप क्या है ?
- और शुद्धात्मा के अनुभव की विधि क्या है ?

शुद्धात्मा का स्वरूप बताते हुए पू. गुरुदेव श्री ने फरमाया कि 'आत्मा अकर्ता है' यह जैनदर्शन की पराकाष्टा है। और अनुभव की विधि बताते हुए कहा कि 'आत्मा वास्तव में पर को जानता ही नहीं है तो फिर पर की तरफ उपयोग लगाने की बात ही कहाँ रही ?' ज्ञायक ज्ञायक को जानता है ये भी भेद होने से व्यवहार है, ज्ञायक ज्ञायक ही हैं—ये निश्चय है।'' ऐसा परमप्रयोजनभूत एकांतहितकारी करुणाभीना उपदेश देकर पू. गुरुदेव श्री ने समाज के ऊपर अनन्त अनन्त उपकार किया है।

पू. गुरुदेव श्री के उपकार की तो बात ही क्या है !!!
अनन्त अनन्त उपकार किया है ! हम विनत हैं !

परन्तु इस मूल उपदेश के रहस्य को समाज के अल्प मुमुक्षु ही समझ पाये थे। पू. श्री लालचन्द्र भाई जी ने पू. गुरुदेव श्री के मूल उपदेश पर ध्यान केन्द्रित कराया है कि—

"मैं जाननहार हूं, मैं करनार नहीं हूं;
जाननहार ही जानने में आता है,
वास्तव में पर जानने में नहीं आता है।"

पू. गुरुदेव श्री की कृपा से दृष्टि का विषय ख्याल में आने पर भी आत्मा का अनुभव क्यों नहीं होता, दृष्टि का विषय दृष्टि में क्यों नहीं आता ? उसका एकमात्र मूलकारण—इन्द्रियज्ञान में ज्ञान की भ्रांति रह जाती है ! इन्द्रियज्ञान एकान्त परलक्षी है, बहिर्मुखी है, पर को जानने वाला है—उस इन्द्रियज्ञान में एकत्व बुद्धि होने के कारण 'इन्द्रियज्ञान के द्वारा मैं पर को जानता हूँ'—ऐसी जिसकी मान्यता है उसका इन्द्रियज्ञान का व्यापार कभी बन्द नहीं होता। और इन्द्रियज्ञान का व्यापार बन्द हुये बिना उपयोग अंतर्मुख नहीं हो सकता और अंतर्मुखी उपयोग बिना आत्मदर्शन आत्मज्ञान नहीं हो सकता।

इस प्रकार पू. श्री लालचंद्र भाई जी ने "मैं पर को नहीं जानता—मुझे तो जाननहार ही जानने में आता है" ऐसा बारम्बार सततपणे निशंकपने प्रतिपादन करके इन्द्रियज्ञान की एकत्व बुद्धि छुड़ाकर, अतीन्द्रिय आत्मज्ञान आत्मानुभव प्रकट करने की कोई अपूर्व-अलौकिक विधि दर्शाई है। स्वानुभूति का मार्ग प्रशस्त किया है !

अनादि काल से सब कुछ करने पर भी जो भूल रह गई (इन्द्रियज्ञान को ज्ञान मानने की) उस भूल का आप श्री ने मूल में से निराकरण कर दिया है। आपका यह अनिवर्चनीय उपकार अमाप है, अपार है। अति निकटभवी आत्मार्थियों को जैसे-जैसे यह भूल ख्याल में आनी जायेगी वैसे-वैसे उनका हृदय आप श्री के अथाह उपकार से श्रद्धाभिभून होकर नम्रीभूत हो जायेगा।

हे परम उपकारी! श्री लालचन्द्र भाई जी आपने एक, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, गूढ़ मूल दुख के कारण (इन्द्रियज्ञान) को शोधा और उस पर आजीवन वज्र प्रहार करके आत्मीक सुख का मार्ग अनवरतपने प्रशस्त किया!

भव्य समूह द्वारा युगयुगान्तर तक स्मरणीय! आप श्री के इस अनन्त उपकार से अनन्तकाल तक अनन्त मुमुक्षु पर को जानना बन्द करके अंनर्मुख होकर आत्मानुभव जनित आनन्द से तृप्त होकर परमसिद्धि को प्राप्न होंगे।

पू. भाई श्री लालचन्द्र भाई जी के करुणाशील हृदय में यह भावना बहुत समय से रहा करती थी कि—'आत्मा कर्त्ता नहीं है—अकर्त्ता है, ज्ञाता है' यह बात तो पू. गुरुदेव की कृपा से बहुत प्रकाश में आ गई है—साथ ही पर का ज्ञाता नहीं है यह बात भी पू. गुरुदेव ने की है, कही है, परन्तु फिर भी समाज का ध्यान 'पर का ज्ञाता नहीं है'—इस बात पर सम्पूर्ण रूप से नहीं जाता—इसलिए इन्द्रियज्ञान के निषेध के लिए आचार्यों, ज्ञानियों के आधार एकत्रित करके यदि एक संकलन रूप शास्त्र तैयार होवे तो मुमुक्षुओं का ध्यान केन्द्रित हो, और इन्द्रियज्ञान का निषेध कर अतीन्द्रिय ज्ञान प्रकट करने में उद्यमवंत हो सकें।' पू. भाई श्री की इस अतिशय पवित्र, आत्महितकारी भावना को सम्पूर्ण रूप से सफल, साकार, मूर्तिमंत करने के लिये सुपात्र कु. **संध्या बहन** ने संकलन का कार्य सहर्ष स्वीकार कर लिया। और शीघ्र ही संकलन सम्पादित हो गया!

हिम्मतनगर मुमुक्षु मण्डल ने पू. भाई श्री से पुस्तक छपाने की विनती की। पूज्य भाई श्री ने सहर्ष स्वीकृति देकर यह सौभाग्य हिम्मतनगर मुमुक्षु मण्डल को प्रदान किया। वहीं पर दिल्ली से आये हुए

मुमुक्षुओं ने भी पू. भाई श्री के समक्ष इस पुस्तक को हिन्दी में भी छपाने का संकल्प किया।

इस हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन के कार्य को भी हिन्दी मुमुक्षु समाज पर करुणा करके पू. बहन श्री संध्या बहन जी ने अपने हाथ में ले लिया और मात्र १५ दिन में ही गुजराती के द्वितीय प्रकाशन में से समस्त नये आधारों सहित अनुवाद एवं सम्पादन करके शीघ्रातिशीघ्र इस पुस्तक की रूपरेखा तैयार कर दी। शारीरिक स्वास्थ्य कमजोर होने पर भी आपने इतनी मेहनत और परिश्रम उठाकर इस हिन्दी अनुवाद को शीघ्र ही समाज के हाथ में दिया है—इस महान उपकार के लिए मुमुक्षु समाज पू. बहन श्री संध्या बहन का सदा आभारी रहेगा। और आपका खूब-खूब उपकार मानता रहेगा।

इस हिन्दी अनुवाद मे कु. श्री नीलम बहन ने भी भरपूर-पूरेपूरा योगदान दिया है। हम उनके भी खूब आभारी हैं।

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, हिम्मतनगर ने जो इस गुजराती पुस्तक का हिन्दी अनुवाद छपाने की स्वीकृति प्रदान की तथा अपना प्रेस मैटिरीयल का सहयोग दिया, मण्डल उनका आभार मानता है।

इस पुस्तक प्रकाशन हेतु जिन मुमुक्षुओं ने धनराशि प्रदान की है मण्डल उनका हार्दिक आभार मानता है।

इस ग्रंथ प्रकाशन हेतु श्री नवीन जैन, पारस प्रिंटर्स एवं पब्लिशर्स, नौएडा ने जो योगदान दिया उसके लिये मण्डल उनका आभार मानता है।

आज इस 'इन्द्रियज्ञान... ज्ञान नहीं है' मांगलिक अपूर्व प्रकाशन को पू. भाई श्री के हस्तकमल में अर्पण करते हुए हम अपने को धन्य

अनुभवते हैं। और हमारी भावना है कि मुमुक्षु इस पुस्तक में दिए हुए आधारों का खूब गहराई से, अपूर्वता से मंथन करके निर्णय करें कि इन्द्रियज्ञान... ज्ञान नहीं है। इस प्रकार इन्द्रियज्ञान में ज्ञान की भ्रांति को छोड़कर अतीन्द्रियज्ञानानंदमयी परमपदार्थ निज आत्मा के आश्रय से अतीन्द्रिय ज्ञानानंद को आस्वादें! यही अभ्यर्थना है! विनती है।

एक देखिये, जानिए, रमि रहिए एक ठौर।
समल विमल न विचारिये, यही सिद्धि नहीं और।।

श्री वीर संवत् २५१७
श्री कहान संवत ११
ता. २०.६.९१
मिति जेठ सुद नौमी

इन्द्र सेन जैन
प्रमुख
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल (रजि)
दिल्ली
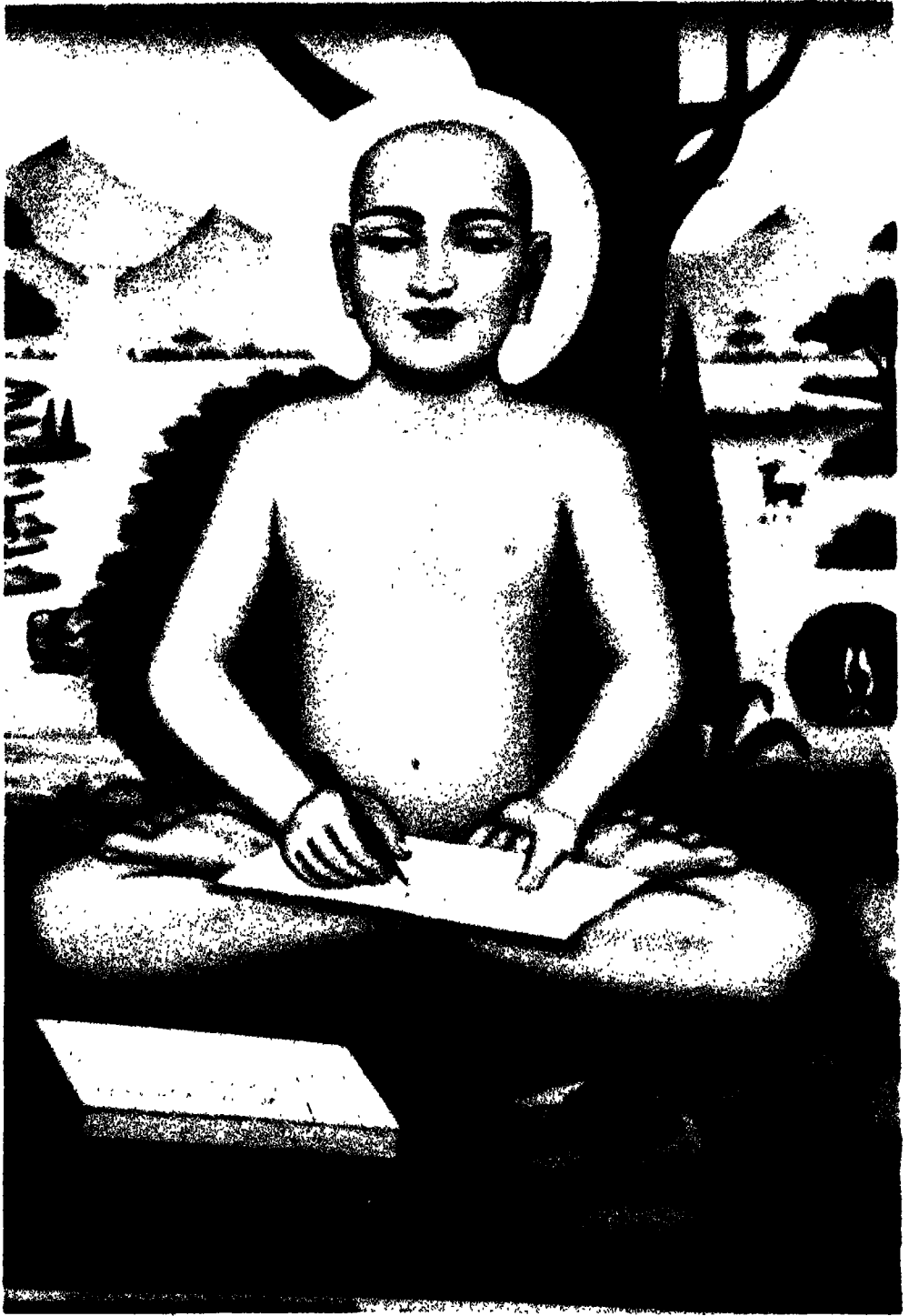
भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य देव

अर्पण

हे अध्यात्म युग प्रवर्त्तक पू. गुरुदेव श्री आप श्री ने
'इन्द्रियज्ञान ही मोह का कारण है और इन्द्रियज्ञान जीतने
से मोह जीता जाता है'—ऐसे सूक्ष्म गूढ, रहस्यमय
मोक्षमार्ग की अनेक पहलुओं से सर्वांगीण स्पष्टता
की है। और इन्द्रियज्ञान ज्ञान है—ऐसी भ्रांति
छुड़ाकर, सम्यक्ज्ञान के स्वरूप की समझ कराके
हम पामरों के ऊपर अनन्त उपकार किया है।
हे पू. गुरुदेव श्री ! इस अतिगूढ विषय की
विशेष दृढ़ता के लिए अनेक पूर्वाचार्यों
के ग्रंथों में से आधार लेकर
संकलन की हुई यह पुस्तक
आप श्री के हस्तकमल
में सादर सविनय
अर्पण कर
रहे हैं.

★
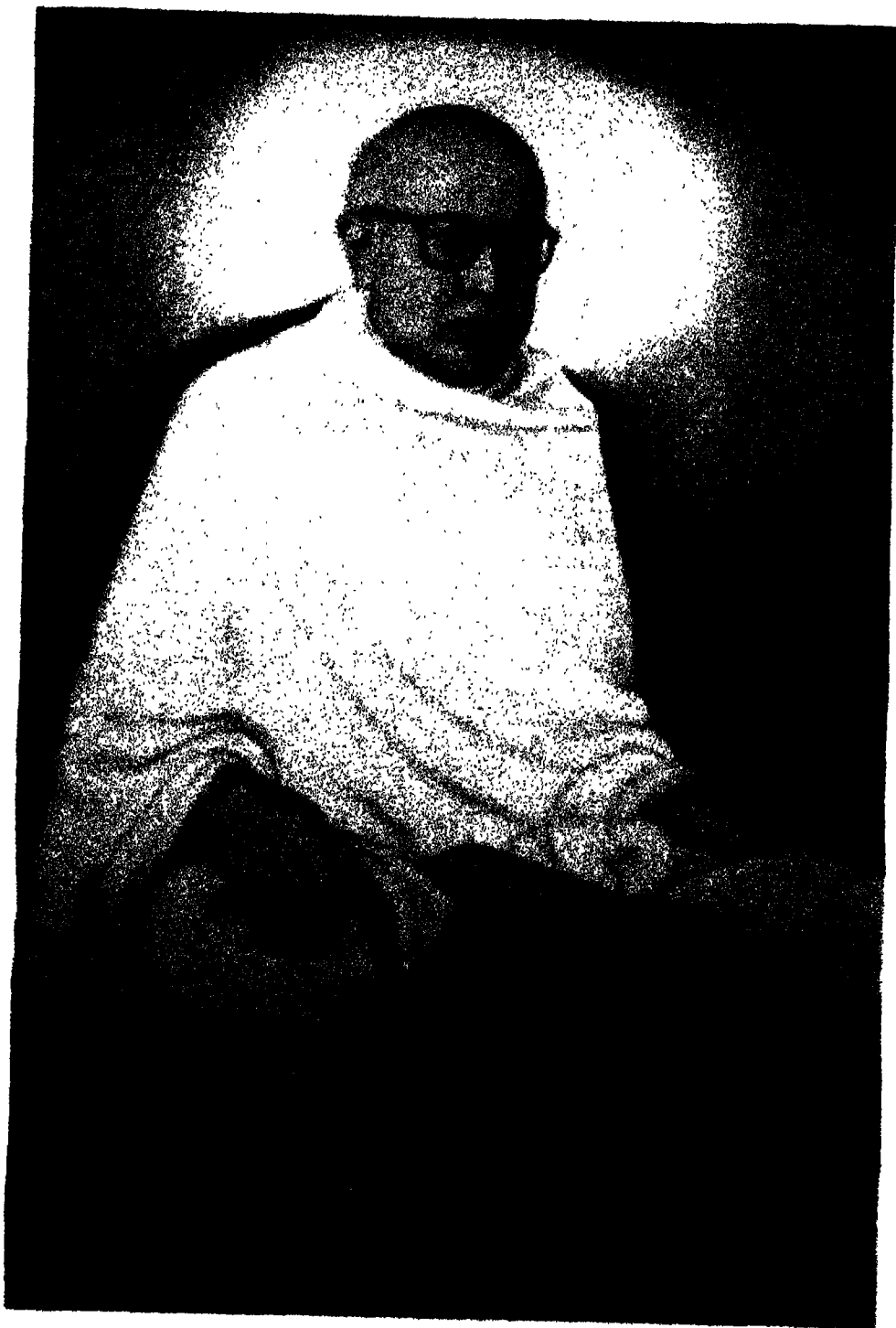
परम पूज्य अध्यात्म सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी

अध्यात्म श्री सद्‌गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के

अनन्य भक्तरत्न

आत्मरसिक भाई श्री लालचन्द भाई मोदी

आभार

'इन्द्रियज्ञान... ज्ञान नहीं है' शास्त्र के जनक पू॰ भाई श्री लालचन्द्र भाई जी के प्रति आभार

हे पूज्यवर! हे परम उपकारी! 'इन्द्रिय ज्ञान... ज्ञान नहीं है'—इस गुप्त रहस्य का उद्‌घाटन करके आप श्री ने—इन्द्रियज्ञान से भेदज्ञान कराके अतीन्द्रिय ज्ञान प्रकट करने की कोई अद्‌भुत अचूक विधि दर्शाई है। हे प्रभु! यदि आपश्री ने पर को जानने का (इन्द्रियज्ञान का) निषेध न कराया होता... तो हम भव्यों का उपयोग अंतर्मुख कैसे होता? और उपयोग अंतर्मुख हुये बिना आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव कैसे होता? और आत्मानुभव हुए बिना अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति कैसे होती? भव का अन्त कैसे आता? अत: हे भवान्तक! आप अतीन्द्रिय आनन्द के दाता हैं! मोक्ष प्रदाता हैं! आप श्री का अनन्त अनन्त उपकार है।

इस युग में भव्यों के महाभाग्य से जिनशासन के नभ-मण्डल में एक महान प्रतापी युग पुरुष आत्मज्ञ संत परमपूज्य श्री कान्जी स्वामी का उदय हुआ। इन्हीं पू. गुरुदेव श्री ने धर्मतीर्थ की स्थापना की! शुद्धात्मा के स्वरूप तथा मोक्षमार्ग की अनेक पहलुओं से विस्तृत स्पष्टता की। पू. गुरुदेव श्री द्वारा स्थापित—धर्मतीर्थ के आप अतिशय समर्थ सशक्त संरक्षक हैं।

आप श्री ने तीर्थंकर भगवंतों से लेकर पू. गुरुदेव श्री द्वारा प्रतिपादित आगम-परमागमरूपी महासागर का मंथन करके अमृत निकाला और दो

सूत्रों रूपी (**मैं जाननहार हूं, मैं करनार नहीं हूं; जाननहार ही जानने में आता है, वास्तव में पर जानने में नहीं आता है**) गागर में भर दिया है। इस प्रकार आप श्री ने विस्तृत—जैनदर्शन के हार्द को संक्षिप्त करके ध्यान केन्द्रित कराया है; क्योंकि ध्यान से ही साध्य की सिद्धि होती है।

श्री जिनशासन के स्तम्भ श्रीमद् कुंदकुंदाचार्य देव द्वारा विरचित अद्भुत-अजोड़-अद्वितीय परमागम श्री समयसार जी की छठवीं गाथा को आपश्री ने स्वानुभव से प्रमाण किया है; और अपनी स्वानुभवमयी सातिशय वाणी के द्वारा परम करुणा करके भव्य जीवों को शुद्धात्मा का स्वरूप और उसके अनुभव की विधि स्पष्ट रीति से निशंकपने—दर्शाई है। शुद्धात्मा का स्वरूप दर्शाते हुए आपश्री ने फरमाया कि "आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्त से सर्वथा रहित है, इसलिए परिणाम मात्र का कर्त्ता नहीं है, अकर्त्ता है—यह द्रव्य का निश्चय है, दृष्टि का विषय है। और अनुभव की विधि दर्शाते हुए आपश्री ने फरमाया कि "ज्ञान—पर को नहीं जानता है"—इसमें ज्ञान पर से व्यावृत्त हो जाता है। और "जाननहार ही जानने में आता है" उसमें आत्मा के सन्मुख होते ही एक नया जात्यांतर—अतीन्द्रिय ज्ञान प्रकट होता है कि जिसमें आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है—यह पर्याय का निश्चय है।

निर्विकल्प ध्यान में तो 'पर जानने में नहीं आता, जाननहार ही जानने में आता है'—इस सत्य को तो सभी स्वीकार कर लेते हैं, लेकिन सविकल्प दशा में भी मतलब कि ज्ञेयाकार अवस्था में भी ज्ञायक ही जानने में आता है—कारण कि ज्ञायक के ऊपर ही लक्ष है। पर जानने में नहीं आता है, क्योंकि पर के ऊपर लक्ष नहीं है। एक सिद्धान्त ही ऐसा है कि जिसके ऊपर लक्ष होता है वही जानने में आता है। और जिसके ऊपर

लक्ष नहीं है उसका प्रतिभास होने पर भी वह वास्तव में जानने में नहीं आता है। जानने में आने पर भी जानता नहीं है क्योंकि लक्ष वहाँ नहीं है—इस प्रकार सम्यक्ज्ञान का लक्षण हर हालत में परद्रव्य से पराङ्.मुख और स्वद्रव्यस्वरूप ज्ञायक आत्मा के सन्मुख ही रहने का है।

इस प्रकार आप श्री ने सम्यक्ज्ञान का यथार्थ स्वरूप दर्शाकर भव्य जीवों पर अनन्त-अनन्त उपकार किया है।

श्री कुंदकुंददेव के तुम्हीं सुभक्त,
श्री अमृतदेव के तुम्हीं सुमित्र,
श्री कहान गुरुदेव के तुम्हीं सुपुत्र,
शुद्धातम जाननहार लाख-लाख तुम्हें प्रणाम।।

पू. गुरुदेव श्री के शासनकाल में आप श्री द्वारा ज्ञान के स्वरूप की अत्यन्तस्पष्टता, दृढ़ता और निशंकता की पराकाष्टा देखकर—हमारा मस्तक झुक जाता है। आपकी महिमा अपरम्पार है। आपका द्रव्य अलौकिक है, त्रिकाल मंगल है, परमहितकारी है। आपकी अध्यात्मरसमयी मुद्रा, वाणी तथा जीवन भव्यों को आत्मदर्शन की प्रबल प्रेरणा प्रदान करता रहता है।

आप श्री का अतिशय आभार मानते हुये हृदय में सहज उद्गार आते हैं कि हे प्रभु! आप श्री ने तो...

"मैं ज्ञायक परज्ञेय हैं मेरे—ऐसी भ्रांति मिटा डाली।
ज्ञायक का ज्ञायक रहने की, अपूर्व विधि बता डाली।।

द्रव्यदृष्टि का दान दिया, हम सुखी रहें वरदान दिया।
हो सच्चे अनुपम दानवीर, हम भाव आपका सफल किया।।

सागर के अमाप जल को क्या अंजुलि से मापा जाता है ?।
प्रभु ! आप श्री की महिमा को क्या, शब्दों से गाया जाता है ?।।

जिनशासन के नभ-मण्डल में, तुम अनन्तकाल जयवंत रहो।
जयवंत रहो जयवंत रहो श्री 'कहान-लाल' जयवंत रहो।।"

ॐ

निवेदन

"इन्द्रियज्ञान वास्तव में ज्ञान नहीं है"—इस सम्बन्धी पू. भाई श्री के श्रीमुख से बारम्बार बात आती थी और साथ ही साथ ऐसा भी कहते थे कि इस इन्द्रियज्ञान सम्बन्धी उल्लेख शास्त्रों में कहीं-कहीं अलग-अलग बिखरे हुये हैं—सो यदि कोई उनका संकलन करे तो स्वपर का हित होवे—ऐसी वस्तु है! इन्द्रियज्ञान—वास्तव में ज्ञान नहीं है परन्तु परज्ञेय है; फिर भी इसमें ज्ञान की भ्रांति हुई है—इसलिए ऐसी कोई पुस्तक बाहर प्रकाशन में आवे—कोई संकलन करे कि जिससे भ्रांति दूर होवे—और सम्यक्ज्ञान प्रकट होवे—ऐसी भावना बारम्बार व्यक्त करते थे।

पू. भाई श्री की इस स्वपरहितकारी, मांगलिक, पवित्र, उत्कृष्ट भावना को देखकर हमें विचार आया कि इस संकलन कार्य का सौभाग्य हम ही ले ले। और संकलन का कार्य पू. भाई श्री की अतिशय कृपा से सम्पन्न भी हो गया और यह संकलन प्रथम गुजराती में प्रकाशित हुआ। इस गुजराती प्रथम प्रकाशन को देखकर हिन्दी मुमुक्षु समाज की भावना हुई कि यह प्रकाशन हिन्दी में भी होना चाहिए। यद्यपि जब गुजराती प्रकाशन बाहर आने वाला था तभी से यह नक्की था कि इसको हिन्दी में भी छपाना है।

लेकिन इसके लिए हिन्दी अनुवाद होना चाहिये। और हिन्दी अनुवाद किसी को सौंपा जाये। फिर भाई श्री को विचार आया कि यदि अनुवाद का कार्य बाहरगाम का कोई करे तो उसमें यह तकलीफ होगी कि सामग्री वहाँ से बारम्बार मंगाना—उसको देखना—ऐसा करने से तो कार्य में बहुत

विलम्ब हो जायेगा। और दिल्ली मुमुक्षु मण्डल को पुस्तक शीघ्रातिशीघ्र छपानी थी। इसलिये इस अनुवाद का कार्य पू. भाई श्री की छत्रछाया मे हो; ऐसा विचार कर यह महान सौभाग्य पू. भाई श्री ने हमें प्रदान किया। पू. भाई श्री की आज्ञा को शिरोमान्य कर अनुवाद का कार्य प्रारम्भ हुआ एवं अल्प समय में ही उनके आन्तरिक आंशीषों से निर्विघ्नपने सम्पन्न भी हो गया। अनुवाद का कार्य भी होता गया और साथ ही साथ पू. भाई श्री भी उसको देखते गये। पू. भाई श्री ने अपना अमूल्य समय इसमें दिया उसके लिये हम उनके हृदय से आभारी हैं। वास्तव में तो यह संकलन पू. भाई श्री की ही अपारकृपा का फल है—हमारा तो इसमें कुछ भी नहीं है। सब उन्हीं का दिया हुआ है।

हमको इस संकलन के लिए ऐसा विचार आया था कि आचार्यों, मूलशास्त्रों के जो वचनामृत हैं वो प्रथम खण्ड में संकलित हों और गुरुदेव श्री आदि के वचनामृत द्वितीय खण्ड में संकलित हो। लेकिन गुजराती प्रथम आवृत्ति का छपाई का कार्य आरम्भ होने के बाद भी हमें नये-नये आधार मिलते ही गये इसलिए उसमें थोड़ा पीछे से प्रथम खण्ड के वचनामृत (तत्वानुशासनादि) द्वितीय खण्ड में छप गये हैं—वैसे उसमें मूलप्रयोजन तो—स्वाध्याय का ही है!

गुजराती द्वितीय आवृत्ति में भी यह सुधार चाहने पर भी नहीं हो सका, क्योंकि प्रथमावृत्ति का प्रेस मैटर एकदम तैयार था और वह पुस्तक जामनगर पंचकल्याण पर प्रकाशित होनी थी, इसलिए समयाभाव के कारण यह सुधारा नहीं हो सका है।

लेकिन, इस हिन्दी प्रथम आवृत्ति में तो इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखकर ही वचनामृतों का व्यवस्थित संकलन हुआ है, सम्पादन हुआ है।

इसलिए इसमें नं. १ से लेकर नं. २७२ तक के वचनामृत ज्यों के त्यों गुजराती नं. से मिलते हैं। लेकिन उसके बाद अन्य आधारों के बढ जाने से सामग्री बढ गई है, इसलिए २७३ नं. से नं. बदल गये हैं, और बढ भी गये हैं।

दूसरी बात यह है कि हिन्दी अनुवाद में पूज्य गुरुदेव श्री के समस्त वचनामृत का सीधा गुजराती से हिन्दी अनुवाद हुआ है। पू. गुरुदेव श्री का कोई भी वचनामृत—हिन्दी शास्त्र से नहीं लिया है। गुजराती में से ही सीधा हिन्दी अनुवाद है। तथा श्री पंचाध्यायी, श्री समाधितंत्र, श्री इष्टोपदेश, श्री तत्वानुशासन आदि शास्त्रों का भी गुजराती से सीधा हिन्दी अनुवाद हुआ है। शेष सभी अन्य शास्त्रों के आधार सीधे हिन्दी शास्त्रों में से ही लिये है।

अत: मुमुक्षु पाठकों से नम्र निवेदन है कि कही कोई शब्दो की त्रुटि आदि रह गई हो तो कृपया उदारहृदय से सुधारकर पढना जी।

वास्तव में नो हमको इस संकलन का कर्त्ता मत देखो। हमने यह संकलन नही किया है। यह तो स्वयमेव अपनी योग्यता से ही होने योग्य हुआ है। हम इसके कर्त्ता तो नहीं हैं परन्तु हम इसमें निमित्त भी नहीं हैं। और वास्तव मे नो हम इसके ज्ञाता भी नही हैं। "हम तो ज्ञायक ही हैं और ज्ञायक ही हमें निरन्तर जानने में आता है।"

जिनकी अपार कृपा से यह महान अपूर्व तत्व, अपूर्व ग्रंथ अपने को मिला है उन श्री पू. लालचन्द्र भाई जी के श्रीचरणों में बारम्बार वंदन करके विराम लेते हैं।

कु. संध्या जैन, कु नीलम जैन
शिकोहाबाद

"इन्द्रियज्ञान... ज्ञान नहीं है" शास्त्र में संकलित ग्रंथों की नामावली

ग्रंथ	ग्रंथकार
१. श्री समयसार जी	श्री कुन्दकुन्द आचार्य देव
२. श्री प्रवचनसार जी	श्री कुन्दकुन्द आचार्य देव
३. श्री नियमसार जी	श्री कुन्दकुन्द आचार्य देव
४. श्री पंचास्तिकाय	श्री कुन्दकुन्द आचार्य देव
५. श्री रत्नकरंडश्रावकाचार	श्री समंतभद्र आचार्य देव
६. श्री समयसार जी टीका	श्री अमृतचन्द्र आचार्य देव
७. श्री प्रवचनसार जी टीका	श्री अमृतचन्द्र आचार्य देव
८. श्री समयसार जी टीका	श्री जयसेनाचार्य देव
९. श्री प्रवचनसार जी टीका	श्री जयसेन आचार्य देव
१०. श्री नियमसार जी टीका	श्री पद्मप्रभमलधारी देव
११. श्री बृहद्द्रव्यसंग्रह	श्री नेमीचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती
१२. श्री आलाप पद्धति	श्री देवसेन आचार्य
१३. श्री पद्मनंदी पंचविंशतिका	श्री पद्मनंदी आचार्य देव
१४. श्री परमात्मप्रकाश	श्री योगीन्दुदेव
१५. श्री योगसार	श्री योगीन्दुदेव
१६. श्री तत्वानुशासन	श्री रामसेन आचार्य देव
१७. श्री इष्टोपदेश	श्री पूज्यपादस्वामी
१८. श्री समाधितंत्र	श्री पूज्यपादस्वामी
१९. श्री योगसार प्राभृत	श्री अमितगति आचार्य देव
२०. श्री न्यायदीपिका	श्री महभिनव धर्मभूषण जी
२१. श्री पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध	पं श्री राजमल जी
२२. श्री पंचाध्यायी उत्तरार्ध	पं श्री राजमल जी
२३. श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक	पं. श्री टोडरमल जी

ग्रंथ	ग्रंथकार
२४. श्री रहस्यपूर्ण चिट्ठी	पं. श्री टोडरमल जी
२५. श्री परमार्थ वचनिका	पं. श्री बनारसीदास जी
२६. श्री समयसार जी कलश टीका	पं. श्री राजमल जी
२७. श्री ज्ञानानंद श्रावकाचार	ब्र. श्री रायमल जी
२८. श्री समयसार-भावार्थ	पं. श्री जयचंद्र जी छावडा
२९. श्री समयसार-भावार्थ	ब्र. श्री शीतल प्रसाद जी
३०. श्री रत्नकरंडश्रावकाचार टीका	प. श्री सदासुख दास जी
३१ श्री समाधितंत्र टीका	श्री प्रभाचंद्र जी
३२ श्री पंचाध्यायी-भावार्थ	पं. श्री मक्खनलाल जी
३३ श्री पंचाध्यायी-भावार्थ	पं. श्री फूलचंद्र जी सिद्धांतशास्त्री
३४ श्री पंचाध्यायी-भावार्थ	पं. देवकीनंदन जी
३५ श्री आत्मसिद्दी शास्त्र और पद	श्रीमद् राजचंद्र जी
३६. श्री ज्ञायकभाव गुजराती	पू. गुरुदेव श्री कान्जी स्वामी के प्रवचन
३७ श्री परमागमसार गुजराती	पू. गुरुदेव श्री कान्जी स्वामी के प्रवचन
३८ श्री अध्यात्मप्रवचनरत्नत्रय गुजराती	पू. गुरुदेष श्री कान्जी स्वामी के प्रवचन
३९ श्री आत्मधर्म गुजराती	पू. गुरुदेव श्री कान्जी स्वामी के प्रवचन
४०. श्री प्रवचनरत्नाकर भाग भाग १ से ११ गुजराती	पू. गुरुदेव श्री कान्जी स्वामी के प्रवचन
४१ श्री अध्यात्म प्रणेता गुजराती	पू गुरुदेव श्री कान्जी स्वामी के प्रवचन
४२. श्री ज्ञानगोष्ठी गुजराती	पू. गुरुदेव श्री कान्जी स्वामी के प्रवचन
४३. श्री अलिंगग्रहण पुस्तक गुजराती	पू. गुरुदेव श्री कान्जी स्वामी के प्रवचन
४४. श्री अलिंगग्रहण प्रवचन कैसेट	पू. गुरुदेव श्री कान्जी स्वामी के प्रवचन
४५. श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद गुजराती	पू. गुरुदेव श्री कान्जी स्वामी के प्रवचन
४६. श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश	श्री निहालचंद्र भाई सोगानी
४७. श्री बहेन श्री के वचनामृत	पू. बेन श्री बेन चंपाबेन

ॐ

पू. भाई श्री लालचन्द्र भाई जी के हृदयोद्गार

अननकाल से इस जीव को इन्द्रियज्ञान (अज्ञान) प्रकट हो रहा है। यद्यपि वास्तव मे नो इसको सामान्य उपयोग प्रकट हो रहा है; कि जिसमें इसका अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा जानने में आ रहा है, फिर भी इसका लक्ष परपदार्थों के ऊपर होने से, द्रव्येन्द्रियो के अवलम्बन से इसे भावेन्द्रिय अर्थात इन्द्रियज्ञान प्रकट हो जाना है! और यह इन्द्रियज्ञान जिसको जानना है उसमे अहम कर लेता है—मेरेपने की बुद्धि कर लेता है क्योकि जान हुए का श्रद्धान हो जाना है। इन्द्रियज्ञान से पर को जानते ही पर में मेरापना नियम से होना है। इसलिए इन्द्रियज्ञान ही वास्नव मे मोह की उत्पत्ति का मूल कारण है अथवा ससार की उत्पत्ति का मूल कारण है—ऐसा सन्न फरमाते है।

इन्द्रियज्ञान जिसको जानना है उससे एकत्व करता है, उससे विभक्त करने की नाकन उसमे नही है क्योकि इन्द्रियज्ञान एकात पर प्रकाशक है। इन्द्रियज्ञान द्वारा आत्मा का अनुभव नही होता इसलिए इन्द्रियज्ञान हेय है। जब नक इन्द्रियज्ञान का जीव अनर्मुख होकर नही जीनना नब नक ज्ञेयज्ञायक का संकरदोष नही मिटना।

वास्नव म ना आत्मा जाननहार है और इस जाननहार आत्मा को ही जाने वही वास्नव मे ज्ञान है। आत्मा ही ज्ञाना है और आत्मा ही ज्ञेय है—ऐसा भूलकर मै ज्ञाता हूँ और ये परपदार्थ मेरे ज्ञेय हैं—ऐसे अभिप्राय मे मिथ्यात्व उत्पन्न होना है भ्रांनि होनी है अध्यवसान होना है। इसलिए संतो ने इन्द्रियज्ञान के निषेध द्वारा अनीन्द्रिय ज्ञानमयी आत्मा

की उपलब्धि कराने का उपदेश दिया है। क्योंकि वास्तव में इन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञानमयी आत्मा इन दोनों के बीच में ही भेदज्ञान है, भेदज्ञान की शुरूआत ही यहाँ से होती है!

मैं पर को जानता हूँ इसे भ्रांति कहा, इसे अध्यवसान भी कहा (२७० गाथा श्री समयसार) क्योंकि वास्तव में आत्मा पर को नहीं जानता, और जो पर को जानता है वह आत्मा नहीं है, वह तो इन्द्रियज्ञान है। और मैं पर को जानता हूँ—ऐसा मानें तो उसे इन्द्रियज्ञान में "मैं पना" हो गया, इसलिए यह मिथ्यात्व है। इसीलिए इन्द्रियज्ञान को जीतना बहुत जरूरी है।

इन्द्रियज्ञान को कैसे जीतें ?

मैं पर को जानता ही नहीं हूँ... मुझे तो—जाननहार ही जानने में आता है। तब ही इन्द्रियज्ञान का व्यापार क्षणभर के लिए रुक जाता है और एक नवीन जात्यांतरज्ञान, अतीन्द्रिय ज्ञान, आत्मज्ञान, अखण्ड ज्ञान, विकल्परहितज्ञान, नयातिक्रान्त रूप—सम्यक्ज्ञान प्रकट होता है—कि जिसमें आत्मा का स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष दर्शन होता है। अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। इसलिए आत्मार्थी को आत्मा को अनुभवने के लिए, आत्मानुभव में एकमात्र बाधक कारण—ऐसे इन्द्रियज्ञान का निषेध करना बहुत जरूरी है। पर को जानने के निषेध में तो इन्द्रियज्ञान का निषेध होता है, ज्ञान का नहीं! ज्ञान तो वास्तव में इसमें प्रकट होता है। क्योंकि अज्ञान का निषेध किए बिना ज्ञान प्रकट नहीं हो सकता।

श्री समयसार जी की गाथा ३१ में केवली भगवान की प्रथम स्तुति—निश्चय स्तुति, मोह को जीतने से होती है—ऐसा कहा है! और

मोह, इन्द्रियज्ञान को जीतने से ही जीता जाता है ! इन्द्रियज्ञान को जीत लो तो मोह को जीत लोगे—ऐसी जितेन्द्रिय जिन की व्याख्या चतुर्थ गुणस्थान में लागू पड़ती है ! इन्द्रियज्ञान आत्मा से सर्वथा भिन्न है, कथंचित् भिन्न-अभिन्न नहीं है। परन्तु अतीन्द्रियज्ञान तो आत्मा से कथंचित् भिन्न अभिन्न है और इन्द्रियज्ञान तो आत्मा से सर्वथा भिन्न है। क्योंकि इन्द्रियज्ञान ज्ञेयतत्व है, ज्ञानतत्व नहीं है ! यदि इन्द्रियज्ञान, ज्ञान होवे तो उसमें आत्मा का अनुभव होना चाहिए परन्तु उसमें आत्मा का अनुभव नहीं होता इसलिए वह ज्ञान नहीं है; परन्तु परज्ञेय है और आत्मा से सर्वथा भिन्न है !

श्री प्रवचनसार जी गाथा १७२ में अलिंगग्रहण के २० बोल हैं। उसमें से प्रथम के दो बोल बहुत ही महत्त्व के हैं !

(१) यह आत्मा इन्द्रियज्ञान के द्वारा पर को जानता ही नहीं है—ऐसा करने से इसे अतीन्द्रिय—ज्ञानमयी आत्मा की उपलब्धि अर्थात प्राप्ति होती है—ऐसा इसका एक अर्थ है।

(२) इन्द्रियज्ञान के द्वारा आत्मा जानने में नहीं आता है।

इस प्रकार इन्द्रियज्ञान के द्वारा आत्मा जानता नहीं है और इन्द्रियज्ञान के द्वारा आत्मा जानने में आना भी नहीं है, इसलिए इन्द्रियज्ञान हेय है।

अभी, जब तक इन्द्रियज्ञान में उपादेय बुद्धि है तब तक कर्त्ता बुद्धि है। यदि इन्द्रियज्ञान के साथ एकता है तो सम्पूर्ण विश्व के साथ एकता है। क्योंकि इन्द्रियज्ञान का विषय सम्पूर्ण विश्व है। पाँच इन्द्रिय और छट्ठा मन कि जो धर्म, अधर्म, आकश और काल द्रव्य को भी ग्रहण करता है

(जानना है) ! इसलिए—इन्द्रियज्ञान का झुकाव हमेशा ज्ञेय सन्मुख ही रहना है, परज्ञेय सन्मुख ही इन्द्रियज्ञान का उपयोग जाता है। अभी जब तक परज्ञेय के सन्मुख रहना है तब तक स्वज्ञेय से विमुख रहता है। इस प्रकार आत्मा से भावेन्द्रिय हमेशा विमुख ही रहती है। इसलिए इन भावेन्द्रियों को जीतने से ही एक नया अनीन्द्रिय ज्ञान प्रकट होता है कि जिसमें आत्मा का अनुभव होता है। फिर जब तक केवलज्ञान प्रकट नहीं होगा तब तक इन्द्रियज्ञान संयोगपणे रहेगा—परन्तु इस इन्द्रियज्ञान का साधक हेयरूप जानता है अब उपादेयपणे नहीं जानता। इन्द्रियज्ञान आश्रय करने की अपेक्षा तो हेय है परन्तु प्रकट करने की अपेक्षा भी हेय है जबकि अनीन्द्रिय ज्ञान आश्रय करने की अपेक्षा तो हेय है परन्तु प्रकट करने की अपेक्षा उपादेय है !

इस प्रकार के विचार आये और इस पुस्तक का जन्म हुआ। इस पुस्तक में से मुमुक्षु समाज को इन्द्रियज्ञान और अनीन्द्रिय ज्ञान के बीच में भेदज्ञान होने का उत्कृष्ट उपाय मिलेगा और आत्मा का अनुभव होगा।

यहाँ एक प्रश्न यह हो सकता है कि पाँच इन्द्रियाँ तो अकेले मूर्त्त पदार्थ को जानती हैं इसलिए ये तो हेय हैं परन्तु भावमन कि जो रूपी-अरूपी दोनों को जानता है—यह हेय कैसे हो सकता है ?

भावमन में भेदज्ञान के समय शुद्धात्मा का जो स्वरूप है वह उपादेय तत्त्व है उसका निर्णय करने की ताकत तो है इसीलिए तो संज्ञी पंचेन्द्रिय सम्यक्त्व को पाते हैं यह बात सत्य है क्योंकि मन वाला प्राणी हिताहित का विचार करके जो उपादेय तत्त्व है उसे अनुमान में ले सकता है, फिर भी मन द्वारा आत्मा अनुभव में नहीं आता... अतः मन पावे विश्राम. . अनुभव याको नाम ! इसलिए भावमन हेय है। क्योंकि भावमन में विकल्प उत्पन्न होता है—नयों के विकल्प कि जो विकल्प आकुलतामयी

है—इसलिए भावमन को भी जीतने जैसा है!

"कर इन्द्रिय जय ज्ञानस्वभाव रु अधिक जाने आत्म को"—इसमें भावमन भी आ गया! यही बात आत्मख्याति टीका गाथा १४४ में ली है। "पर की प्रसिद्धि करने वाली इन्द्रियों को मर्यादा में लाकर..."

यहाँ दूसरा प्रश्न यह भी होता है कि इन्द्रियज्ञान को सर्वथा हेय कहोगे तो फिर इन्द्रियज्ञान के द्वारा प्रतिमा का दर्शन और इन्द्रियज्ञान के द्वारा शास्त्रस्वाध्याय उसका क्या होगा?

आत्मार्थी जीव को प्रतिमा का दर्शन भी रहेगा और शास्त्र स्वाध्याय भी रहेगा लेकिन इन्द्रियज्ञान को वह अन्दर से हेयपने जानेगा जिससे उस इन्द्रियज्ञान की प्रवृत्ति चालू रहने पर भी इसकी श्रद्धा में यह उपादेयपने नहीं रहेगा। इसी कारण एक समय ऐसा आयेगा कि वह इन्द्रियज्ञान से भेदज्ञान करके अन्दर में चला जायेगा!

अनुभव से पहले इस प्रकार का व्यवहार रहेगा और अनुभव होने के बाद भी ऐसा व्यवहार रहेगा परन्तु श्रद्धा में से यह शल्य निकल जायेगा कि—इन्द्रियज्ञान मेरा है! पहले इन्द्रियज्ञान को ज्ञान तरीके मानता था लेकिन अभी परज्ञेयपणे जानेगा। प्रथम इन्द्रियज्ञान का नाश नहीं होता परन्तु इन्द्रियज्ञान में जो ज्ञान की भ्रांति होती थी—उसका नाश होता है। प्रथम से ही इन्द्रियज्ञान, ज्ञान है ही नहीं। वो है तो ज्ञेय ही, ज्ञान बिल्कुल नहीं है क्योंकि—

(१) आत्मा का अनुभव इन्द्रियज्ञान में नहीं होता इसलिए वह प्रथम से ही ज्ञान नहीं है।—यह एक न्याय है।

(२) इन्द्रियज्ञान पराश्रित है, द्रव्येन्द्रिय का अवलम्बन लेकर ही

प्रवृत्ति करता है—इसलिए यह पराधीन है।

(३) आकुलता को उत्पन्न करने वाला है।

(४)भगवान ने इन्द्रियज्ञान को मूर्तिक कहा है, पौदगलिक कहा है हेय कहा है, परज्ञेय कहा है!

अभी एक भ्रांति जीवों को रह जाती है कि थोड़ा शास्त्र स्वाध्याय के बाद ऐसा भासने लगता है कि पहले हमको ज्ञान नहीं था अथवा कम ज्ञान था लेकिन अभी तो (शास्त्र स्वाध्याय के बाद) ज्ञान बढ गया है। वास्तव में देखो तो उसे अभी ज्ञान प्रकट ही नहीं हुआ है तो बढने की बात ही कहाँ रही? "ज्ञान" तो उसे कहते हैं कि जो आत्माश्रित होता है, अतीन्द्रिय, अंतर्मुखी होता है कि जिसमें अविनाभावपने आनन्द का स्वाद आता है उसे भगवान ज्ञान कहते हैं। जिसमें आनन्द का स्वाद नहीं आता और जिसमें एकांत आकुलता ही होती है वह वास्तव में ज्ञान नहीं परन्तु अज्ञान है। इन्द्रियज्ञान वास्तव में अज्ञान है क्योंकि इसमें आत्मा का अनुभव नहीं होता इसलिए यह अज्ञान है।

ऐसी भ्रांति और ज्ञान का मद टल जावे और आत्मलाभ हो जावे—इस हेतु से यह पुस्तक प्रकाशित हुई है।

सामान्य लोग पुण्य से धर्म मानते हैं और विद्वतजन शास्त्रज्ञान को ज्ञान मानते हैं। परन्तु शास्त्रज्ञान वो ज्ञान ही नहीं है। पू. गुरुदेव श्री ने श्री समयसार जी गाथा ३९० से ४०४ गाथा के प्रवचन में (प्रवचनरत्नाकर, भाग १०) तो यहाँ तक कहा है कि शास्त्र के लक्ष वाला ज्ञान जड़ और अचेतन है। उसको जड़ और अचेतन कहने का कारण यह है कि उसमें आत्मा जानने में नहीं आता, अनुभव में नहीं आता इसलिए जैसे राग में

आत्मा जानने में नहीं आता वैसे ही परसत्तावलम्बनशील ज्ञान में भी आत्मा जानने में नहीं आता—इसलिए यह बंध का कारण है, मोक्ष का कारण नहीं होता। स्वसत्तावलम्बनशील ज्ञान ही मोक्ष का मार्ग है और मोक्ष का कारण है।

इन्द्रियज्ञान से भेदज्ञान की बात बहुत ही सूक्ष्म और अतिविरल है। जिनागम मे शरीर से, कर्म से, रागादिक से भेदज्ञान की बात तो जगह-जगह आती है परन्तु—इन सबसे एकत्व करने वाला मूल में तो इन्द्रियज्ञान है—कि **जिससे** भेदज्ञान की बात तो कहीं-कहीं आती है। इसलिए अनेक शास्त्रों में जहाँ-जहाँ इन्द्रियज्ञान के सम्बन्ध में उल्लेख आये हैं उनका संकलनरूप यदि एक पुस्तक तैयार होवे तो समाज के मुमुक्षु जीवों का वहाँ ध्यान जावे !—ऐसा भाव मुझे बहुत रहता था ! आज मुझ बहुत खुशी—प्रसन्नता है कि यह पुस्तक तैयार हो गयी है—जो पात्र जीवो का आत्मलाभ मे निमित्त बनेगी !

'इन्द्रियज्ञान.. ज्ञान नही है' इस सम्बन्धी आचार्यों के, संतों के और ज्ञानियो के आगमों मे वचनामृतरूपी मणि-रत्न, हीरा-मोती अलग-अलग बिखरे हुए थे। उनको एक धागा (डोरा) रूपी ग्रंथ में पिरो दिया है, संकलित किया है। जो एक सुन्दर कंठहार की तरह शोभा को प्राप्त हुआ है। इस '**इन्द्रियज्ञान... ज्ञान नहीं है**' संकलनरूपी कंठहार को जो अपने हृदय में अवधारण करेगा वह मुक्तिसुन्दरी को अवश्यमेव वरेगा।

ॐ

मंगलाचरण

★ **नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।**
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे।।१।।

★ जो सकल इन्द्रियो के समूह से उत्पन्न होने वाले कोलाहल से विमुक्त है जो नय और अनय के समूह से दूर होने पर भी योगियो को गोचर है, जो सदा शिवमय है उत्कृष्ट है और जो अज्ञानियो को परमदूर है, ऐसा यह अनघ-चैतन्यमय सहजतत्व अत्यन्त जयवन्त है।।२।।

(श्री नियमसार जी श्रीपद्मप्रभमलधारी देव कलश-१५६)

★ जो अक्षय अन्तरग गुणमणियो का समूह है जिसने सदा विशद-विशद (अत्यन्त निर्मल) शुद्धभावरूपी अमृत के समुद्र मे पापकलंक को धो डाला है तथा जिसने इन्द्रिय समूह के कोलाहल को नष्ट कर दिया है, वह शुद्ध आत्मा ज्ञानज्योति द्वारा अन्धकार दशा का नाश करके अत्यन्त प्रकाशमान होता है।।३।।

(श्री नियमसार जी श्री पद्मप्रभमलधारी देव कलश-१६३)

★ यमियो को (संयमियो को) आत्मज्ञान से क्रमशः आत्मलब्धि (आत्मा की प्राप्ति) होती है—कि जिस आत्मलब्धि ने ज्ञानज्योति द्वारा इन्द्रिय समूह के घोर अन्धकार का नाश किया है तथा जो आत्मलब्धि कर्मवन से उत्पन्न (भवरूपी) दावानल की शिखाजाल का (शिखाओं के समूह का) नाश करने के लिए उस पर सतत शमजलमयी धारा को तेजी से छोडती है—बरसाती है।।४।।

(श्री नियमसार जी, श्री पद्मप्रभमलधारी देव, कलश-१८६)

★ **जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।**
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू।।३१।।

कर इन्द्रिय जय ज्ञान स्वभाव रु अधिक जाने आत्म को।
निश्चयविषैं स्थित साधुजन, भाषैं जितेन्द्रिय उन्हीं को।।३१।।

गाथार्थ : जो इन्द्रियों को जीतकर ज्ञान स्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा को जानते हैं उन्हें, जो निश्चयनय में स्थित साधु हैं वे, वास्तव में जितेन्द्रिय कहते हैं।

टीका : (जो मुनि द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को—तीनों को अपने से अलग करके समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करते हैं वे मुनि निश्चय से जितेन्द्रिय हैं।) अनादि अमर्यादरूप बंध पर्याय के वश जिसमें समस्त स्व-पर का विभाग अस्त हो गया है (अर्थात जो आत्मा के साथ ऐसी एकमेक हो रही है कि भेद दिखाई नहीं देता।) ऐसी शरीर परिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियों को तो निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त अंतरंग में प्रकट अति सूक्ष्म चैतन्य स्वभाव के अवलम्बन के बल से सर्वथा अपने से अलग किया; सो द्रव्येन्द्रियों को जीतना हुआ। भिन्न-भिन्न अपने-अपने विषयों में व्यापार भाव से जो विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं (ज्ञान को खण्ड-खण्ड रूप बतलाती हैं)ऐसी भावेन्द्रियों के, प्रतीति में आती हुई अखण्ड एक चैतन्य शक्ति द्वारा **सर्वथा अपने से भिन्न जाना**; सो यह भावेन्द्रियों का जीतना हुआ। ग्राह्यग्राहक लक्षण वाले सम्बन्ध की निकटता के कारण जो अपने संवेदन (अनुभव) के साथ परस्पर एक जैसी हुई दिखाई देती हैं ऐसी, भावेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये हुए इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्शादि पदार्थों को, अपनी चैतन्य शक्ति की स्वयमेव अनुभव में आनेवाली असंगता के द्वारा **सर्वथा अपने से अलग किया**; सो यह इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का जीतना

हुआ। इस प्रकार जो (मुनि) द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को (तीनों को) जीतकर ज्ञेयज्ञायक संकर नामक दोष आता था सो सब दूर होने से एकत्व में टंकोत्कीर्ण और ज्ञानस्वभाव के द्वारा सर्व अन्य द्रव्यों से परमार्थ से भिन्न ऐसे अपने आत्मा का अनुभव करते हैं वे निश्चय से जितेन्द्रिय जिन है (ज्ञान स्वभाव अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है इसलिये उसके द्वारा आत्मा सबसे अधिक, भिन्न ही है।) कैसा है वह ज्ञान स्वभाव ? विश्व के (समस्त पदार्थों के) ऊपर तैरता हुआ (उन्हें जानता हुआ भी उन रूप न होता हुआ) प्रत्यक्ष उद्योतपने से सदा अंतरंग में प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वतःसिद्ध और परमार्थरूप—ऐसा भगवान ज्ञान स्वभाव है। इस प्रकार एक निश्चय स्तुति तो यह हुई।

(ज्ञेय तो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का और ज्ञायकस्वरूप स्वयं आत्मा का—दोनों का अनुभव, विषयों की आसक्ति से, एक सा होता था; जब भेदज्ञान से भिन्नत्व ज्ञात किया तब वह ज्ञेय ज्ञायक-संकरदोष दूर हुआ ऐसा यहां जानना)।।५।।

(श्री समयसार जी, गाथा-३१)

★

नमः समयसाराय

★ शुद्ध जीव के **सारपना** घटता है। सार अर्थात् हितकारी, असार अर्थात् अहितकारी। सो हितकारी सुख जानना, अहितकारी दुख जानना। कारण कि अजीव पदार्थ पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, कालके और संसारी जीव के सुख नहीं, ज्ञान भी नहीं, और उनका स्वरूप जानने पर जाननहारे जीव को भी सुख नहीं, ज्ञान भी नहीं, इसलिए इनके सारपना घटता नहीं। शुद्ध जीव के सुख है, ज्ञान भी है, उसको जानने पर—अनुभवने पर जाननहारे को सुख है, ज्ञान भी है, इसलिए शुद्ध जीव के सारपना घटता है।।१।।

(पांडे राजमल जी कृत श्री समयसार कलश टीका, कलश-१)

★ **योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि**
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्
ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ।।८-२७१।।

खण्डान्वय सहित अर्थ—भावार्थ इस प्रकार है कि ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध के ऊपर बहुत भ्रान्ति चलती है सो कोई ऐसा समझेगा कि जीव वस्तु ज्ञायक, पुद्गल से लेकर भिन्न रूप छह द्रव्य ज्ञेय हैं। सो ऐसा तो नहीं है। जैसा इस समय कहते हैं उस प्रकार है—''अहं अयं यः ज्ञानमात्रः भावः अस्मि'' (अहं) मैं (अयं यः) जो कोई (ज्ञानमात्रः भावः अस्मि) चेतना सर्वस्व ऐसा वस्तु स्वरूप हूँ ''सः ज्ञेयः न एव'' वह मैं ज्ञेयरूप हूँ परन्तु ऐसा ज्ञेयरूप नहीं हूँ। कैसा ज्ञेयरूप नहीं हूँ—''ज्ञेयः ज्ञानमात्रः'' (ज्ञेयः) अपने जीव से भिन्न छह द्रव्यों के समूह का (ज्ञानमात्रः) जानपना मात्र। भावार्थ इस प्रकार है कि मैं ज्ञायक समस्त छह द्रव्य मेरे ज्ञेय ऐसा तो नहीं

है। तो कैसा है ? ऐसा है—"ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ज्ञेयः" (ज्ञान) जानपनारूप शक्ति (ज्ञेय) जानने योग्य शक्ति (ज्ञातृ) अनेक शक्ति विराजमान वस्तु मात्र ऐसे तीन भेद (मद्वस्तुमात्रः) मेरा स्वरूप मात्र है (ज्ञेयः) ऐसा ज्ञेयरूप हूँ। भावार्थ इस प्रकार है कि मैं अपने स्वरूप को वेद्य-वेदकरूप से जानता हूँ, इसलिए मेरा नाम ज्ञान, यतः मैं आप द्वारा जानने योग्य हूँ, इसलिए मेरा नाम ज्ञेय, यतः ऐसी दो शक्तियों से लेकर अनन्त शक्तिरूप हूँ, इसलिए मेरा नाम ज्ञाता। ऐसा नामभेद है, वस्तुभेद नहीं है। कैसा हूँ ? "ज्ञानज्ञेयकल्लोलवल्गन्" (ज्ञान) जीव ज्ञायक है (ज्ञेय) जीव ज्ञेयरूप है ऐसा जो (कल्लोल) वचनभेद उससे (वल्गन्) भेद को प्राप्त होता हूँ। भावार्थ इस प्रकार है कि वचन का भेद है, वस्तु का भेद नहीं है।।२।।

(पांडे राजमल जी, श्री समयसार कलश टीका, कलश-२७१)

★ **वैषयिक ज्ञान सर्व पौद्गलिक है**

ज्ञानं वैषयिकं पुंसः सर्वं पौदगलिकं मतम्।
विषयेभ्यः परावृत्तमात्मीयमपरं पुनः।।७६।।

जीव को जितना वैषयिक (इन्द्रियजनित) ज्ञान है वह सब पौद्गलिक मानने में आया है और दूसरा जो ज्ञान विषयों से परावृत है—इन्द्रियों की सहायता से रहित है वह सब आत्मीय है।।३।।

(श्री अमितगतिआचार्य, योगसार प्राभृत चूलिकाअधिकार गाथा-७६)

★ इस आत्मा को अनादि से इन्द्रिय ज्ञान है; उससे स्वयं अमूर्तिक है वह तो भासित नहीं होता, परन्तु शरीर मूर्तिक है वही भासित होता है। और आत्मा किसी को आपरूप जानकर अहंबुद्धि धारण करे ही करे, सो जब स्वय पृथक् भासित नहीं होता तब उनके समुदायरूप पर्याय में ही अहं बुद्धि

धारण करता है।।४।।

(श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ८१)

★ **भिन्न ज्ञानोपलब्धि से देह और आत्मा का भेद**

देहात्मनोः सदा भेदो भिन्नज्ञानोपलम्भतः।
इन्द्रियैर्ज्ञायते देहो नूनमात्मा स्वसंविदा।।४८।।

भिन्न-भिन्न ज्ञानों से उपलब्ध होने के कारण शरीर और आत्मा का सदा परस्पर भेद है। शरीर, इन्द्रियों से—इन्द्रिय ज्ञान से जानने में आता है, आत्मा वास्तव में स्वसंवेदन ज्ञान से जानने में आता है।।५।।
(श्री अमितगति आचार्य, योगसार प्राभृत, चूलिका अधिकार, श्लोक ४८)

★ एक इच्छा तो विषय ग्रहण की है, उससे यह देखना जानना चाहता है। जैसे—वर्ण देखने की, राग सुनने की, अव्यक्त को जानने की इत्यादि इच्छा होती है। वहाँ अन्य कोई पीड़ा नहीं है, परन्तु जब तक देखता जानता नहीं है तब तक महा व्याकुल होता है। इस इच्छा का नाम विषय है।।६।।

(श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ७०)

★ वहाँ ज्ञान-दर्शन की प्रवृत्ति इन्द्रिय-मन के द्वारा होती है, इसलिये यह मानता है कि यह त्वचा, जीभ, नासिका, नेत्र, कान, मन मेरे अंग हैं। इनके द्वारा मैं देखता-जानता हूँ; ऐसी मान्यता से इन्द्रियों में प्रीति पायी जाती है।

तथा मोह के आवेश से उन इन्द्रियों के द्वारा विषय ग्रहण करने की इच्छा होती है। और उन विषयों का ग्रहण होने पर उस इच्छा के मिटने पर निराकुल होता है तब आनन्द मानता है। जैसे कुत्ता हड्डी चबाता है उससे अपना लोहू निकले उसका स्वाद लेकर ऐसा मानता है कि यह हड्डियों का स्वाद है। उसी प्रकार यह जीव विषयों को जानता है,उससे अपना ज्ञान

प्रवर्तता है, उसका स्वाद लेकर ऐसा मानता है कि यह विषय का स्वाद है। सो विषयों में तो स्वाद है नहीं ! स्वयं ही इच्छा की थी, उसे स्वयं ही जानकर स्वयं ही आनन्द मान लिया; परन्तु मैं अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ—ऐसा नि: केवल ज्ञान का तो अनुभवन है नहीं। तथा मैंने नृत्य देखा, राग सुना, फूल सूंघे (पदार्थ का स्वाद लिया, पदार्थ का स्पर्श किया) शास्त्र जाना, मुझे यह जानना;— इस प्रकार ज्ञेय मिश्रित ज्ञान का अनुभवन है उससे विषयों की ही प्रधानता भासित होती है। इस प्रकार इस जीव को मोह के निमित्त से विषयों की इच्छा पाई जाती है।।७।।

(श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ४६)

★ इस प्रकार ज्ञानावरण-दर्शनावरण के क्षयोपशम से हुआ इन्द्रियजनित ज्ञान है वह मिथ्यादर्शनादि के निमित्त से इच्छासहित होकर दु:ख का कारण हुआ है।।८।।

(श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक, तीसरा अधिकार, पृष्ठ ४७)

★ अपना दर्शन-ज्ञान स्वभाव है, उसकी प्रवृत्ति को निमित्तमात्र शरीर के अंगरूप स्पर्शनादि द्रव्यइन्द्रियां हैं; यह उन्हें एक मानकर ऐसा मानता है कि हाथ आदि से मैंने स्पर्श किया, जीभ से स्वाद लिया, नासिका से सूंघा, नेत्र से देखा, कानों से सुना। मनोवर्गणारूप आठ पंखुड़ियों के फूले कमल के आकार का हृदय स्थान में द्रव्यमन है, वह दृष्टिगम्य नहीं ऐसा है, सो शरीर का अंग है; उसके निमित्त होने पर स्मरणादिरूप ज्ञान की प्रवृत्ति होती है। यह द्रव्यमन को और ज्ञान को एक मानकर ऐसा मानता है कि मैंने मन से जाना।।९।।

(श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक, चौथा अधिकार, पृष्ठ ८०)

★ श्री प्रवचनसार में ऐसा लिखा है कि—आगम ज्ञान ऐसा हुआ जिसके द्वारा सर्वपदार्थों को हस्तामलकवत् जानता है। यह भी जानता है कि इनका

अज्ञानी जीव की मान्यता
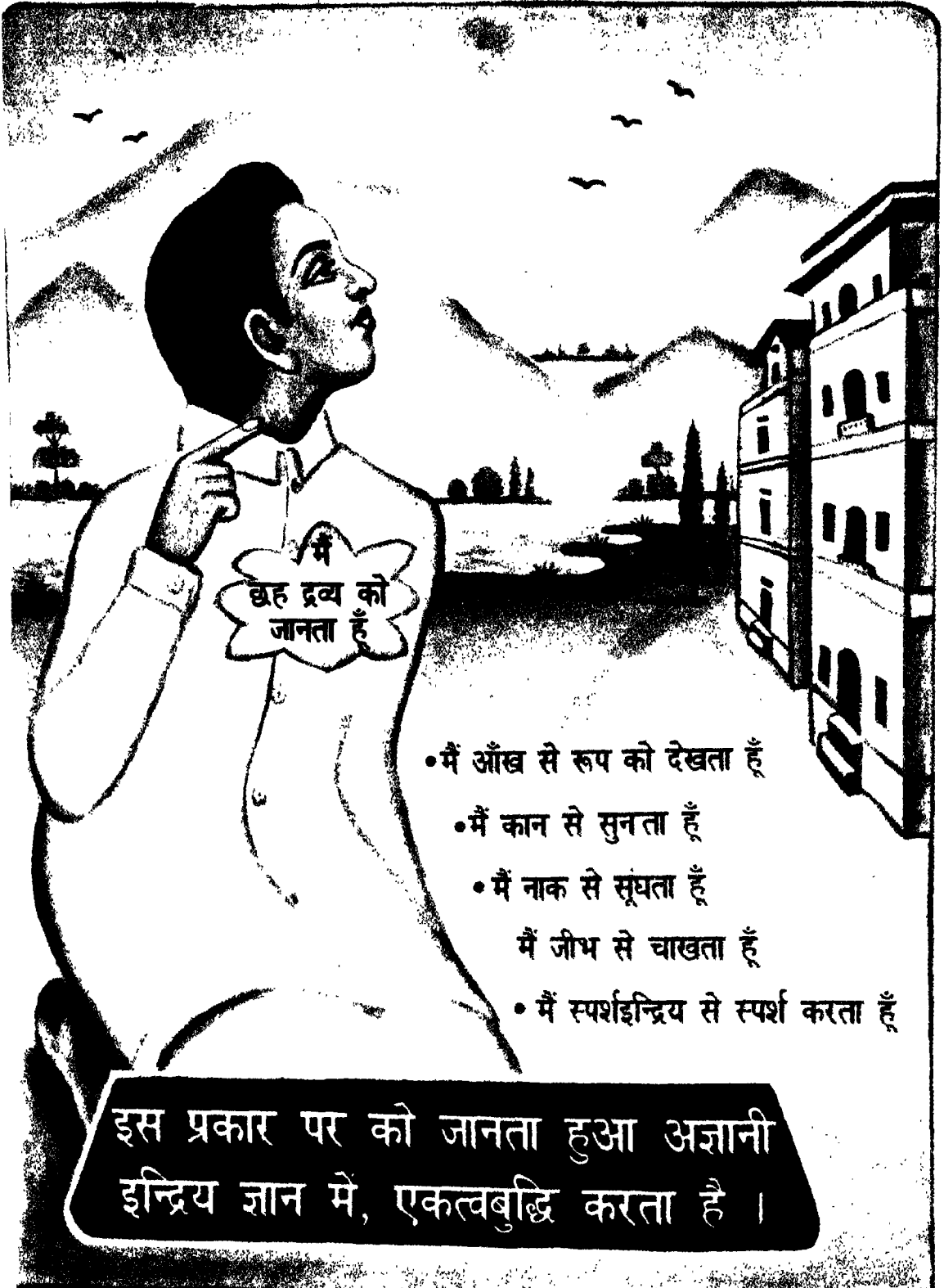
ज्ञानी जीव की मान्यता

- मैं कान से नहीं सुनता हूँ
- मैं नाक से नहीं सूंघता हूँ
- मैं जीभ से नहीं चाखता हूँ
- मैं स्पर्शइन्द्रिय से स्पर्श नहीं करता हूँ

मैं छह द्रव्य को नहीं जानता हूँ

इस प्रकार पर को नहीं जानता हुआ, केवल जाननहार आत्मा को ही अंतरंग में जानता हुआ, इन्द्रियज्ञान से भेदज्ञान करके ज्ञानी अतीन्द्रिय ज्ञानमय होता हुआ जितेन्द्रिय जिन है ।

जाननेवाला मैं हूँ; परन्तु मैं ज्ञानस्वरूप हूँ—इस प्रकार स्वयं को परद्रव्य से भिन्न केवल चैतन्य द्रव्य अनुभव नहीं करता। इसलिये आत्मज्ञान शून्य आगमज्ञान भी कार्यकारी नहीं है। इस प्रकार यह सम्यग्ज्ञान के अर्थ जैन शास्त्रों का अभ्यास करता है, तथापि इसके सम्यग्ज्ञान नहीं है।।१०।।

(श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक, सातवां अधिकार, पृष्ठ २३७)

★ तथा जो ज्ञान पाँच इन्द्रियों व छठवें मन के द्वारा प्रवर्तता था, वह ज्ञान सब ओर से सिमटकर इस निर्विकल्प अनुभव में केवल स्वरूपसन्मुख हुआ। क्योंकि वह ज्ञान क्षयोपशमरूप है। इसलिये एक काल में एक ज्ञेय ही को जानता है, वह ज्ञानस्वरूप जानने को प्रवर्तित हुआ तब अन्य का जानना सहज ही रह गया। वहाँ ऐसी दशा हुई कि बाह्य अनेक शब्दादिक विकार हों तो भी स्वरूप ध्यानी को कुछ खबर नहीं—इस प्रकार मतिज्ञान भी स्वरूपसन्मुख हुआ। तथा नयादिके के विचार मिटने पर श्रुतज्ञान भी स्वरूपसन्मुख हुआ।

ऐसा वर्णन समयसार की टीका आत्मख्याति में है तथा आत्मावलोकनादि में है। इसलिये निर्विकल्प अनुभव को अतीन्द्रिय कहते हैं। क्योंकि इन्द्रियों का धर्म तो यह है कि स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्दों को जानें, वह यहाँ नहीं है; और मन का धर्म यह है कि अनेक विकल्प करे, वह भी यहाँ नहीं है; इसलिये यद्यपि जो ज्ञान इन्द्रिय-मन में प्रवर्तता था वही ज्ञान अब अनुभव में प्रवर्तता है तथापि इस ज्ञान को अतीन्द्रिय कहते हैं।।११।।

(श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक, रहस्यपूर्ण चिट्ठी, पृष्ठ ३४३)

★ परन्तु विशेष इतना कि (ये सर्व आत्मा में) किसी प्रकार का ज्ञान ऐसा नहीं होता कि परसतावलंवनशील होकर मोक्षमार्ग साक्षात् कहे, क्योंकि अवस्था (दशा) के प्रमाण में परसत्तवलंबक है (परन्तु उसको वह मोक्षमार्ग नहीं कहता) वह आत्मा परसत्तावलंबी ज्ञान को परमार्थता नहीं कहता।

जो ज्ञान हो वह स्वसत्तावलंबनशील होता है उसका नाम ज्ञान है।।१२।।

(श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक, परमार्थ वचनिका, पृष्ठ ३५५)

★ **भावार्थ :**—भगवान समस्त पदार्थों को जानते हैं, मात्र इसलिये ही वे 'केवली' नहीं कहलाते, किन्तु केवल अर्थात् शुद्ध आत्मा को जानने—अनुभव करने से 'केवली' कहलाते हैं। केवल (शुद्ध) आत्मा को जानने—अनुभव करने वाला श्रुतज्ञानी भी 'श्रुतकेवली' कहलाता है। इसलिये अधिक जानने की इच्छा का क्षोभ छोडकर स्वरूप में ही निश्चल रहना योग्य है। यही केवल ज्ञान प्राप्ति का उपाय है।।१३।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा-३३ का भावार्थ)

★ (सूत्र की ज्ञप्ति' कहने पर निश्चय से ज्ञप्ति कहीं पौद्गलिक सूत्र की नही, किन्तु आत्मा की है; सूत्र ज्ञप्ति का स्वरूप भूत नहीं, किन्तु विशेष वस्तु अर्थात् उपाधि है; क्योंकि सूत्र न हो तो वहाँ भी ज्ञप्ति तो होती ही है। इसलिये यदि सूत्र को न गिना जाय तो 'ज्ञप्ति' ही शेष रहती है।) और वह (ज्ञप्ति) केवली और श्रुतकेवली के आत्मानुभवन में समान ही है। इसलिये ज्ञान में श्रुत-उपाधिकृत भेद नहीं है।।१४।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा-३४ टीका में से)

★ **भावार्थ :**—ज्ञेय पदार्थ रूप से परिणमन करना अर्थात् यह हरा है, यह पीला है, इत्यादि विकल्प रूप से ज्ञेयरूप पदार्थों में परिणमन करना वह कर्म का भोगना है, ज्ञान का नहीं। निर्विकार सहज आनन्द में लीन रहकर सहज रूप से जानते रहना वह ही ज्ञान का स्वरूप है; ज्ञेय पदार्थों में रुकना—उनके सन्मुख वृत्ति होना, वह ज्ञान का स्वरूप नहीं है।।१५।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा-४२ भावार्थ)

★ **भावार्थ :**—कर्म के तीन भेद किये गये हैं—प्राप्य, विकार्य और

निर्वर्त्य। केवली भगवान के प्राप्य कर्म, विकार्य कर्म और निर्वर्त्य कर्म ज्ञान ही है, क्योंकि वे ज्ञान को ही ग्रहण करते है, ज्ञान रूप ही परिणमित होते हैं और ज्ञान रूप ही उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार ज्ञान ही उनका कर्म, और ज्ञप्ति ही उनकी क्रिया है। ऐसा होने से केवली भगवान के बन्ध नहीं होता, क्योंकि ज्ञप्ति क्रिया बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु ज्ञेयार्थपरिणमन क्रिया अर्थात् ज्ञेय पदार्थों के सन्मुख वृत्ति होना (ज्ञेय पदार्थों के प्रति परिणमित होना) वह बन्ध का कारण है।।१६।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा-५२ भावार्थ)

★ **अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु।**
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं।।५३।।

अस्त्यमूर्तं मूर्तमतीन्द्रियमैन्द्रियं चार्थेषु।
ज्ञानं च तथा सौख्यं यत्तेषु परं च तत् ज्ञेयम्।।५३।।

अर्थों का ज्ञान अमूर्त, मूर्त, अतीन्द्रिय अरु इन्द्रिय है।
है सुख भी ऐसा ही, वहाँ प्रधान जो वह ग्राह्य है।।५३।।

टीका :—यहाँ, (ज्ञान तथा सुख दो प्रकार का है-) एक ज्ञान तथा सुख मूर्त और इन्द्रियज है; और दूसरा (ज्ञान तथा सुख) अमूर्त और अतीन्द्रिय है। उसमें जो अमूर्त और अतीन्द्रिय है वह प्रधान होने से उपादेय रूप जानना।)।।१७।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा-५३ टीका में से, पूरी टीका देखो)

★ **भावार्थ :** इन्द्रियज्ञान इन्द्रियों के निमित्त से मूर्त स्थूल इन्द्रिय गोचर पदार्थों का ही क्षायोपशमिक ज्ञान के अनुसार जान सकता है। परोक्ष भूत इन्द्रिय ज्ञान इन्द्रिय, प्रकाश, आदि बाह्य सामग्री को ढूँढ़ने की व्यग्रता के कारण अतिशय चंचल-क्षुब्ध है। अल्पशक्तिवान होने से खेद खिन्न है, परपदार्थों को परिणमित कराने का अभिप्राय होने पर भी पद पद पर ठगा

जाता है (क्योंकि पर पदार्थ आत्मा के अधीन परिणमित नहीं होते) इसलिये परमार्थ से वह ज्ञान 'अज्ञान' नाम के ही योग्य है। इसलिये वह हेय है।।१८।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा-५५ भावार्थ)

★ **उत्थानिका**—आगे त्यागने योग्य इन्द्रिय सुख का कारण होने से तथा अल्प विषय के जानने की शक्ति होने से इन्द्रिय-ज्ञान त्यागने योग्य है ऐसा उपदेश करते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जीवो सयं अमुत्तो)** जीव स्वयं अमूर्तिक है अर्थात् शक्ति रूप से व शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से अमूर्तिक अतीन्द्रिय ज्ञान और सुखमई स्वभाव को रखता है तथा अनादिकाल से कर्म बन्ध के कारण से व्यवहार में **(मुत्तिगदो)** मूर्तिक शरीर में प्राप्त है व मूर्तिमान शरीरों द्वारा मूर्तिक सा होकर परिणमन करता है **(तेण मुत्तिणा)** उस मूर्त शरीर के द्वारा अर्थात् उस मूर्तिक शरीर के आधार में उत्पन्न जो मूर्तिक द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय, उनके आधार से **(जोग्गं मुत्तं)** योग्य मूर्तिक वस्तु को अर्थात् स्पर्शादि इन्द्रियों से ग्रहण योग्य मूर्तिक पदार्थ को **(ओगिण्हित्ता)** अवग्रह आदि से क्रम-क्रम से ग्रहण करके **(जाणदि)** जानता है अर्थात् अपने आवरण के क्षयोपशम के योग्य कुछ भी स्थूल पदार्थ को जानता है **(वा तण्ण जाणादि)** तथा उस मूर्तिक पदार्थ को नहीं भी जानता है, विशेष क्षयोपशम के न होने से सूक्ष्म या दूरवर्ती, व काल से प्रच्छन्न व भूत भावी काल के बहुत से मूर्तिक पदार्थों को नहीं जानता है।

यहाँ यह भावार्थ है कि इन्द्रिय ज्ञान यद्यपि व्यवहार से प्रत्यक्ष कहा जाता है तथापि निश्चय से केवल ज्ञान की अपेक्षा से परोक्ष ही है। परोक्ष होने से जितने अंश में वह सूक्ष्म पदार्थ को नहीं जानता है उतने अंश में जानने की इच्छा होते हुए न जान सकने से चित्त को खेद का कारण होता है

खेद ही दु:ख है इसलिये दु:खों को पैदा करने से इन्द्रिय ज्ञान त्यागने योग्य है।।१९।।

(श्री प्रवचनसार जी, श्री जयसेनाचार्य गाथा ५५ की टीका)

★ अब, इन्द्रियाँ मात्र अपने विषयों में भी युगपत् प्रवृत्त नहीं होतीं इसलिये **इन्द्रिय ज्ञान हेय ही है**, यह निश्चय करते हैं।।२०।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा-५६ का शीर्षक)

★ **टीका** :—मुख्य है ऐसा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा शब्द जो पुद्गल हैं वे इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होने योग्य (-ज्ञात होने योग्य) है। (किन्तु) इन्द्रियों के द्वारा वे भी युगपद् (एक साथ) ग्रहण नहीं होते (जानने में नहीं आते), क्योंकि क्षयोपशम की उस प्रकार की शक्ति नहीं है। इन्द्रियों के जो क्षयोपशम नाम की अन्तरंग ज्ञातृशक्ति है वह कौवे की आँख की पुतली की भाँति क्रमिक प्रवृत्ति वाली होने से अनेकत: प्रकाश के लिये (एक ही साथ अनेक विषयों को जानने के लिये) असमर्थ है, इसलिये द्रव्येन्द्रिय द्वारों के विद्यमान होने पर भी समस्त इन्द्रियों के विषयों का (विषयभूत पदार्थों का) ज्ञान एक ही साथ नहीं होता, क्योंकि इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष है।।२१।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा-५६ की टीका)

★ **टीका** :—जो केवल आत्मा के प्रति ही नियत हो वह (ज्ञान) वास्तव में प्रत्यक्ष है। जो भिन्न अस्तित्व वाली होने से परद्रव्यत्व को प्राप्त हुई हैं, और आत्मस्वभावत्व को किंचित्मात्र स्पर्श नहीं करतीं (आत्मस्वभावरूप किंचित्मात्र भी नहीं हैं) ऐसी इन्द्रियों के द्वारा वह (इन्द्रिय ज्ञान) उपलब्धि करके (ऐसी इन्द्रियों के निमित्त से पदार्थों को जानकर) उत्पन्न होता है, इसलिये वह (इन्द्रिय ज्ञान) आत्मा के लिये प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।।२२।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा-५७ की टीका)

★ **भावार्थ :**—जो सीधा आत्मा के द्वारा ही जानता है वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय-ज्ञान परद्रव्यरूप इन्द्रियों के द्वारा जानता है इसलिये वह प्रत्यक्ष नहीं है।।२३।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा-५७ भावार्थ)

★ परपदार्थों का हीनाधिक ज्ञान आत्मानुभव में प्रयोजनवान नहीं है। इसलिये पर द्रव्य के अधिक ज्ञान को करने की आकुलता छोड़कर आत्म अनुभव करने का अभ्यास कर, उसमें तेरा भला है।।२४।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा-३३ का भावार्थ,
प्रकाशक ब्र. लाडमल जैन, श्री महावीर जी, राजस्थान)

★ **भावार्थ :**—इन्द्रियों के साथ पदार्थ का (विषयी के साथ विषय का) सन्निकर्ष सम्बन्ध हो तभी (अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणारूप क्रम से) इन्द्रिय ज्ञान पदार्थ को जान सकता है। नष्ट और अनुत्पन्न पदार्थों के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष-सम्बन्ध न होने से इन्द्रिय ज्ञान उन्हें नहीं जान सकता। इसलिये इन्द्रिय ज्ञान हीन है, हेय है।।२५।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा-४० भावार्थ)

★ **टीका :**—इन्द्रिय ज्ञान उपदेश, अन्तःकरण और इन्द्रिय इत्यादि को विरूपकारणता से (ग्रहण करके) और उपलब्धि (क्षयोपशम), संस्कार इत्यादि को अंतरंग स्वरूपकारणता से ग्रहण करके प्रवृत्त होता है; और वह प्रवृत्त होता हुआ सप्रदेश को ही जानता है, क्योंकि वह स्थूल को जानने वाला है, अप्रदेश को नहीं जानता, (क्योंकि वह सूक्ष्म को जानने वाला नहीं है); वह मूर्त को ही जानता है, क्योंकि वैसे (मूर्तिक) विषय के साथ उसका सम्बन्ध है, वह अमूर्त को नहीं जानता (क्योंकि अमूर्तिक विषय के साथ इन्द्रिय ज्ञान का सम्बन्ध नहीं है); वह वर्तमान को ही जानता है क्योंकि विषय-विषयी के सन्निपात सद्‌भाव है, वह प्रवर्तित हो चुकने वाले को

और भविष्य में प्रवृत्त होने वाले को नहीं जानता (क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष का अभाव है)।।२६।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा-४१ की टीका)

★ **टीका** :—इन्द्रिय ज्ञान को उपलम्भक भी मूर्त है, और उपलभ्य भी मूर्त है। वह इन्द्रियज्ञान वाला जीव स्वयं अमूर्त होने पर भी मूर्त-पंचेन्द्रियात्मक शरीर को प्राप्त होता हुआ, ज्ञप्ति उत्पन्न करने में बल-धारण का निमित्त होने से जो उपलम्भक है ऐसे उस मूर्त (शरीर) के द्वारा मूर्त-स्पर्शादि प्रधान वस्तु को जो कि योग्य हो अर्थात् जो (इन्द्रियों के द्वारा) उपलभ्य हो उसे—अवग्रह करके, कदाचित् उससे ऊपर-ऊपर की शुद्धि के सद्भाव के कारण उसे जानता है और कदाचित् अवग्रह से ऊपर-ऊपर की शुद्धि के असद्भाव के कारण नहीं जानता, क्योंकि वह (इन्द्रिय ज्ञान) परोक्ष है। परोक्ष ज्ञान, चैतन्य सामान्य के साथ (आत्मा का) अनादिसिद्ध सम्बन्ध होने पर भी जो अति दृढ़तर अज्ञान रूप तमोग्रन्थि (अंधकार समूह) द्वारा आवृत हो गया है, ऐसा आत्मा पदार्थ को स्वयं जानने के लिये असमर्थ होने से उपात्त और अनुपात्त परपदार्थ रूप सामग्री को ढूंढने की व्यग्रता से अत्यन्त चंचल-तरल-अस्थिर वर्तता हुआ, अनन्तशक्ति से च्युत होने से अत्यन्त विक्लव वर्तता हुआ, महामोह-मल्ल के जीवित होने से पर परिणति का (पर को परिणमित करने का) अभिप्राय करने पर भी पद-पद पर ठगाता हुआ, **परमार्थतः अज्ञान में गिने जाने योग्य है; इसलिये वह हेय है**।।२७।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा-५५ टीका)

★ **भावार्थ** :—कौवे की दो आँखें होती हैं, किन्तु पुतली एक ही होती है। कौवे को जिस आँख से देखना हो उस आँख में पुतली आ जाती है; उस समय वह दूसरी आँख से नहीं देख सकता। ऐसा होने पर भी वह पुतली इतनी जल्दी दोनों आँखों में आती-जाती है कि लोगों को ऐसा मालूम होता

है कि दोनों आँखों में दो भिन्न-भिन्न पुतलियाँ हैं; किन्तु वास्तव में वह एक ही होती है। ऐसी ही दशा क्षायोपशमिक ज्ञान की है। द्रव्य-इन्द्रिय रूपी द्वार तो पांच हैं किन्तु क्षायोपशमिक ज्ञान एक समय एक इन्द्रिय द्वारा ही जाना जा सकता है; उस समय दूसरी इन्द्रियो के द्वारा कार्य नहीं होता। जब क्षायोपशमिक ज्ञान नेत्र के द्वारा वर्ण को देखने का कार्य करता है तब वह शब्द, गंध, रस या स्पर्श को नहीं जान सकता; अर्थात् जब उस ज्ञान का उपयोग नेत्र के द्वारा वर्ण के देखने में लगा होता है तब कान में कौन से शब्द पडते हैं या नाक मे कैसी गंध आती है, इत्यादि ख्याल नहीं रहता। यद्यपि ज्ञान का उपयोग एक विषय मे से दूसरे में अत्यन्त शीघ्रता से बदलता है, इसलिये स्थूल दृष्टि से देखने मे ऐसा लगता है कि मानों सभी विषय एक ही साथ ज्ञात होते हो, तथापि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर क्षायोपशमिक ज्ञान एक समय मे एक ही इन्द्रिय के द्वारा प्रवर्तमान होता हुआ स्पष्टतया भासित होता है। इस प्रकार इन्द्रियाँ अपने विषयो मे भी क्रमशः प्रवर्तमान होने से परोक्ष भूत इन्द्रियज्ञान हेय है।।२८।।

(श्री प्रवचनसार जी गाथा-५६ का भावार्थ)

★ ग्राहक (ज्ञायक) जिसके लिंगो के द्वारा अर्थात् इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण (जानना) नही होता वह अलिंग-ग्रहण है; इस प्रकार आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है इस अर्थ की प्राप्ति होती है।।२९।।

(श्री प्रवचनसार जी गाथा-१७२ अलिंगग्रहण बोल-१)

★ ग्राह्य (ज्ञेय) जिसका लिंगो के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होना वह अलिंग-ग्रहण है इस प्रकार आत्मा इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नही है इस अर्थ की प्राप्ति होती है।।३०।।

(श्री प्रवचनसार, जी, गाथा-१७२ अलिंगग्रहण बोल २)

★ **टीका** :—जो वास्तव मे ज्ञानात्मक आत्मारूप एक अग्र (विषय) को

नहीं भाता, वह अवश्य ज्ञेय भूत अन्य द्रव्य का आश्रय करता है, और उसका आश्रय करके, ज्ञानात्मक आत्मज्ञान से भ्रष्ट वह स्वयं अज्ञानी होता हुआ मोह करता है, राग करता है, अथवा द्वेष करता है; और ऐसा (मोही रागी अथवा द्वेषी) होता हुआ बन्ध को ही प्राप्त होता है, परन्तु मुक्त नहीं होता।

इससे अनेकाग्रता को मोक्षमार्गत्व सिद्ध नहीं होता।।३१।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा-२४३ टीका)

★ **टीका** :—जो ज्ञानात्मक आत्मारूप एक अग्र (विषय) को भाता है वह ज्ञेय भूत अन्य द्रव्य का आश्रय नहीं करता; और उसका आश्रय नहीं करके ज्ञानात्मक आत्मज्ञान से अभ्रष्ट वह स्वयमेव ज्ञानीभूत रहता हुआ मोह नहीं करता, राग नहीं करता, द्वेष नहीं करता, और ऐसा वर्तता हुआ (वह) मुक्त ही होता है, परन्तु बंधता नहीं है।

इससे एकाग्रता को ही मोक्षमार्गत्व सिद्ध होता है।।३२।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा २४४ टीका)

★ **अन्वयार्थ** :—[जीवः] जीव [येन भावेन] जिस भाव से [विषये आगतं] विषयागत पदार्थ को [पश्यति जानाति] देखता है और जानता है, [तेन एव] उसी से [रज्यति] उपरक्त होता है; [पुनः और (उसी से) [कर्म बध्यते] कर्म बँधता है;—[इति] ऐसा [उपदेशः] उपदेश है।।३३।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा १७६ का गाथार्थ)

★ **टीका** :—यह आत्मा साकार और निराकार प्रतिभासस्वरूप (ज्ञान और दर्शनस्वरूप) होने से प्रतिभास्य (प्रतिभासित होने योग्य) पदार्थ समूह को जिस मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप भाव से देखता है और जानता है, उसी से उपरक्त होता है। जो यह उपराग (विकार) है वह वास्तव में स्निग्धरूक्षत्वस्थानीय भावबन्ध है। और उसी से अवश्य पौद्गलिक कर्म

बँधता है। इस प्रकार यह द्रव्यबन्ध का निमित्त भावबन्ध है।।३४।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा १७६ टीका)

★ **अन्वयार्थ :**—[अहं] मैं [परेषां] दूसरों का [न भवामि] नहीं हूँ [परे मे न] पर मेरे नहीं है, [इह] इस लोक में [मम] मेरा [किंचित्] कुछ भी [न अस्ति] नहीं है,—[इति निश्चितः] ऐसा निश्चयवान् और [जितेन्द्रियः] जितेन्द्रिय होता हुआ [यथाजातरूपधरः] यथाजातरूपधर (सहजरूपधारी) [जातः] होता है।।३५।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा २०४ का गाथार्थ)

★ **टीका :**—और फिर तत्पश्चात् श्रामण्यार्थी यथाजातरूपधर होता है। वह इस प्रकार कि:—'प्रथम तो मैं किंचित्मात्र भी पर का नहीं हूँ, पर भी किंचित्मात्र मेरे नहीं हैं, क्योंकि समस्त द्रव्य तत्वतः पर के साथ समस्त सम्बन्धरहित हैं; इसलिये इस षड्द्रव्यात्मक लोक में आत्मा से अन्य कुछ भी मेरा नहीं है,'—इस प्रकार निश्चित मतिवाला (वर्तता हुआ) और परद्रव्यों के साथ स्व-स्वामि सम्बन्ध जिनका आधार है ऐसी इन्द्रियों और नो-इन्द्रियों के जय से जितेन्द्रिय होता हुआ वह (श्रामण्यार्थी) आत्मद्रव्य का यथानिष्पन्न शुद्ध रूप धारण करने से यथाजातरूपधर होता है।।३६।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा २०४ टीका)

★ भाव यह है कि मैं केवल ज्ञान और केवल दर्शन स्वभावरूप से ज्ञायक एक टंकोत्कीर्ण स्वभाव हूँ। ऐसा होता हुआ मेरा परद्रव्यों के साथ स्व-स्वामीपने आदि का कोई सम्बन्ध नहीं है। मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है, सो भी व्यवहारनय से है। निश्चय नय से यह ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध भी नहीं है।।३७।।

(श्री प्रवचनसार जी, श्री जयसेनाचार्य गाथा

२०० की टीका में से)

★ इस प्रकार आत्मद्रव्य कहा गया। अब उसकी प्राप्ति का प्रकार कहा जाता है:—

प्रथम तो, अनादि पौद्गलिक कर्म जिसका निमित्त है ऐसी मोहभावना के (मोह के अनुभव के) प्रभाव से आत्मपरिणति सदा चक्कर खाती है, इसलिये यह आत्मा समुद्र की भाँति अपने में ही क्षुब्ध होता हुआ क्रमश: प्रर्वतमान अनन्त ज्ञप्ति—व्यक्तियों से परिवर्तन को प्राप्त होता है, इसलिये ज्ञप्ति—व्यक्तियों के निमित्तरूप होने से जो ज्ञेयभूत हैं ऐसी बाह्य पदार्थ व्यक्तियों के प्रति उसकी मैत्री प्रवर्तती है, इसलिये आत्मविवेक शिथिल हुआ होने से अत्यन्त बहिर्मुख ऐसा वह पुन: पौद्गलिक कर्म के रचयिता—रागद्वेषद्वैतरूप परिणमित होता है और इसलिये उसके आत्मप्राप्ति दूर ही है। परन्तु अब जब यही आत्मा प्रचण्ड कर्मकाण्ड द्वारा अखण्ड ज्ञानकांड को प्रचण्ड करने से अनादि-पौद्गलिक-कर्मरचित मोह को वध्य-घातक के विभाग ज्ञानपूर्वक विभक्त करने से (स्वयं) केवल आत्म भावना के (आत्मानुभव के) प्रभाव से परिणति निश्चल की होने से समुद्र की भाँति अपने में ही अति निष्कंप रहता हुआ एक साथ ही अनन्त ज्ञप्ति व्यक्तियों में व्याप्त होकर अवकाश के अभाव के कारण सर्वथा विवर्तन (परिवर्तन) को प्राप्त नहीं होता, तब ज्ञप्ति व्यक्तियों के निमित्त रूप होने से जो ज्ञेयभूत हैं ऐसी बाह्य पदार्थ व्यक्तियों के प्रति उसे वास्तव में मैत्री प्रवर्तित नहीं होती और इसलिये आत्मविवेक सुप्रतिष्ठित (सुस्थित) हुवा होने से अत्यन्त अन्तर्मुख हुआ ऐसा यह आत्मा पौद्गलिक कर्मों के रचयिता-रागद्वेषद्वैतरूप परिणति से दूर हुआ पूर्व में अनुभव नहीं किये गये अपूर्व ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान् आत्मा को आत्यंतिक रूप से ही प्राप्त करता है। जगत भी ज्ञानानन्दात्मक परमात्मा को अवश्य प्राप्त करो।।३८।।

(श्री प्रवचनसार जी, कलश १९ के बाद की टीका, श्री अमृतचन्द्राचार्य)

★ अस्ति ज्ञानं यथा सौख्यमैन्द्रियं चाप्यतीन्द्रियम्।
आद्यं द्वयमनादेयं समादेयं परं द्वयम्।।२७७।

जैसे ज्ञान इन्द्रियजन्य और अतीन्द्रिय होता है, वैसे ही सुख भी इन्द्रियजन्य तथा अतीन्द्रिय होता है। उनमें से सम्यक् दृष्टि को पहले के दोनों अर्थात् इन्द्रियजन्य ज्ञान तथा इन्द्रियजन्य सुख उपादेय नहीं होते हैं किन्तु शेष के दोनों अर्थात् अतीन्द्रिय ज्ञान तथा अतीन्द्रिय सुख उपादेय होते हैं।।३९।।

(श्री पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, गाथा २७७)

★ इन्द्रियजन्य ज्ञान में दोष :—

नूनं यत्परतो ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामियत्।
व्याकुलं मोहसंपृक्तमर्थाद् दुःखमनर्थवत्।।२७८।।

निश्चय से जो ज्ञान इन्द्रियादि के अवलम्बन से होता है, और जो ज्ञान प्रत्येक अर्थ के प्रतिपरिणमनशील रहता है अर्थात् प्रत्येक अर्थ के अनुसार परिणामी होता है। वह ज्ञान व्याकुल और मोहमयी (मोह सहित) होता है। इसलिए वास्तव में वह दुःखरूप तथा निष्प्रयोजन के समान है।।४०।।

(श्री पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, गाथा २७८)

★ इन्द्रिय ज्ञान, परालंबी और प्रत्येक ज्ञेय अनुसार परिणमनशील होने से व्याकुल तथा मोह के सम्पर्क से सहित होता है। इसलिए वास्तव में वह इन्द्रियज्ञान दुःखरूप है। अतः वह कार्यकारी नहीं है।।४१।।

(श्री पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, गाथा २७८ का भावार्थ)

★ परनिमित्त से होने के कारण ज्ञान में (इन्द्रिय ज्ञान में) व्याकुलता पायी जाती है इसलिए ऐसे इन्द्रियजन्य ज्ञान में दुःखपना अच्छी तरह से सिद्ध होता है। क्योंकि जाने हुए पदार्थ अंश के सिवाय बाकी के ज्ञेय अंशों के

अज्ञात रहने से उनको जानने की आतुरतादि (इच्छा) देखी जाती है।।४२।।

(श्री पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, गाथा २७९)

★ परालम्बी और प्रत्यर्थपरिणामी होने से इन्द्रियजन्य ज्ञान में दुःखपना असिद्ध नहीं है। क्योंकि ज्ञात से शेष रहे हुए ज्ञेय के अंशों को जानने की आतुरता—अधीराई (जिज्ञासा) वगैरहा रहती है, इसलिए उस ज्ञान में व्याकुलता का सद्‌भाव सिद्ध होता है। और व्याकुलता के पाये जाने से उस ज्ञान में दुःखपना सिद्ध होता है। और दुःखपने के सद्‌भाव से उसमें अनुपादेयता की भी सिद्धि होती है। **वास्तव में तो मिथ्यादृष्टि को पर को जानने की रुचि होती है लेकिन स्व को जानने की रुचि होती ही नहीं है इसलिए वह दुःखी होता है।**।४३।।

(श्री पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, गाथा २७९ का भावार्थ गुजराती में से)

★ शेष अर्थों के जानने की इच्छा रखने वाला मन अज्ञान से व्याकुल रहता है। अर्थात् उन ज्ञातांशों से अतिरिक्त शेष अंशों के ज्ञान नहीं होने से व्याकुल रहता है। यह तो दूर रहो परन्तु जो पदार्थ हैं उनके विषय में उपयोगी होने वाला ज्ञान भी दुःखजनक ही होता है।।४४।।

(श्री पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, गाथा २८० गुजराती में से)

★ ज्ञात अंश से अतिरिक्त शेषार्थ (बांकी के अर्थ) को जानने की आतुरता—अधीराई, (जिज्ञासा) रहने से अज्ञानी का मन मात्र व्याकुल रहता है। इसका तो कहना ही क्या है!! अर्थात् वह तो निश्चय से व्याकुल है ही—दुःखरूप है ही। परन्तु जो पदार्थ हैं उनको जानने में उपयोगी होनेवाला इन्द्रियजन्य ज्ञान को भी दुःख रूप कहा जाता है।।४५।।

(श्री पंचध्यायी, उत्तरार्ध, गाथा २८० का भावार्थ गुजराती में से)

★ वह इन्द्रियजन्य ज्ञान मोह से युक्त होने के कारण प्रमत्त, अपनी उत्पत्ति में बहुत कारणों की अपेक्षा रखने से निकृष्ट, क्रमपूर्वक पदार्थों को विषय करने के कारण (जानने के कारण) व्युच्छिन्न तथा ईहा आदि पूर्वक ही होता होने से दुःखरूप कहलाता है।।४६।।

(श्री पंचध्यायी, उत्तरार्ध, गाथा २८१)

★ वह इन्द्रियज्ञान पराधीन (पर निमित्त से उत्पन्न) होने के कारण परोक्ष है, इन्द्रियों से पैदा होने के कारण आक्ष्य (इन्द्रियजन्य) है, और उसमें संशयादि दोषों के आने की संभावना होने से वह सदोष है।।४७।।

(श्री पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, गाथा २८२)

★ बन्ध का हेतु होने से विरुद्ध, बन्ध का कार्य होने से कर्मजन्य, आत्मा का धर्म न होने से अश्रेय और कलुषित होने से स्वयं अशुचि है।।४८।।

(श्री पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, गाथा २८३)

★ उस इन्द्रियज्ञान के निमित्त से बन्ध होता है इसलिए वह विरुद्ध है। पूर्वबद्ध कर्मों के सम्बन्ध को रखकर ही उसकी उत्पत्ति होती है इसलिए वह कर्मजन्य है। वास्तव में वह आत्मा का स्वभाव नहीं है इसलिए अश्रेय रूप है। और स्वयं ही कलुषित होने से वह अशुचि है।।४९।।

(श्री पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, गाथा २८३ का भावार्थ)

★ जैसे मृगी का रोग कभी बढ़ जाता है, कभी घट जाता है अथवा कभी बिल्कुल नहीं रहता है। वैसे ही यह इन्द्रियजन्य ज्ञान कभी कम, कभी अधिक और कभी-कभी अत्यन्त कम हो जाता है। इसलिए यह मूर्छित कहलाता है।।५०।।

(श्री पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, गाथा २८४ का भावार्थ)

★ इन्द्रियजन्य ज्ञान कैसा तुच्छ, अल्प, पराधीन और अत्राण (अशरण)

है वह गाथा २७८ से ३०६ तक में बताया है।।५१।।

(श्री पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, गाथा २८५ का भावार्थ गुजराती में से)

★ **इन्द्रिजन्य ज्ञान की दुर्बलता—**

वह इन्द्रियज्ञान छह द्रव्यों में से केवल मूर्त द्रव्य को ही विषय करता है, अन्य द्रव्यों को नहीं; तथा मूर्त द्रव्य में भी वह सूक्ष्म पुद्गलों को विषय नहीं करता है किन्तु केवल स्थूल पुद्गलों को ही विषय करता है। और स्थूल पुद्गलों में भी सब स्थूल पुद्गलों को विषय नहीं करता है किन्तु किन्हीं-किन्हीं स्थूल पुद्गलों को ही विषय करता है। तथा उन स्थूल पुद्गलों में भी इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य पुद्गलों को ही वह विषय करता है अग्राह्यों को नहीं।

तथा उन ग्राह्य पुद्गलों में भी वर्तमान काल सम्बन्धी पुद्गलों को ही विषय करता है, अतीत अनागत काल सम्बन्धी नहीं। और उन वर्तमान काल सम्बन्धी पुद्गलों में भी जिनका सन्निधानपूर्वक इन्द्रियों के साथ सन्निकर्ष होता है उनको ही विषय करता है, अन्य को नहीं, तथा उनमें भी अवग्रह, ईहा अवाय और धारणा के होने पर ही उनको अवग्रहादिक रूप से वह विषय करता है। और इन सब कारणों के रहने पर भी वह इन्द्रियज्ञान कदाचित् होता है, सदैव नहीं। तथा सामग्री के पूर्ण न होने पर तो वह बिलकुल नहीं होता है। इसलिए वह इन्द्रियज्ञान दिग्मात्र (अर्थात् दिखावा मात्र) है। (श्री प्रवचनसार गाथा ४२ की टीका में तो ऐसे ज्ञान को "ज्ञानमेव नास्तिज्ञान ही नहीं है" ऐसा श्री जयसेनाचार्य ने कहा है।)।।५२।।

(श्री पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, गाथा २८६ से २८९ का भावार्थ गुजराती में से)

★ इसलिए प्रकृत अर्थ यही है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान दिङ्‌ मात्र है अर्थात

नाममात्र के लिए ज्ञान है क्योंकि इसके विषयभूत सभी पदार्थों का दिङ्.मात्र (नाममात्र) रूप से ही (अल्पमात्र ही) ज्ञान होता है।।५३।।

(श्री पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, गाथा ३०३)

★ उन सब विषयों में से अपने-अपने विषयभूत एक-एक अर्थ को ही खण्डरूप विषय करने के कारण वह इन्द्रियज्ञान खण्डरूप है तथा क्रम-क्रम से केवल व्यस्तरूप (प्रकट रूप) पदार्थों में नियत विषय को ही जानता है। इसलिए वह इन्द्रियज्ञान प्रत्येक रूप भी है।।५४।।

(श्री पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, गाथा ३०४)

★ इन्द्रियजन्य ज्ञान, व्याकुलतादि अनेक दोषों के समावेश का स्थान है यह तो रहो अर्थात् वह ज्ञान उपर्युक्त व्याकुलता आदि दोषों का स्थान है यह बात तो निश्चित ही है। परन्तु उसके साथ तब तक वह ज्ञान प्रदेशचलनात्मक भी होता है।

जब तक निष्क्रिय आत्मा की कोई भी औदयिकी क्रिया होती है तथा वह प्रदेशों का हलन चलन भी कर्मोदयरूप उपाधि के बिना नहीं होता है।।५५।।

(श्री पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, गाथा ३०५-३०६)

★ इन्द्रियज्ञान, केवल व्याकुलतादि उक्त दोषों का स्थान ही नहीं है किन्तु जब तक निष्क्रिय अकंपस्वरूप आत्मा के कोई न कोई औदयिकी योग की क्रिया रहती है तब तक वह इन्द्रियज्ञान प्रदेशचलनात्मक भी रहता है। क्योंकि आत्मा के प्रदेशों का परिस्पंद कर्मोदयरूप उपाधि के बिना नहीं होता है।।५६।।

(श्री पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, गाथा ३०५-३०६ का भावार्थ गुजराती में से)

★ **(स्वानुभूत्या चकासते)** अपनी ही अनुभवनरूप-क्रिया से प्रकाश करता है, अर्थात् अपने को अपने से ही जानता है—प्रगट करता है। इस विशेषण से, आत्मा को तथा ज्ञान को सर्वथा परोक्ष ही मानने वाले—जैमिनीय-भट्ट-प्रभाकर के भेद वाले मीमांसकों के मत का खण्डन हो गया। तथा ज्ञान अन्य ज्ञान से जाना जा सकता है—स्वयं अपने को नहीं जानता, ऐसा मानने वाले नैयायिकों का भी प्रतिषेध हो गया।।५७।।

(श्री समयसार जी, कलश १, श्लोकार्थ में से)

★ और जैसे दाह्य (—जलने योग्य पदार्थ) के आकार होने से अग्नि को दहन कहते हैं तथापि उसके दाह्यकृत अशुद्धता नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञेयाकार होने से उस 'भाव' के ज्ञायकता प्रसिद्ध है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है; क्योंकि ज्ञेयकार अवस्था में जो ज्ञायक रूप से ज्ञात हुआ वह स्वरूप प्रकाशन की (स्वरूप को जानने की) अवस्था में भी दीपक की भांति, कर्त्ताकर्म का अनन्यत्व (एकता) होने से ज्ञायक ही है—स्वयं जानने वाला है इसलिए स्वयं कर्त्ता और अपने को जाना इसलिए स्वयं ही कर्म है।

(जैसे दीपक घटपटादि को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक है, और अपने को—अपनी ज्योति-रूप शिखा को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक ही है, अन्य कुछ नहीं; उसी प्रकार ज्ञायक का समझना चाहिए)।।५८।।

(श्री समयसार जी, गाथा ६ की टीका, दूसरा पैराग्राफ,
श्री अमृतचंद्राचार्य)

★ "ज्ञायक" ऐसा नाम भी उसे ज्ञेय को जानने से दिया जाता है; क्योंकि ज्ञेय का प्रतिबिम्ब जब झलकता है तब ज्ञान में वैसा ही अनुभव होता है। तथापि उसे ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है, क्योंकि जैसा ज्ञेय ज्ञान में प्रतिभासित हुआ वैसा ज्ञायक का ही अनुभव करने पर ज्ञायक ही है। 'यह

जो मैं जानने वाला हूं सो मैं ही हूं, अन्य कोई नहीं'—ऐसा अपने को अपना अभेदरूप अनुभव हुआ तब इस जाननेरूप क्रिया का कर्ता स्वयं ही है, और जिसे जाना वह कर्म भी स्वयं ही है।।५९।।

(श्री समयसार जी, गाथा ६ के भावार्थ में से,
पंडित श्री जयचन्द जी छावड़ा)

★ जो जीव निश्चय से श्रुतज्ञान के द्वारा इस अनुभव-गोचर केवल एक शुद्ध आत्मा को (अभिगच्छति) सम्मुख होकर जानता है, उसे लोक को प्रकट जानने वाले ऋषीश्वर श्रुतकेवली कहते हैं; जो जीव सर्व श्रुतज्ञान को जानता है उसे जिनदेव श्रुतकेवली कहते हैं, क्योंकि ज्ञान सब आत्मा ही है इसलिए (वह जीव) श्रुतकेवली है।।६०।।

(श्री समयसार जी, गाथा ९-१० का गाथार्थ, श्री कुंदकुंदाचार्य)

★ प्रथम, "जो श्रुत से केवल शुद्धात्मा को जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं" वह तो परमार्थ है; और "जो सर्वश्रुतज्ञान को जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं" यह व्यवहार है। यहाँ दो पक्ष लेकर परीक्षा करते हैं—उपरोक्त सर्वज्ञान आत्मा है या अनात्मा ? यदि अनात्मा का पक्ष लिया जाये तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि जो समस्त जड़रूप अनात्मा आकाशादि पाँच द्रव्य है, उनका ज्ञान के साथ तादात्म्य बनता ही नहीं (क्योंकि उनमें ज्ञान सिद्ध नहीं है।) इसलिए अन्य पक्ष का अभाव होने से 'ज्ञान आत्मा ही है' यह पक्ष सिद्ध हुआ। इसलिए श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है। ऐसा होने से 'जो आत्मा को जानता है, वह श्रुतकेवली है' ऐसा ही घटित होता है; और वह तो परमार्थ ही है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञानी के भेद से कहने वाला जो व्यवहार है उससे भी परमार्थ मात्र ही कहा जाता है, उससे भिन्न कुछ नहीं कहा जाता। और "जो श्रुत से केवल शुद्धात्मा को जानते हैं वे श्रुतकेवली है," इस प्रकार—परमार्थ का प्रतिपादन करना अशक्य होने से "जो सर्व श्रुतज्ञान को जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं" ऐसा व्यवहार

परमार्थ के प्रतिपादकत्व से अपने को दृढ़तापूर्वक स्थापित करता है।।६१।।

(श्री समयसार जी, गाथा ९-१० की टीका, श्री अमृतचंद्राचार्य)

★ जो शास्त्रज्ञान से अभेदरूप ज्ञायक मात्र शुद्धात्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है, यह तो परमार्थ (निश्चय कथन) है। और जो सर्वशास्त्र ज्ञान को जानता है उसने भी ज्ञान को जानने से आत्मा को ही जाना है, क्योंकि जो ज्ञान है वह आत्मा ही है; इसलिये ज्ञान-ज्ञानी के भेद को कहने वाला जो व्यवहार उसने भी परमार्थ ही कहा है, अन्य कुछ नहीं कहा। और परमार्थ का विषय तो कथंचित् वचनगोचर भी नहीं है, इसलिए व्यवहार नय आत्मा को प्रगट रूप से कहता है, ऐसा जानना चाहिए।।६२।।

(श्री समयसार जी, गाथा ९-१० का भावार्थ,
पंडित श्री जयचन्द जी छावड़ा)

★ परन्तु अब वहाँ, सामान्यज्ञान के आविर्भाव (प्रगटपना) और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान के तिरोभाव (आच्छादन) से जब ज्ञानमात्र का अनुभव किया जाता है तब ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है तथापि जो अज्ञानी हैं, ज्ञेयों में आसक्त हैं उन्हें वह स्वाद में नहीं आता।।६३।।

(श्री समयसार जी, गाथा १५ की टीका में से, श्री अमृतचंद्राचार्य)

★ दृष्टान्त :—जैसे अनेक प्रकार के शाकादि भोजनों के सम्बन्ध से उत्पन्न सामान्य लवण के—तिरोभाव और विशेष लवण के आविर्भाव से अनुभव में आने वाला जो (सामान्य के तिरोभाव रूप और शाकादि के स्वाद भेद से भेदरूप—विशेषरूप) लवण है उसका स्वाद अज्ञानी शाक लोलुप मनुष्यों को आता है किन्तु अन्य की सम्बन्ध रहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आने वाला जो एकाकार अभेदरूप लवण है उसका स्वाद नहीं आता; और परमार्थ से

देखा जाय तो, विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आने वाला (क्षाररसरूप) लवण ही सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आने वाला (क्षाररसरूप) लवण है। इस प्रकार अनेक प्रकार के ज्ञेयों के आकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के—तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आने वाला (विशेषभावरूप, भेदरूप, अनेकाकाररूप) ज्ञान वह अज्ञानी, ज्ञेय-लुब्ध जीवों के स्वाद में आता है, किन्तु अन्य ज्ञेयाकार की संयोग रहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आने वाला एकाकार अभेदरूप ज्ञान स्वाद में नहीं आता, और परमार्थ से विचार किया जाये तो, जो ज्ञान विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आता है वही ज्ञान सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है। अलुब्ध ज्ञानियों को तो, जैसे सैंधव की डली, अन्य द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल सैंधव का ही अनुभव किये जाने पर, सर्वतः एक क्षाररसत्व के कारण क्षार रूप से स्वाद में आती है उसी प्रकार आत्मा भी, परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल आत्मा का ही अनुभव किये जाने पर, सर्वतः एक विज्ञानघनता के कारण ज्ञान रूप से स्वाद में आता है।।६४।।

(श्री समयसार जी, गाथा १५ की टीका में से श्री अमृतचन्द्राचार्य)

★ यहाँ आत्मा की अनुभूति को ही ज्ञान की अनुभूति कहा गया है। अज्ञानी जन ज्ञेयों में ही—इन्द्रियज्ञान के विषयों में ही—लुब्ध हो रहे हैं; वे इन्द्रियज्ञान के विषयों से अनेकाकार हुए ज्ञान को ही ज्ञेयमात्र आस्वादन करते हैं परन्तु ज्ञेयों से भिन्न ज्ञानमात्र का आस्वादन नहीं करते। और जो ज्ञानी हैं, ज्ञेयों में आसक्त नहीं हैं वे ज्ञेयों से भिन्न एकाकार ज्ञान का ही आस्वादन लेते हैं,—जैसे शाकों से भिन्न नमक की डली का क्षारमात्र स्वाद आता है, उसी प्रकार आस्वाद लेते हैं, क्योंकि जो ज्ञान है सो आत्मा है और जो आत्मा है सो ज्ञान है। इस प्रकार गुण-गुणी की अभेद दृष्टि में

आने वाला सर्व परद्रव्यों से भिन्न, अपनी पर्यायों में एकरूप निश्चल, अपने गुणों में एकरूप, परनिमित्त से उत्पन्न हुए भावों से भिन्न अपने स्वरूप का अनुभव, ज्ञान का अनुभव है; और यह अनुभवन भावश्रुतज्ञान रूप जिनशासन का अनुभव है। शुद्धनय से इसमें कोई भेद नहीं है।।६५।।

(श्री समयसार जी, गाथा १५ का भावार्थ,
पं. श्री जयचंदजी छावड़ा)

★ अन्तरंग में अभ्यास करे—देखे तो यह आत्मा अपने अनुभवन से ही जानने योग्य जिसकी प्रकट महिमा है ऐसा व्यक्त (अनुभवगोचर) निश्चल, शाश्वत, नित्य कर्मकलंक-कर्दम से रहित स्वयं ऐसा स्तुति करने योग्य देव विराजमान है।।६६।

(श्री समयसार जी, कलश-१२ के श्लोकार्थ में से श्री अमृतचंद्राचार्य)

★ शुद्धनय की दृष्टि से देखा जाये तो सर्व कर्मों से रहित चैतन्यमात्रदेव अविनाशी आत्मा अंतरंग में स्वयं विराजमान हैं। यह प्राणी—पर्यायबुद्धि बहिरात्मा—उसे बाहर ढूंढ़ता है, यह महा अज्ञान है।।६७।।

(श्री समयसार जी, कलश-१२ का भावार्थ,
पं. श्री जयचन्द जी छावड़ा)

★ मोक्षार्थी पुरुष को पहले तो आत्मा को जानना चाहिये, और फिर उसी का श्रद्धान करना चाहिये कि 'यही आत्मा है, इसका आचरण करने से अवश्य कर्मों से छूटा जा सकेगा' और फिर उसी का अनुचरण करना चाहिये—अनुभव के द्वारा उसमें लीन होना चाहिए; क्योंकि साध्य जो निष्कर्म अवस्थारूप अभेद—शुद्धस्वरूप उसकी सिद्धि की इसी प्रकार उपपत्ति है, अन्यथा अनुपपत्ति है।।६८।।

(श्री समयसार जी, गाथा १७-१८ की टीका में से श्री अमृतचंद्राचार्य)

★ परन्तु जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा-आबाल गोपाल सबके अनुभव में सदा स्वयं ही आने पर भी अनादि बंध के वश पर (द्रव्यों) के साथ एकत्व से मूढ़ अज्ञानीजन को 'जो यह अनुभूति है वही मैं हूँ' ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता और उसके अभाव से, अज्ञान का-श्रद्धान गधे के सींग के समान है इसलिए, श्रद्धान भी उदित नहीं होता तब समस्त अन्य-भावों के भेद से आत्मा में निशंक स्थिर होने की असमर्थता के कारण आत्मा का आचरण उदित न होने से आत्मा को नहीं साध सकता। इस प्रकार साध्य आत्मा की सिद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति है।।६९।।

(श्री समयसार जी, गाथा १७-१८ की टीका में से, श्री अमृतचंद्राचार्य)

★ साध्य आत्मा की सिद्धि दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही है, अन्य प्रकार से नहीं। क्योंकि—पहले तो आत्मा को जाने कि यह जो जानने वाला अनुभव में आता है सो मैं हूँ। इसके बाद उसकी प्रतीतिरूप श्रद्धान होता है; क्योंकि जाने बिना किसका श्रद्धान करेगा ? तत्पश्चात् समस्त अन्य भावों से भेद करके अपने में स्थिर हो।—इस प्रकार सिद्धि होती है। किन्तु यदि जाने ही नहीं, तो श्रद्धान भी नहीं हो सकता; और ऐसी स्थिति में स्थिरता कहाँ करेगा ? इसलिये यह निश्चय है कि अन्य प्रकार से सिद्धि नहीं होती।।७०।।

(श्री समयसार जी, गाथा १७-१८ का भावार्थ,
पं. श्री जयचन्द जी छावड़ा)

★ उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।

किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाति भाति न द्वैतमेव।।९।।

आचार्य शुद्धनय का अनुभव करके कहते हैं कि—इन समस्त भेदों को गौण करने वाला जो शुद्धनय का विषयभूत चैतन्य-चमत्कार मात्र तेज:पुञ्ज आत्मा है, उसका अनुभव होने पर नयों की लक्ष्मी उदित नहीं होती, प्रमाण अस्त हो जाता है और **निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है सो हम नहीं जानते**। इससे अधिक क्या कहें ? द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होती।।७१।।

(श्री समयसार जी, कलश-९ का श्लोकार्थ, श्री अमृतचंद्राचार्य)

★ द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्गलद्रव्यों में अपनी कल्पना करना सो संकल्प है, और ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद ज्ञात होना सो विकल्प है।।७२।।

(श्री समयसार जी, कलश-१० के श्लोकार्थ में से)

★ आचार्य कहते हैं कि हमें वह उत्कृष्ट तेज-प्रकाश प्राप्त हो कि जो तेज सदाकाल चैतन्य के परिणमन से—परिपूर्ण है, जैसे नमक की डली एक क्षार रस की—लीला का आलम्बन करती है, उसी प्रकार जो तेज एक ज्ञानरसस्वरूप का आलम्बन करता है; जो तेज अखण्डित है—जो ज्ञेयों के आकाररूप खण्डित नहीं होता, जो अनाकुल है—जिसमें कर्मों के निमित्त से होने वाले रागादि से उत्पन्न आकुलता नहीं है, जो अविनाशी रूप से अंतरंग में और बाहर में प्रगट दैदीप्यमान है—जानने में आता है, जो स्वभाव से हुआ है—जिसे किसी ने नहीं रचा और सदा जिसका विलास उदय रूप है—जो एकरूप प्रतिभासमान है।।७३।।

(श्री समयसार जी, कलश-१४ श्लोकार्थ)

★ आचार्य देव ने प्रार्थना की है कि यह ज्ञानानंदमय एकाकार स्वरूप—ज्योति हमें सदा प्राप्त रहो।।७४।।

(श्री समयसार जी, कलश-१४ का भावार्थ,
पं. श्री जयचन्द जी छावड़ा)

★ जैसे रूपी दर्पण की स्वच्छता ही स्व-पर के आकार का प्रतिभास करने वाली है और उष्णता तथा ज्वाला अग्नि की है इसी प्रकार अरूपी आत्मा की तो अपने को और पर को जानने वाली ज्ञातृता ही है और कर्म तथा नोकर्म पुद्गल के है इस प्रकार स्वतः अथवा परोपदेश से जिसका मूल भेद विज्ञान है ऐसी अनुभूति उत्पन्न होगी तब ही (आत्मा) प्रतिबुद्ध होगा।।७५।।

(श्री समयसार जी, गाथा-१९ की टीका में से, श्री अमृतचंद्रचार्य)

★ अब, कोई तर्क करे कि आत्मा तो ज्ञान के साथ-तादात्म्य स्वरूप है, अलग नहीं है, इसलिए वह ज्ञान का नित्य सेवन करता है; तब फिर उसे ज्ञान की उपासना करने की शिक्षा क्यों दी जाती है ? उसका समाधान यह है :—ऐसा नहीं है। यद्यपि आत्मा ज्ञान के साथ तादात्म्य स्वरूप है, तथापि वह एक क्षण मात्र भी ज्ञान का सेवन नहीं करता; क्योंकि स्वयंबुद्धत्व (स्वयं स्वतः जानना) अथवा बोधितबुद्धत्व (दूसरों के बताने से जानना)—इन कारण पूर्वक ज्ञान की उत्पत्ति है। (या तो काललब्धि आये तब स्वयं ही जान ले अथवा कोई उपदेश देने वाला मिले तब जाने—जैसे सोया हुआ पुरुष या तो स्वयं ही जाग जाये अथवा कोई जगाये तब जागे।) यहाँ पुनः प्रश्न होता है कि यदि ऐसा है तो जानने के कारण से पूर्व क्या आत्मा अज्ञानी ही है क्योंकि उसे सदा अप्रतिबुद्धत्व है ? उसका उत्तर :—ऐसा ही है, वह अज्ञानी ही है।।७६।।

(श्री समयसार जी, कलश-२० के बाद की टीका, श्री अमृतचंद्राचार्य)

★ जैसे दर्पण में अग्नि की ज्वाला दिखाई देती है वहाँ यह ज्ञात होता है कि "ज्वाला तो अग्नि में ही है, वह दर्पण में प्रविष्ट नहीं है, और जो दर्पण में दिखाई दे रही है वह दर्पण की स्वच्छता ही है;" इसी प्रकार "कर्म-नोकर्म अपने आत्मा में प्रविष्ट नहीं है; आत्मा की ज्ञान-स्वच्छता ऐसी ही है कि जिसमें ज्ञेय का प्रतिबिम्ब दिखाई दे; इसी प्रकार कर्म-

नोकर्म ज्ञेय हैं इसलिये वे प्रतिभासित होते हैं''—ऐसा भेद ज्ञान रूप अनुभव आत्मा को या तो स्वयमेव हो अथवा उपदेश से हो तभी वह प्रतिबुद्ध होता है।।७७।।

(श्री समयसार जी, गाथा-१९ का भावार्थ, पं. श्री जयचंद जी छावड़ा)

★ **जे इन्द्रिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।**
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू।।३१।।

कर इन्द्रिजय ज्ञानस्वभाव रु, अधिक जाने आत्म को।
निश्चयविषैं स्थित साधु जन, भाषैं जितेन्द्रिय उन्हीं को।।३१।।

जो इन्द्रियों को जीतकर ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा को जानते हैं उन्हें, जो निश्चय नय में स्थित साधु हैं वे, वास्तव में जितेन्द्रिय कहते हैं।।७८।।

(श्री समयसार जी, गाथा ३१, श्रीमद् कुंदकुंदाचार्य)

★ (जो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को—तीनों को अपने से अलग करके समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करते हैं वे मुनि निश्चय से जितेन्द्रिय हैं।) अनादि अमर्यादरूप बंधपर्याय के वश जिसमें समस्त स्व-पर का विभाग अस्त हो गया है (अर्थात् जो आत्मा के साथ ऐसी एकमेक हो रही है कि भेद दिखाई नहीं देता) ऐसी शरीरपरिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियों को तो निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त अंतरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन के बल से सर्वथा अपने से अलग किया; सो वह द्रवेन्द्रियों को जीतना हुआ। भिन्न-भिन्न अपने-अपने विषयों में व्यापार भाव से जो विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती है (ज्ञान को खण्ड-खण्ड रूप बतलाती है) ऐसी भावेन्द्रियों को, प्रतीति में आती हुई अखण्ड एक चैतन्यशक्ति के द्वारा सर्वथा अपने से भिन्न जाना सो यह भावेन्द्रियों का

जीतना हुआ। ग्राह्य ग्राहक लक्षण वाले सम्बन्ध की निकटता के कारण जो अपने संवेदन (अनुभव) के साथ परस्पर एक जैसी हुई दिखाई देती हैं ऐसी, भावेन्द्रियों के—द्वारा ग्रहण किये हुवे, इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्शादि पदार्थों को अपनी चैतन्यशक्ति की स्वयमेव अनुभव में आने वाली असंगता के द्वारा सर्वथा अपने से अलग किया; सो यह इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का जीतना हुआ। इस प्रकार जो (मुनि) द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को (तीनों को) जीतकर ज्ञेयज्ञायक—संकर नामक दोष आता था सो सब दूर होने से एकत्व में टंकोत्कीर्ण और ज्ञानस्वभाव के द्वारा सर्व अन्य द्रव्यों से परमार्थ से भिन्न ऐसे अपने आत्मा का अनुभव करते हैं वे निश्चय से जितेन्द्रिय जिन हैं। (ज्ञान स्वभाव अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है इसलिये उसके द्वारा आत्मा सबसे अधिक भिन्न ही है।) कैसा है वह ज्ञानस्वभाव ? विश्व के (समस्त पदार्थों के) ऊपर तिरता हुआ (उन्हें जानता हुआ भी उन रूप न होता हुआ), प्रत्यक्ष उद्योतपने से सदा अंतरंग में प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वतःसिद्ध और परमार्थ रूप—ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है। इस प्रकार एक निश्चय स्तुति तो यह हुई।।७९।।

(श्री समयसार जी, गाथा ३१ टीका श्री अमृतचंद्राचार्य)

★ ज्ञेय तो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का और ज्ञायकस्वरूप स्वयं आत्मा का—दोनों का अनुभव, विषयों की आसक्ति से एकसा होता था; जब भेदज्ञान से भिन्नत्व ज्ञात किया तब वह ज्ञेयज्ञायक-संकरदोष दूर हुआ ऐसा यहाँ जानना।।८०।।

(श्री समयसार जी, गाथा ३१ का भावार्थ,
पं. श्री जयचन्द जी छावड़ा)

★ **अन्वयार्थ :**—यह भी नयाभास है कि ज्ञान और ज्ञेय का परस्पर

बोध्य-बोधक सम्बन्ध है जैसे कि ज्ञान, ज्ञेयगत है और ज्ञेय भी ज्ञानगत है।

भावार्थ :—ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध को लेकर ज्ञान को ज्ञेयगत कहना तथा ज्ञेय को ज्ञानगत कहना यह भी नयाभास है। इसका कारण :—

अन्वयार्थ :—जैसे आँख रूप को देखती है परन्तु वह आँख ही स्वयं रूप में चली नहीं जाती (प्रविष्ट नहीं हो जाती) उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेयों को जानता है तो भी वह ज्ञान ही स्वयं ज्ञेयों में चला नहीं जाता है (प्रविष्ट नहीं हो जाता है)।

भावार्थ :—जिस प्रकार आँख रूप को देखती है परन्तु इतने मात्र से आँख कहीं रूप में चली नहीं जाती, उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेयों को जानता है परन्तु इतने मात्र से यह ज्ञान कहीं ज्ञेयों में चला नहीं जाता है। इसलिये ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध को लेकर ज्ञान को ज्ञेयगत कहना यह नयाभास है। यहाँ ग्रंथकार ने ज्ञेय को ज्ञानगत कहने के सम्बन्ध में यद्यपि लिखा नहीं है तो भी ऐसा समझना कि जैसे ज्ञान ज्ञेयों में नहीं जाता (नहीं प्रविष्टता) वैसे ही ज्ञेय भी ज्ञान में नहीं आते (नहीं प्रविष्टते हैं)।।८१।।

(श्री पंचाध्यायी, पूर्वार्ध गाथा ५८५-५८६ का अर्थ-भावार्थ)

★ **अन्वयार्थ** :—जैसे अब 'अर्थविकल्पात्मक ज्ञान प्रमाण है' ऐसा जो कहने में आता है वह उपचरित सद्भूत व्यवहार नय का उदाहरण है। इसमें यहाँ स्व-पर समुदाय को 'अर्थ' कहते हैं तथा ज्ञान के स्व-परव्यवसायरूप होने को 'विकल्प' कहते हैं।

भावार्थ :—'अर्थ विकल्पो ज्ञानं प्रमाणं' अर्थात् पदार्थ के विकल्पात्मक ज्ञान को प्रमाण कहना यह उपचरित सद्भूत व्यवहार नय का उदाहरण है। अर्थ शब्द का अर्थ स्व-पर पदार्थ और विकल्प शब्द का

अर्थ तदाकार अथवा व्यवसायात्मक है, इसलिये अर्थविकल्प शब्द का अर्थ स्व-पर व्यवसायात्मक ज्ञान होता है। यह प्रमाण का लक्षण है। और इस प्रकार उपचरित सद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा से कहने में आता है।

अन्वयार्थ :—निश्चय से तत्व का स्वरूप केवल सत्‌रूप मानते हुए भी, निर्विकल्पता के कारण जो कि उक्त लक्षण ठीक नहीं है, तो भी अवलम्बन के बिना—निर्विषय (विषय रहित) ज्ञान के स्वरूप का कथन अशक्य है, इसलिये ज्ञान स्वरूप से ही सिद्ध (स्वरूप सिद्ध) होने से अनन्यशरण होने पर भी—निरालम्ब होने पर भी यहाँ पर वह ज्ञान—हेतुवश—कारणवशात् उपचरित होने पर उससे भिन्न शरण की भाँति मालूम पड़ता है, अर्थात् स्व-पर—व्यवसायात्मक प्रतीत होता है।

भावार्थ :—यद्यपि ज्ञान, निर्विकल्पात्मक है—केवल 'सत्' शब्द से प्रतिपादित हो सकता है, इसलिये ज्ञान को विकल्पात्मक कहना योग्य नहीं है क्योंकि ज्ञान तो केवल सदात्मक और कोई के आश्रित नहीं होने से केवल स्वरूप सिद्ध होने से निर्विकल्प रूप है, तो भी इस निर्विकल्प का स्वरूप किसी न किसी अवलम्बन के बिना कहना अशक्य है, इसलिये—युक्तिपूर्वक ज्ञेय का अवलम्बन लेकर उसे (ज्ञान को) 'स्व-परव्यवसायात्मक, अर्थविकल्पात्मक' इत्यादि शब्दों द्वारा कहा जाता है, और वह ज्ञेयाश्रित जैसा भासित (मालूम) होता है। ज्ञेयाश्रित कहना उपचार से है (उपचरित है)—इसलिये यह उपचरित, वास्तविक रूप होने से सद्भूत और गुण-गुणी भेद होने से व्यवहार, इस कारण इस नय को उपचरित सद्भूत व्यवहार नय कहते हैं।।८२।।

(श्री पंचाध्यायी, पूर्वार्ध, गाथा ५४१-५४२, ५४३, भावार्थ सहित)

★ **अन्वयार्थ :**—तथा विशेष में इतना है कि स्वानुभूति के काल मे

जितने प्रथम के यह मतिज्ञान-श्रुतज्ञान ये दो रहते हैं उतने वह सब साक्षात् प्रत्यक्ष की माफक प्रत्यक्ष हैं, अन्य अर्थात्—परोक्ष नहीं है।

भावार्थ :—तथा इन मति और श्रुतज्ञानों में भी इतनी विशेषता है कि—जिस समय इन दोनों में से किसी एक द्वारा स्वात्मानुभूति होती है उस समय ये दोनों ज्ञान भी अतीन्द्रिय स्वात्मा को प्रत्यक्ष करते हैं (जानते हैं) इसलिये ये दोनों ज्ञान भी स्वानुभूति के काल में प्रत्यक्ष रूप हैं, परोक्ष नहीं हैं।।८३।।

(श्री पंचाध्यायी, पूर्वार्ध, गाथा ७०६ का अर्थ और भावार्थ)

★ **अन्वयार्थ** :—स्पर्शादिक इन्द्रियों के विषयों को जानते समय और आकाश आदि द्रव्यों को जानते समय यह दोनों मति श्रुतज्ञान नियम से यहाँ परोक्ष होते हैं—प्रत्यक्ष नहीं।

भावार्थ :—परन्तु जिस समय यह दोनों ज्ञान—स्पर्शादिक विषयों को जानते हैं उस समय, तथा जिस समय आकाशादि अमूर्त्त पदार्थों को जानते हैं उस समय, यह दोनों ज्ञान नियम से परोक्ष ही है परन्तु स्वानुभूति के काल की माफक प्रत्यक्ष नहीं होते।

अन्वयार्थ :—यहाँ शंका होती है—शंकाकार कहता है कि यदि मति-श्रुतज्ञान स्वानुभूति के काल में प्रत्यक्ष है तो निश्चय से 'प्रथम के दो ज्ञान परोक्ष हैं' ऐसा सूत्र में निर्देश किस कारण किया है ? तथा परोक्ष लक्षण के योग से भी अर्थात् इनमें परोक्ष का लक्षण घटित होने से भी यह दोनों ज्ञान परोक्ष प्रतीत होते हैं।

भावार्थ :—शंकाकार कहता है कि यदि मति-श्रुतज्ञान, स्वानुभूनि के काल में प्रत्यक्ष होते हैं तो सूत्रकार ने 'आद्ये परोक्षं' इस सूत्र में उसको परोक्ष किसलिए कहा है ? अर्थात् यदि मति-श्रुतज्ञान स्वानुभूति के काल

में प्रत्यक्ष होते हों तो सूत्रकार भी उसका अलग—उल्लेख करते परन्तु किया नहीं है, इसलिये मति-श्रुतज्ञान को स्वानुभूति के काल में भी परोक्ष ही कहना चाहिए, प्रत्यक्ष नहीं, कारण कि इसको प्रत्यक्ष कहना सूत्र विरुद्ध होने से आगम से विरोध आता है, तथा पूर्व में गाथा ७००-७०१ में कहे अनुसार परोक्ष लक्षण घटता है, इसलिये भी उसे परोक्ष ही कहना चाहिए, प्रत्यक्ष नहीं। उसका समाधान :—

अन्वयार्थ :—ठीक है, क्योंकि विसंवाद रहित होने से वस्तु का विचार अतिशय रहित होता है इसलिये ये दोनों ज्ञान साधारण रूप से इस सूत्र के अनुसार परोक्ष हैं।

भावार्थ :—यदि कोई विसंवाद न रहता हो तो वस्तु का विचार निरतिशय होता है अर्थात् उसमें अतिशय का वर्णन सम्भव नहीं है। स्वात्मानुभूति के समय में मति-श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा का साक्षात्कार होने से उनके प्रत्यक्ष होने में कोई विसंवाद नहीं रहता है इसलिये उनको प्रत्यक्ष कहना योग्य ही है; परन्तु सूत्रकार ने इन दोनों ज्ञानों को जो परोक्ष कहा है उसमें इतनी ही अपेक्षा समझना कि साधारण रूप से इन दोनों ज्ञानों को परोक्ष कहा है परन्तु जब कोई भव्य जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है तब कोई एक अनिर्वचनीय शक्ति का प्रादुर्भाव होता है कि जिस शक्ति के सामर्थ्य से इन दोनों ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहा है।।८४।।

(श्री पंचाध्यायी, गाथा ७०७-७०८-७०९ अर्थ और भावार्थ सहित)

★ **अन्वयार्थ :**—तथा निश्चय से सम्यग्दृष्टि जीव के मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं रहने से कोई ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति प्रगट होती है जिसके द्वारा यह स्वात्म प्रत्यक्ष होता है।

भावार्थ :—सत्य पुरुषार्थ करते हुये जब जीव को सम्यग्दर्शन प्रगटता है तब मिथ्यात्व कर्म के उदय का स्वयं विनाश होता है, और ऐसी

दशा होने पर उस सम्यग्दृष्टि जीव के कोई ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति प्रगट होती है कि जिसकी सामर्थ्य से यह अनिर्वचनीय स्वात्म को प्रत्यक्ष कर लेता है अर्थात् सम्यग्दर्शन होने से मिथ्यात्व के अभाव के साथ-साथ ही स्वानुभूत्यावरण कर्म का क्षयोपशम होता है तब आत्मा की निज सामर्थ्य से आत्मा प्रत्यक्ष होता है इसलिये स्वानुभूति के समय में मति-श्रुतज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।

अन्वयार्थ :—इसका खुलासा इस प्रकार है कि—इस शुद्ध स्वानुभूति के समय में स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र यह पाँचों इन्द्रियां उपयोगी नहीं मानीं परन्तु वहाँ केवल मन ही उपयोग रूप माना गया है तथा निश्चय से निज के अर्थ की अपेक्षा से नोइन्द्रिय ही दूसरा नाम है जिसका ऐसा मन, द्रव्यमन और भावमन इस तरह दो प्रकार का है।

भावार्थ :—पूर्वोक्त कथन का खुलासा इस प्रकार है कि जिस समय सम्यग्दृष्टि स्वानुभूति करता है उस समय उसको पाँचों इन्द्रियों का उपयोग नहीं होता परन्तु केवल एक मन का ही उपयोग होता है, तथा यह मन, द्रव्यमन एवं भावमन इस प्रकार दो प्रकार का मानने में आया है। **सारांश यह है कि स्वानुभूति के समय में इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं होता है।।८५।।**

(श्री पंचाध्यायी, पूर्वार्ध गाथा ७१०-७११-७१२)

★ **अन्वयार्थ :**—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र यह पाँचों इन्द्रियां एक मूर्तिक पदार्थों के जानने वाली है तथा मन, मूर्तिक तथा अमूर्तिक दोनों पदार्थों को जानने वाला है।

अन्वयार्थ :—इसलिये यह कथन निर्दोष है कि—स्वात्मग्रहण में निश्चय से मन ही उपयोगी है परन्तु इतना विशेष है कि विशिष्ट दशा में यह मन स्वयं ही ज्ञानरूप हो जाता है।

भावार्थ :—इसलिये पूर्वोक्त कथन निर्दोष सिद्ध होता है कि स्वानुभूति के समय में अतीन्द्रिय आत्मा को प्रत्यक्ष जानने के लिये मात्र मन ही उपयोगी है तथा स्वानुभूति तत्परतारूप विशिष्ट अवस्था में यह मन ही ज्ञाता और ज्ञेय के विकल्पों से रहित होकर स्वयं ही ज्ञानमय हो जाता है इसलिये इस ज्ञान द्वारा ही सम्यग्दृष्टि जीव के अतीन्द्रिय आत्मा को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होना युक्तिसंगत है।।८६।।

(श्री पंचाध्यायी, पूर्वार्ध गाथा ७१५-७१६ अर्थ और भावार्थ)

★ **अन्वयार्थ** :—निश्चय से सूत्र में जो मतिज्ञान इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है तथा मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है, ऐसा जो कथन है वह कथन असिद्ध नहीं है।

अन्वयार्थ :—सारांश यह है कि निश्चय से भावमन, ज्ञान विशिष्ट होता हुआ स्वयं ही अमूर्त है इसलिये इस भावमन द्वारा होने वाला यह आत्मदर्शन अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष क्यो नहीं होवे ?

भावार्थ :—जो कदाचित् ऐसा कहने में आये कि—'मति-श्रुतात्मक भावमन स्वानुभूति के समय में प्रत्यक्ष होता है तो सूत्र मे जो मतिज्ञान को इन्द्रिय और अतीन्द्रिय से उत्पन्न होने से तथा श्रुतज्ञान के मतिज्ञानपूर्वक उत्पन्न होने से परोक्ष कहा है यह कथन असिद्ध हो जायेगा' तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि मतिश्रुतात्मक इस भावमन को स्वानुभूति के समय में प्रत्यक्ष कहने का ऐसा अभिप्राय है कि स्वानुभूति के समय में यह मतिश्रुतज्ञानात्मक भावमनरूप विशिष्ट दशा सम्पन्न हो जाता है। इसलिये भावमन द्वारा होने वाला अमूर्त आत्मदर्शन अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष क्यो ना हो ? अर्थात् अवश्य हो।

सारांश यह है कि—स्वात्मरस मे निमग्न होने वाला भावमन स्वयं ही अमूर्त होकर स्वानुभूति के समय में आत्म-प्रत्यक्ष करने वाला कहने में

आता है। जैसे श्रेणी चढ़ते समय ज्ञान की जो निर्विकल्प अवस्था है उस निर्विकल्प अवस्था में ध्यान की अवस्था सम्पन्न श्रुतज्ञान अथवा इस श्रुतज्ञान से पूर्व का मतिज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है, इसी प्रकार जो सम्यग्दृष्टि जीव चौथे गुण स्थान से लेकर सातवें गुण स्थान वर्ती है उसका मतिश्रुतज्ञानात्मक भावमन भी स्वानुभूति के समय में विशेष दशा सम्पन्न होने से श्रेणी जैसा तो नहीं है, परन्तु उसकी भूमिका के योग्य निर्विकल्प तो होता है।

इसलिये इस मतिश्रुतज्ञानात्मक भावमन को स्वानुभूति के समय में प्रत्यक्ष मानने में आता है वहाँ यही कारण है कि—मतिश्रुतज्ञान बिना केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। परन्तु अवधि मनःपर्ययज्ञान बिना हो सकती है।

भावार्थ :—मतिश्रुतज्ञान को स्वानुभूति के समय में प्रत्यक्ष कहा है यह ठीक कहा है, क्योंकि—आत्मसिद्धि के लिये मतिश्रुत यह दो ज्ञान ही आवश्यक ज्ञान हैं, कारण कि अवधि तथा मनः पर्ययज्ञान बिना तो मोक्ष हो सकता है परन्तु मतिश्रुतज्ञान बिना कभी भी मोक्ष नहीं हो सकता है।।८७।।

(श्री पंचाध्यायी, पूर्वार्ध गाथा ७१७, ७१८, ७१९)

★ खण्डान्वय सहित अर्थ :—भावार्थ इस प्रकार है कि कोई एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा है कि वस्तु को पर्यायमात्र मानता है, द्रव्यरूप नहीं मानता है, इसलिए जितनी समस्त ज्ञेय वस्तुओं के जितने हैं शक्तिरूप स्वभाव उनको जानता है ज्ञान। जानता हुआ उनकी आकृतिरूप परिणमता है। इसलिए ज्ञेय की शक्ति की आकृतिरूप हैं ज्ञान की पर्याय, उनसे ज्ञानवस्तु की सत्ता को मानता है। उनसे भिन्न है अपनी शक्ति की सत्तामात्र उसे नहीं मानता है। ऐसा है एकान्तवादी। उसके प्रति

स्याद्वादी समाधान करता है कि ज्ञान मात्र जीववस्तु समस्त ज्ञेयशक्ति को जानती है ऐसा सहज है। परन्तु अपनी ज्ञानशक्ति से अस्तिरूप है ऐसा कहते हैं—"पशुः नश्यति एव" (पशुः) एकान्तवादी (नश्यति) वस्तु की सत्ता को साधने से भ्रष्ट है। (एव) निश्चय से। कैसा है एकान्तवादी ? "बहिः वस्तुषु नित्यं विश्रान्तः" (बहिः वस्तुषु) समस्त ज्ञेय वस्तु की अनेक शक्ति की आकृतिरूप परिणमी है ज्ञान की पर्याय, उसमें (नित्यं विश्रान्तः) सदा विश्रान्त है अर्थात् पर्यायमात्र को जानता है ज्ञानवस्तु, ऐसा है निश्चय जिसका ऐसा है। किस कारण से ऐसा है ? "परभावभावकलनात्" (परभाव) ज्ञेय की शक्ति की आकृतिरूप है ज्ञान की पर्याय उसमें (भावकलनात्) अवधार किया है ज्ञानवस्तु का अस्तिपना ऐसे झूठे अभिप्राय के कारण। और कैसा है एकान्तवादी ? "स्वभावमहिमनि एकान्तनिश्चेतनः" (स्वभाव) जीव की ज्ञानमात्र निजशक्ति के (महिमनि) अनादिनिधन शाश्वत प्रताप में (एकान्तनिश्चेतनः) एकान्त निश्चेतन है अर्थात् उससे सर्वथा शून्य है। भावार्थ इस प्रकार है कि स्वरूपसत्ता को नहीं मानता है ऐसा है एकान्तवादी, उसके प्रति स्याद्वादी समाधान करता है—"तु स्याद्वादी नाशं न एति" (तु) एकान्तवादी मानता है उस प्रकार नहीं है, स्याद्वादी मानता है उस प्रकार है। (स्याद्वादी) अनेकान्तवादी (नाशं) विनाश को (न एति) नहीं प्राप्त होता है। भावार्थ इस प्रकार है कि ज्ञानमात्र वस्तु की सत्ता को साध सकता है। कैसा है अनेकान्तवादी जीव ? "सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः" (सहज) स्वभाव शक्तिमात्र ऐसा जो अस्तित्व उस सम्बन्धी (स्पष्टीकृत) दृढ़ किया है (प्रत्ययः) अनुभव जिसने ऐसा है। और कैसा है ? "सर्वस्मात् नियतस्वभावभवनज्ञानात् विभक्तः भवन्" (सर्वस्मात्) जितने हैं (नियतस्वभाव) अपनी अपनी शक्ति विराजमान ऐसे जो ज्ञेयरूप जीवादि पदार्थ उनकी (भवन) सत्ता की आकृतिरूप परिणमी है ऐसी (ज्ञानात्) जीव

के ज्ञानगुण की पर्याय, उनसे (विभक्तः भवन्) भिन्न है ज्ञानमात्र सत्ता ऐसा अनुभव करता हुआ।।८८।।

(श्री समयसार जी कलश, टीका कलश २५८. पांडे श्री राजमल जी)

★ जिसके लिंग द्वारा अर्थात् उपयोग नामक लक्षण द्वारा ग्रहण नहीं है अर्थात् ज्ञेय पदार्थों का आलम्बन नहीं है, वह अलिंगग्रहण है, इस प्रकार आत्मा के बाह्य पदार्थों का आलम्बन वाला ज्ञान नहीं है,' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।।८९।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा १७२, अलिंगग्रहण बोल नं. ७, श्री अमृतचंद्राचार्य)

★ यह धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, तथा काल द्रव्य व अन्य जीवद्रव्य को आदि लेकर जितने ज्ञेय अर्थात जानने योग्य पदार्थ हैं वे सब मेरे सम्बन्धी नहीं हैं। मैं विशुद्ध ज्ञानदर्शन उपयोग स्वरूप ही हूँ क्योंकि आत्मा का लक्षण ज्ञानदर्शन उपयोगमय है। इन दोनों को अभेद से उपयोग कहते हैं। अभेद से जो उपयोग है सो ही आत्मा है क्योंकि आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में उपयोग है, मैं आत्मा हूँ, अपने को इस प्रकार जानता हूँ कि टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभावरूप मैं हूँ—तथा एक अकेला हूँ ऐसा ज्ञानी जानता है। इस कारण उन धर्मादि द्रव्यों के प्रति मैं ममत्व रहित हूँ, यद्यपि दहीं और शक्कर की शिखरणी के समान व्यवहार नय से ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध की अपेक्षा से परद्रव्यों के साथ मेरी एकता है तो भी शुद्ध निश्चयनय से यह परद्रव्य मेरा स्वरूप नहीं है। क्योंकि मैं शुद्धात्मभावना स्वरूप हूँ, इस कारण परद्रव्यों से ममत्व रहित हूँ। ऐसा शुद्धात्मा के जानने वाले पुरुष कहते हैं। यहाँ यह तात्पर्य है कि पहले स्वसंवेदन ज्ञान को ही प्रत्याख्यान कहा था उसी का

यहाँ परद्रव्य से ममत्व रहितपना विशेषण बतलाया है।।९०।।

(श्री समयसार जी, टीका श्री जयसेनाचार्य, ब्र. शीतल प्रसाद कृत गाथा-४२ (३७) का शब्दार्थ सहित विशेषार्थ)

★ परद्रव्यों को मैं जानता हूँ ऐसा भी जो अहंकार है सो त्यागने योग्य है। सर्व परद्रव्यों से भी मोह करना स्वसंवेदन ज्ञान में बाधक है इस कारण ऐसी ममता भी त्यागने योग्य है। निर्विकल्प होकर निज शुद्ध स्वरूप का ध्याना ही कार्यकारी है। यद्यपि आत्मा के ज्ञान स्वभाव में ज्ञेयों का प्रतिभासपना होना उचित ही है तथापि उन ज्ञेयों के प्रति जो ममत्व भाव सो स्वरूप समाधि में निषेधने योग्य है। मैं ज्ञाता हूँ परद्रव्य ज्ञेय है यह विकल्प योग्य नहीं है।।९१।।

(श्री समयसार जी टीका श्री जयसेनाचार्य कृत, ब्र. शीतल प्रसाद जी, भावार्थ ४२ गाथा (३७) गाथा श्री अमृतचंद्राचार्य जी)

★ अपने निजरस से जो प्रगट हुई है, जिसका विस्तार अनिवार्य है तथा समस्त पदार्थों को ग्रसित करने का जिसका स्वभाव है ऐसी प्रचण्ड चिन्मात्रशक्ति के द्वारा ग्रासीभूत किये जाने से, मानों अत्यन्त अन्तर्मग्न हो रहे हों—ज्ञान में तदाकार होकर डूब रहे हों इस प्रकार आत्मा में प्रकाशमान यह धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव—ये समस्त परद्रव्य मेरे सम्बन्धी नहीं हैं; क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावत्व से परमार्थतः अंतरंगतत्व तो मैं हूँ और वे परद्रव्य मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाव वाले होने से परमार्थतः बाह्यतत्वरूपता को छोड़ने के लिये असमर्थ हैं (क्योंकि वे अपने स्वभाव का अभाव करके ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते)। और यहाँ स्वयमेव, (चैतन्य में) नित्य उपयुक्त परमार्थ से एक, अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ भगवान आत्मा ही जानता है कि—मैं प्रगट निश्चय से एक ही हूँ, इसलिये

ज्ञयज्ञायक भावमात्र से उत्पन्न परद्रव्यों के साथ परस्पर मिलन होने पर भी, प्रगट स्वाद में आते हुये स्वभाव के कारण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवों के प्रति मैं निर्मम हूँ; क्योंकि सदा ही अपने एकत्व में प्राप्त होने से समय (आत्मपदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ) ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है; (अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता)। **इस प्रकार ज्ञेय भावों से भेदज्ञान हुआ।।९२।।**

(श्री समयसार जी, गाथा ३७ टीका श्री अमृतचंद्राचार्य जी)

★ इस प्रकार पूर्वोक्त रूप से भावकभाव और ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होने पर जब सर्व अन्य भावों से भिन्नता हुई तब यह उपयोग स्वयं ही अपने एक आत्मा को ही धारण करता हुआ, जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है ऐसे दर्शनज्ञानचारित्र से जिसने परिणति की है ऐसा अपने आत्मारूपी बाग (क्रीडावन) में प्रवृत्ति करता है अन्यत्र नहीं जाता।।९३।।

(श्री समयसार जी, कलश-३१ श्लोकार्थ श्री अमृतचंद्रचार्य जी)

★ इस प्रकार सबसे भिन्न ऐसे स्वरूप का अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवंत हूँ। इस प्रकार—प्रतापवंत वर्तते हुवे ऐसे मुझे, यद्यपि (मुझसे) बाह्य अनेक प्रकार की स्वरूप-सम्पदा के द्वारा समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं तथापि, कोई भी परद्रव्य परमाणु मात्र भी मुझरूप भासते नहीं कि जो मुझे भावकरूप तथा ज्ञेयरूप से मेरे साथ एक होकर पुनः मोह उत्पन्न करें; क्योंकि निजरस से ही मोह को मूल से उखाड़कर—पुनः अंकुरित न हो इस प्रकार नाश करके, महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है।।९४।।

(श्री समयसार जी, गाथा ३८ टीका, श्री अमृतचंद्राचार्य जी)

★ (१) परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसके नहीं है इसलिये वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से भी रस नहीं चखता इसलिये अरस है।

(२) अपने स्वभाव की दृष्टि से देखा जाये तो उसके क्षायोपशमिक भाव का भी अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन से भी रस नहीं चखता इसलिए अरस है।

(३) समस्त विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदन-परिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक रसवेदना परिणाम को पाकर रस नहीं चखता इसलिए अरस है।।९५।।

(श्री समयसार जी गाथा-४९ की टीका में से)

★ (१) परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नहीं होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी रूप नहीं देखता इसलिए अरूप है।

(२) अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने में आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी रूप नहीं देखता इसलिए अरूप है।

(३) सकल विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदन परिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक रूपवेदना परिणाम को प्राप्त—होकर रूप नहीं देखता इसलिए अरूप है।।९६।।

(श्री समयसार जी गाथा ४९ की टीका में से
बोल नं. ३, ४,५, श्री अमृतचंद्राचार्य)

★ (१) परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नहीं होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी गंध नहीं सूंघता इसलिए अगंध है।

(२) अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने में आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी गंध नहीं सूंघता इसलिए अगंध है।

(३) सकल विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदन-

परिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक गंधवेदना-परिणाम को प्राप्त होकर गंध नहीं सूंघता इसलिए अगंध है।।९७।।

(श्री समयसार जी. गाथा ४९ टीका में से बोल ३, ४,५)

★ (१) परमार्थ से पुद्गल द्रव्य का स्वामीपना भी उसे नहीं होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी स्पर्श को नहीं स्पर्शता इसलिए अस्पर्श है।

(२) अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने में आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी स्पर्श को नहीं स्पर्शता इसलिए अस्पर्श है।

(३) सकल विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदन-परिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक स्पर्शवेदना परिणाम को प्राप्त होकर स्पर्श को नहीं स्पर्शता अत: 'अस्पर्श है।।९८।।

(श्री समयसार जी गाथा ४९ की टीका में से बोल नं. ३, ४, ५)

★ (१) परमार्थ से पुद्गल द्रव्य का स्वामीपना भी उसे नहीं होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी शब्द नहीं सुनता अत: अशब्द है।

(२) अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने में आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा शब्द नहीं सुनता अत: अशब्द है।

(३) सकल विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदन परिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक शब्दवेदना परिणाम को प्राप्त होकर भी शब्द नहीं सुनता अत: अशब्द है।।९९।।

(श्री समयसार जी गाथा ४९ टीका में से ३, ४, ५ बोल)

★ छह द्रव्य स्वरूप लोक जो ज्ञेय है और व्यक्त है उससे जीव अन्य है

इसलिये अव्यक्त है।।१००।।

(श्री समयसार जी गाथा ४९ टीका में से, अव्यक्त का बोल नं. १)

सामान्यार्थ :—मिथ्यादर्शनादि तीन प्रकार उपयोगधारी आत्मा ऐसा मिथ्या विकल्प करता है कि धर्मास्तिकायरूप मैं हूँ या अधर्मास्तिकायरूप मैं हूँ, तब यह आत्मा अपने उस आत्मभावमयी उपयोग का कर्त्ता होता है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ :—(एसुवओगो) यह उपयोगवान आत्मा सामान्यपने अज्ञानरूप एक तरह का होने पर भी (तिविहो) विशेष करके मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र रूप से तीन प्रकार का होता हुआ परद्रव्य और आत्मा के ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध को एकरूप निश्चय करने से, एकरूप जानने से व एकरूप परिणमन करने से उनके भेदज्ञान के न होने के कारण जानने योग्य पदार्थ और जानने वाला आत्मा इन दोनों के भेद को न जानता हुआ (धम्मादी) धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय रूप मैं हूँ इत्यादि (अस्स) अपने आत्मा का असत्-मिथ्या (वियप्पं) विकल्परूप अपने परिणाम को (करेदि) पैदा करता है तब (सो) वही आत्मा निर्मल आत्मा के अनुभव से रहित होता हुआ (तस्स उवओगस्स अत्तभावस्स) अपने ही उस मिथ्या विकल्परूप परिणाम का (कत्ता) कर्त्ता अशुद्ध निश्चय से (होदि) होता है। यहाँ शिष्य ने प्रश्न किया है कि मैं धर्मास्तिकायरूप हूँ, ऐसा कोई नहीं कहता है तब ऐसा कहना कैसे घट सकता है। उसका समाधान आचार्य करते हैं कि यह धर्मास्तिकाय है ऐसा जो जाननेरूप विकल्प मन में उठता है उसको भी उपचार से धर्मास्तिकाय कहते हैं जैसे घट के द्वारा घटाकार परिणतिरूप ज्ञान कहा जाता है, उसी तरह जानना, क्योंकि ज्ञान ज्ञेय के आकार परिणमन करता है। जब यह आत्मा ज्ञेयतत्व के विचार के समय ऐसा

विकल्प करता है कि धर्मास्तिकाय यह है तब यह अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को भूल जाता है। तब इस विकल्प को करते हुये मैं धर्मास्तिकायरूप हूँ इत्यादि विकल्प उस जीव के उपचार से सिद्ध होता है ऐसा प्रयोजन है। इससे यह सिद्ध हुआ कि शुद्धात्मा के अनुभव के बिना जो अज्ञान भाव है वह कर्मों के कर्तापने का कारण है।

भावार्थ :—जब शुद्धात्मस्वरूप के अनुभव में तन्मय उपयोग होता है तब इसके कर्मों का करने वाला अज्ञान भाव नहीं है। जब इसके विपरीत होता है तब इसका उपयोग अज्ञान भाव के कारण कर्मों का बांधने वाला होता है।।१०१।।

(श्री समयसार जी, टीका श्री जयसेनाचार्य, ब्र. शीतल प्रसाद जी, गाथा-१०३, अमृतचंद्राचार्य गाथा ९५)

★ वास्तव में यह सामान्य रूप से अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन—अज्ञान—अविरति रूप तीन प्रकार का सविकार चैतन्य परिणाम है वह, पर के और अपने अविशेष दर्शन से, अविशेष ज्ञान से, और अविशेष रति (लीनता) से स्व-पर के समस्त भेद को छिपाकर ज्ञेयज्ञायक भाव को प्राप्त ऐसे चेतन और अचेतन का सामान्य अधिकरण से अनुभव करने से, मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मैं अन्य जीव हूँ ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है; इसलिए मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मैं अन्य जीव हूँ ऐसी भ्रान्ति के कारण जो सोपाधिक (उपाधियुक्त) है ऐसे चैतन्य परिणाम को परिणमित होता हुआ यह आत्मा उस सोपाधिक चैतन्य परिणामरूप अपने भाव का कर्त्ता होता है।।१०२।।

(श्री समयसार जी गाथा ९५ टीका, श्री अमृतचंद्राचार्य)

★ धर्मादि के विकल्प के समय जो, स्वयं शुद्धचैतन्य मात्र होने का भान

न रखकर, धर्मादि के विकल्प में एकाकार हो जाता है वह अपने को धर्मादिद्रव्य रूप मानता है।

इस प्रकार, अज्ञानरूप चैतन्य परिणाम—अपने को धर्मादिद्रव्यरूप मानता है इसलिये अज्ञानी जीव उस अज्ञानरूप सोपाधिक चैतन्य परिणाम का कर्त्ता होता है और वह अज्ञानरूप भाव उसका कर्म होता है।।१०३।।

(श्री समयसार जी गाथा-९५ का भावार्थ
पं. श्री जयचंद जी छावड़ा)

★ इसी प्रकार यह आत्मा भी अज्ञान के कारण ज्ञेयज्ञायक रूप पर को और अपने को एक करता हुआ, "मैं परद्रव्य हूँ" ऐसे अध्यास के कारण मन के विषयभूत किये गये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव के द्वारा (अपनी) शुद्ध चैतन्यधातु रुकी होने से तथा इन्द्रियों के विषयरूप किये गये रूपी पदार्थों के द्वारा (अपना) केवल बोध (ज्ञान) ढँका हुआ होने से और मृतक शरीर के द्वारा परम अमृतरूप विज्ञानघन (स्वयं) मूर्छित हुआ होने से उस प्रकार के भाव का कर्त्ता प्रतिभासित होता है।।१०४।।

(श्री समयसार जी गाथा ९६ की टीका में से)

★ यह आत्मा अज्ञान के कारण, अचेतन कर्मरूप भावक के क्रोधादि भाव्य को चेतन भावक के साथ एकरूप मानता है; और वह जड ज्ञेयरूप धर्मादिद्रव्यों को भी ज्ञायक के साथ एकरूप मानता है। इसलिये वह सविकार और सोपाधिक चैतन्यपरिणाम का कर्त्ता होता है।।१०५।।

(श्री समयसार जी गाथा-९६ का भावार्थ)

★ **सामान्यार्थ :**—यह जीव अध्यवसान के द्वारा धर्म, अधर्म, जीव, अजीव, लोक, अलोक आदि सर्व ही ज्ञेय पदार्थों को अपना मान लेता है।

शब्दार्थ सहित विशेषार्थ :—यह जीव जानने रूप विकल्प के द्वारा धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को और जीव अजीव को और अलोकाकाश व लोकाकाश आदि सर्व ही ज्ञेय पदार्थों को अपना कर लेता है अर्थात् अपने आत्मा से उनका सम्बन्ध कर लेता है। तात्पर्य यह है कि घट के आकार परिणमन करने वाले ज्ञान को उपचार से घट कहते हैं वैसे ही धर्मास्तिकाय आदि जानने योग्य पदार्थों के विषय में यह धर्म है यह अधर्म है इत्यादि जो जाननरूप विकल्प है उसको भी उपचार से धर्मास्तिकाय आदि कहते हैं। क्यों ऐसा कहने हैं ? इसका उत्तर यह है कि उस जाननरूप विकल्प का विषय धर्मास्तिकाय-आदिक है। जब यह आत्मा स्वस्थ भाव अर्थात् अपने आत्मा में तिष्ठनेरूप समाधि भाव से गिरकर के यह विकल्प करता है कि यह धर्मास्तिकाय है तथा यह अधर्मास्तिकाय है इत्यादि तब इस तरह के विकल्प करते हुये धर्मास्तिकाय आदि ही उपचार से किये गए ऐसा कहने में आता है। अर्थात् उस समय आत्मा का सम्बन्ध ज्ञेय पदार्थों से हो रहा है।

भावार्थ :—जब यह आत्मा अपनी आत्मिक परिणति में तल्लीन रहता है तब आत्मा का ही अनुभव करता हुआ निर्विकल्प रहता है पर जब आत्मा से भिन्न धर्म, अधर्म, आकाश, काल व पुद्गल इन पदार्थों के जानने में अपना विकल्प का सम्बन्ध करता है तब स्वस्थ भाव से गिर करके उस जाननरूप विकल्प के अध्यवसाय में परिणमन करता है जिससे ऐसा कहा जाता है कि उसने परज्ञेय-पदार्थों से अपना सम्बन्ध कर लिया। अर्थात् यह आत्मा पररूप हो गया।।१०६।।

(श्री समयसार जी, श्री जयसेनाचार्य टीका, ब्र. शीतल प्रसाद जी :गाथा २८६, श्री अमृतचंद्राचार्य में गाथा २६९)

★ कभी ज्ञेय पदार्थों में जाननरूप अध्यवसान करता है कि यह धर्मास्तिकाय इत्यादि हैं इन अध्यवसानों को विकल्परहित शुद्धात्मा से

भिन्न नहीं जानता है। इस तरह इन अध्यवसानों को शुद्धात्मा से भिन्न अनुभव नहीं करता हुआ हिंसा आदि के अध्यवसान सम्बन्धी विकल्प के साथ अपने आत्मा का अभेदरूप से श्रद्धान करता है, जानता है तथा अनुभव करता है तब मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री हो जाता है। इससे उसके कर्मों का बंध होता है।।१०७।।

(श्री समयसार जी, श्री जयसेनाचार्य की टीका, ब्र. शीतल प्रसाद जी गाथा २८७, श्री अमृतचंद्राचार्य गाथा २७०)

★ यह जो अध्यवसान हैं वे ''मैं पर का हनन करता हूँ'' इस प्रकार के है, ''मैं नारक हूँ,'' इस प्रकार के हैं तथा **''मैं परद्रव्य को जानता हूँ''** इस प्रकार के हैं। वे, जब तक आत्मा का और रागादि का, आत्मा का और नारकादि कर्मोदयजनित भावों का तथा **आत्मा का और ज्ञेयरूप अन्य द्रव्यों का भेद न जाना हो**, तब तक रहते हैं। वे भेदज्ञान के अभाव के कारण मिथ्याज्ञानरूप हैं, मिथ्यादर्शनरूप हैं और मिथ्याचारित्ररूप हैं; यों तीन प्रकार के होते हैं। वे अध्यवसान जिनके नहीं हैं वे मुनिकुंजर हैं। वे आत्मा को सम्यक् जानते हैं, सम्यक् श्रद्धा करते हैं और सम्यक् आचरण करते हैं, इसलिये अज्ञान के अभाव से सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होते हुये कर्मों से लिप्त नहीं होते।।१०८।।

(श्री समयसार जी गाथा २७० का भावार्थ)

★ रागद्वेषसुखदु:खादि अवस्था पुद्गल कर्म के उदय का स्वाद है; इसलिये वह शीत-उष्णता की भाँति, पुद्गलकर्म से अभिन्न है और आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। अज्ञान के कारण आत्मा को उसका भेदज्ञान नहीं होने से वह यह जानता है कि यह स्वाद मेरा ही है; क्योंकि ज्ञान की स्वच्छता के कारण रागद्वेषादि का स्वाद, शीत-उष्णता की भाँति ज्ञान में प्रतिबिम्बित होने पर, मानों ज्ञान ही रागद्वेष हो गया हो इस प्रकार अज्ञानी को भासित होता है। इसलिये वह यह मानता है कि मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ,

मैं क्रोधी हूँ, मैं मानी हूँ, इत्यादि। इस प्रकार अज्ञानी जीव रागद्वेषादि का कर्त्ता होता है।।१०९।।

(श्री समयसार जी गाथा ९२ का भावार्थ)

★ ज्ञायक भाव सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव से अवस्थित होने पर भी कर्म से उत्पन्न होते हुए मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय, अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य होने से, पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायक भाव) विशेष अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है (—अज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन उसको करता है) इसलिये, उसके कर्तृत्व को स्वीकार करना चाहिये; वह भी तब तक कि जब तक भेदविज्ञान के प्रारम्भ से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से पूर्ण (अर्थात् भेदविज्ञान सहित) होने के कारण आत्मा को ही आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायक भाव), विशेष अपेक्षा से भी ज्ञानरूप ही ज्ञानपरिणाम से परिणमित होता हुआ (—ज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन उस रूप ही परिणमित होता हुआ), मात्र ज्ञातृत्व के कारण साक्षात् अकर्ता हो।।११०।।

(श्री समयसार जी गाथा ३३२ से ३४४ की टीका में से)

★ यहाँ यह समझना चाहिये कि—मिथ्यात्वादि कर्म की प्रकृतियाँ पुद्गलद्रव्य के परमाणु हैं। जीव उपयोगस्वरूप है। उसके उपयोग की ऐसी स्वच्छता है कि पौद्गलिक कर्म का उदय होने पर उसके उदय का जो स्वाद आवे उसके आकार उपयोग हो जाता है। अज्ञानी को अज्ञान के कारण उस स्वाद का और उपयोग का भेदज्ञान नहीं है इसलिये उस स्वाद को ही अपना भाव समझता है। जब उनका भेदज्ञान होता है अर्थात् जीवभाव को जीव जानता है और अजीव भाव को अजीव जानता है तब मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यग्ज्ञान होता है।।१११।।

(श्री समयसार जी गाथा-८७ के भावार्थ में से)

★ यह मोहकर्म जड़ पुद्गल द्रव्य है; उसका उदय कलुष (मलिन) भावरूप है, वह भाव भी, मोहकर्म का भाव होने से, पुद्गल का ही विकार है। यह भावक का भाव जब चैतन्य के उपयोग के अनुभव में आता है तब उपयोग भी विकारी होकर रागादिरूप मलिन दिखाई देता है। जब उसका भेदज्ञान हो कि 'चैतन्य की शक्ति की व्यक्ति तो ज्ञानदर्शनोपयोग मात्र है और यह कलुषता रागद्वेषमोहरूप है वह द्रव्यकर्मरूप जड़ पुद्गल द्रव्य की है,' तब भावक भाव जो द्रव्यकर्मरूप मोह के भाव उससे अवश्य भेदभाव होता है और आत्मा अवश्य अपने चैतन्य के अनुभवरूप स्थित होता है।।११२।।

(श्री समयसार जी गाथा-३६ का भावार्थ)

★ जीव अध्यवसान से तिर्यंच, नारक, देव और मनुष्य इन सर्व पर्यायों तथा अनेक प्रकार के पुण्य और पाप—इन सबरूप अपने को करता है। और उसी प्रकार जीव अध्यवसान से धर्म-अधर्म, जीव-अजीव और लोक-अलोक इन सबरूप अपने को करता है।।११३।।

(श्री समयसार जी गाथा २६८-२६९ का गाथार्थ श्री कुंदकुंदाचार्य)

★ जैसे यह आत्मा पूर्वोक्त प्रकार क्रिया जिसका गर्भ है ऐसे हिंसा के अध्यवसान से अपने को हिंसक करता है (अहिंसा के अध्यवसान से अपने को अहिंसक करता है) और अन्य अध्यवसानों से अपने को अन्य करता है, इसी प्रकार उदय में आते हुए नारक के अध्यवसान से अपने को नारकी करता है, उदय में आते हुये तिर्यंच के अध्यवसान से अपने को तिर्यंच करता है, उदय में आते हुये मनुष्य के अध्यवसान से अपने को मनुष्य करता है, उदय में आते हुये देव के अध्यवसान से अपने को देव करता है, उदय में आने हुये सुख आदि पुण्य के अध्यवसान से अपने को पुण्यरूप करता है, और उदय में आते हुये दुःखादि पाप के

अध्यवसान से अपने को पापरूप करता है; और इसी प्रकार जानने में आता हुआ जो धर्म (-धर्मास्तिकाय) है उसके अध्यवसान से अपने को धर्मरूप करता है, जानने में आते हुये अधर्म (अधर्मास्तिकाय के) अध्यवसान से अपने को अधर्मरूप करता है, जानने में आते हुये अन्य जीव के अध्यवसानों से अपने को अन्य जीवरूप करता है, जानने में आते हुये पुद्गल के अध्यवसानो से अपने को पुद्गलरूप करता है, जानने में आते हुये लोकाकाश के अध्यवसान से अपने को लोकाकाशरूप करता है और जानने में आते हुये अलोकाकाश के अध्यवसान से अपने को अलोकाकाशरूप करता है। (इस प्रकार आत्मा अध्यवसान से अपने को सर्वरूप करता है।)।।११४।।

(श्री समयसार जी गाथा-२६८-२६९ की टीका)

★ और यह 'धर्मद्रव्य ज्ञात होता है' इत्यादि जो अध्यवसान है उस अध्यवसान वाले जीव को भी, ज्ञानमयपने के सद्भाव से सत्रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है ऐसे आत्मा का और ज्ञेयमय धर्मादिक रूपों का विशेष न जानने के कारण भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न आत्मा का अदर्शन होने से (वह अध्यवसान) मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से (वह अध्यवसान) अचारित्र है। इसलिये यह समस्त अध्यवसान बन्ध के ही निमित्त हैं।।११५।।

(श्री समयसार जी गाथा-२७० की टीका में से)

★ इस जगत मे चेतयिता है (चेतने वाला अर्थात् आत्मा है) वह ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाव वाला द्रव्य है। पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहार से उस चेतयिता का (आत्मा का) ज्ञेय (-ज्ञात होने योग्य) है। अब, 'ज्ञायक (-जानने वाला)चेतयिता ज्ञेय जो पुद्गलादि परद्रव्य उनका है या नहीं ?'—इस प्रकार यहाँ उन दोनों के तात्त्विक सम्बन्ध का विचार

करते हैं :—यदि चेतयिता पुद्गलादि का हो तो क्या हो इसका प्रथम विचार करते हैं :—'जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है;'—ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवित (-विद्यमान) होने से, चेतयिता यदि पुद्गलादिका हो तो चेतयिता वह पुद्गलादि ही होवे (अर्थात् चेतयिता पुद्गलादिस्वरूप ही होना चाहिये, पुद्गलादि से भिन्न द्रव्य नहीं होना चाहिये); ऐसा होने पर, चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा। किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध कर दिया है। इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) चेतयिता पुद्गलादि का नहीं है। (अब आगे और विचार करते हैं:—) यदि चेतयिता पुद्गलादिका नहीं है तो किसका है? चेतयिता का ही चेतयिता है। इस चेतयिता से भिन्न ऐसा दूसरा कौन सा चेतयिता है कि जिसका (यह) चेतयिता है? (इस) चेतयिता से भिन्न अन्य कोई चेतयिता नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर ज्ञायक किसी का नहीं है। ज्ञायक ज्ञायक ही है—यह निश्चय है।।११६।।

(श्री समयसार जी गाथा-३५६ की टीका में से)

★ वेद्य को जानना और वेदक को नहीं जानना वो आश्चर्यकारी है।

शब्दार्थ :—दुर्बुद्धि वेद्य को तो जानते हैं वेदक को क्यों नहीं जानते? प्रकाश्य को तो देखते हैं किन्तु प्रकाशक को नहीं देखते, यह कैसा आश्चर्य है?

व्याख्या :—निःसन्देह ज्ञेय को जानना और ज्ञायक को—ज्ञान या ज्ञानी को—न जानना एक आश्चर्य की बात है, उसी प्रकार जिस प्रकार

कि प्रकाश से प्रकाशित वस्तु को तो देखना किन्तु प्रकाशक को नहीं देखना। ऐसे ज्ञायक-विषय में अज्ञानियों को यहाँ दुर्बुद्धिविकार-ग्रसित बुद्धि वाले बतलाया है। पिछले पद्य में दीपक और उसके उद्योत की बात को लेकर विषय को स्पष्ट किया गया है, यहाँ उद्योत और उसके द्वारा द्योतित (द्योतनीय) पदार्थ-की बात को लेकर उसी विषय को स्पष्ट किया गया है। द्योतक, द्योत और द्योत्य का जैसा सम्बन्ध है वैसा ही सम्बन्ध ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का है। एक के जानने से दूसरा जाना जाता है। जिसे एक को जानकर दूसरे का बोध नहीं होता वही सचमुच दुर्बुद्धि है।।११७।।

(श्री योगसार प्राभृत, श्री अमितगति आचार्य,
निर्जरा अधिकार गाथा ३९)

★ ज्ञेय के लक्ष्य-द्वारा आत्मा के परमस्वरूप को जानकर और लक्ष्यरूप से व्यावृत होकर शुद्ध स्वरूप का ध्यान करने वाले के कर्मों का नाश होता है।

व्याख्या :—जो लोग ज्ञेय को जानने में प्रवृत्त होते हुए भी ज्ञायक को जानने में अपने को असमर्थ बतलाते हैं उन्हें यहाँ ज्ञेय के लक्ष्य से आत्मा के उत्कृष्ट स्वरूप को जानने की बात कही गयी है और साथ ही यह सुझाया गया है कि इस तरह शुद्ध स्वरूप के सामने आने पर ज्ञेय के लक्ष्य को छोड़कर अपने उस शुद्ध स्वरूप का ध्यान करो, इससे कर्मों की निर्जरा होती है।

दृष्टांत :—जिस प्रकार कड़छी-चम्मच से भोजन ग्रहण करके उसे छोड़ दिया जाता है उसी प्रकार गोचर के—ज्ञेय लक्ष्यद्वारा आत्मा को जानकर वह छोड़ दिया जाता है।

व्याख्या :—यहाँ कड़छी-चम्मच के उदाहरण द्वारा पूर्व पद्य में

वर्णित विषय को स्पष्ट किया गया है। कड़छी-चम्मच का उपयोग जिस प्रकार भोजन के ग्रहण करने में किया जाता है उसी प्रकार आत्मा के जानने में ज्ञेय के लक्ष्य का उपयोग किया जाता है। आत्मा का ग्रहण (जानना) हो जाने पर ज्ञेय का लक्ष्य छोड़ दिया जाता है और अपने ग्रहीत स्वरूप का ध्यान किया जाता है।।११८।।

(श्री योगसार प्राभृत अमितगति आचार्य,
निर्जरा अधिकार गाथा ४०-४१)

★ **ज्ञान के ज्ञात होने पर ज्ञानी जाना जाता है**

'चूंकि ज्ञान और ज्ञानी में सर्वथा भेद विद्यमान नहीं है इसलिये ज्ञान के ज्ञात होने पर वस्तुत: ज्ञानी ज्ञात होता है—जाना जाता है।'

व्याख्या :—ज्ञान और ज्ञानी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। ज्ञान गुण है, ज्ञानी गुणी है, गुण-गुणी में सर्वथा भेद नहीं होता; दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध होता है और इसलिये वास्तव में ज्ञान के मालूम पड़ने पर ज्ञानी (आत्मा) का होना जानने में आ जाता है। यहाँ सर्वथा भेद न होने की जो बात कही गयी है वह इस बात को सूचित करती है कि दोनों में कथंचित् भेद है, जो कि संज्ञा (नाम) संख्या, लक्षण, तथा प्रयोजनादि के भेद की दृष्टि से हुआ करता है।।११९।।

(श्री योगसार प्राभृत, अमितगति आचार्य निर्जरा अधिकार गाथा-३५)

★ जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है उसके द्वारा ज्ञानी (ज्ञाता) कैसे नहीं जाना जाता ? जिसके द्वारा उद्योत (प्रकाश) देखा जाता है उसके द्वारा क्या दीपक नहीं देखा जाता ?—देखा ही जाता है।

व्याख्या :—जिस प्रकार दीपक के प्रकाश को देखने वाला दीपक को भी देखता है उसी प्रकार जो ज्ञेयरूप पदार्थ को जानता है वह उसके

ज्ञायक अथवा ज्ञानी को भी जानता है। न जानने की बात कैसी ?।।१२०।।

(श्री योगसार प्राभृत, श्री अमितगति आचार्य, निर्जरा अधिकार गाथा-३८)

★ इन्द्रियज्ञान के विषय से भिन्न जो अंतरंग में अवभासित होता है वह ज्ञाता के गम्य आत्मा का अभ्रान्त रूप है।।१२१।।

(श्री योगसार अमितगति आचार्य, चूलिका अधिकार गाथा-४४)

★ जिस प्रकार दीपक से द्योत्य (प्रकाशनीय वस्तु) को जानकर दीपक को द्योत्य से अलग किया जाता है उसी प्रकार ज्ञान से ज्ञेय को जानकर ज्ञान को ज्ञेय से अलग किया जाता है। जो ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, सूक्ष्म है; व्यपदेशरहित अथवा वचन के अगोचर है उसका व्यपोहन—त्याग अथवा पृथक्करण नहीं होता, उससे भिन्न जो वैकारिक—इन्द्रियों आदि द्वारा विभाव परिणत-ज्ञान है उसको दूर किया जाता है।।१२२।।

(श्री योगसार, श्री अमितगति आचार्य, चूलिकाधिकार गाथा ७८, ७९)

★ **शब्दार्थ :**—ज्ञान आत्मा को (अपने को) और पदार्थ-समूह को स्वभाव से ही जानता है। जैसे दीपक स्वभाव से अन्य पदार्थ-समूह को प्रकाशित करता है वैसे अपने प्रकाशन में अन्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता—अपने को भी प्रकाशित करता है।

व्याख्या :—पिछले पद्य में यह बतलाया गया है कि केवलज्ञान दूरवर्ती पदार्थ को भी जानता है, चाहे वह दूरी क्षेत्र सम्बन्धी हो या काल सम्बन्धी, **तब यह भ्रम उत्पन्न होता है कि ज्ञान पर को ही स्वभाव से जानता है या अपने को भी जानता है ?** इस पद्य में दीपक के उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि जिस तरह दीपक

परपदार्थों का उद्योतन (प्रकाशन) करता है—उसी प्रकार अपना भी उद्योतन (प्रकाशन) करता है—अपने प्रकाशन में किसी प्रकार पर की अपेक्षा नहीं रखता—उसी प्रकार ज्ञान भी अपने को तथा परपदार्थ समूह को स्वभाव से ही जानता है—अपने को अथवा आत्मा को जानने में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता।।१२३।।

(श्री योगसार, श्री अमितगति आचार्य, जीव अधिकार, गाथा-२४)

★ इन्द्रियों के व्यापार को रोककर क्षण-भर अन्तर्मुख होकर देखने वाले योगी को जो रूप दिखलाई पडता है उसे आत्मा का शुद्ध संवेदनात्मक (ज्ञानात्मक) रूप जानना चाहिए।।१२४।।

(श्री योगसार प्राभृत, श्री अमितगति आचार्य, जीव अधिकार गाथा-३३, व्याख्या भी पढ़ना)

★ अपने आत्मा के विचार में निपुण राग-रहित जीवों के द्वारा निर्दोष श्रुतज्ञान से भी आत्मा केवलज्ञान के समान जाना जाता है।।१२५।।

(श्री योगसार, अमितगति आचार्य, जीव अधिकार गाथा-३४)

★ इन्द्रियों को अपने विषयों से रोककर आत्मध्यान का अभ्यास करने वाले निर्विकल्प-चित्त ध्याता को आत्मा का वह रूप वस्तुतः स्पष्ट प्रतिभासित होता है—साक्षात् अनुभव में आता है।।१२६।।

(श्री योगसार, श्री अमितगति आचार्य, जीव अधिकार, गाथा ४५ व्याख्या भी पढना)

★ श्री देवसेन आचार्य ने तो आराधनासार में इसी विषय को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "मन मन्दिर के उज्जड़ होने पर—उसमें किसी भी संकल्प-विकल्प का वास न रहने पर—और समस्त इन्द्रियों का व्यापार नष्ट हो जाने पर आत्मा का स्वभाव अवश्य आविर्भूत होता है और उस स्वभाव के आविर्भूत होने पर यह आत्मा ही परमात्मा बन जाता

है।।१२७।।

(श्री योगसार, अमितगति आचार्य, जीव अधिकार गाथा-४५ की व्याख्या में से)

★ 'क्षायोपशमिक भाव भी शुद्ध जीव का रूप नहीं है जो ज्ञान आदि के भी रूप में क्षायोपशमिक भाव है वे भी तत्व-दृष्टि से विशुद्ध-जीव का स्वरूप नहीं है।।१२८।।

(श्री योगसार, श्री अमितगति आचार्य, जीवाधिकार गाथा ५८)

★ जो कुछ इन्द्रियगोचर वह सब आत्मबाह्य।

शब्दार्थ :—इन्द्रियों द्वारा जो कुछ भी देखा जाता, जाना जाता और अनुभव किया जाता है वह आत्मा से बाह्य, नाशवान तथा चेतनारहित है।।१२९।।

(श्री योगसार, अमितगति आचार्य, अजीव अधिकार गाथा ४४)

★ कुतर्क ज्ञान को रोकने वाला, शांति का नाशक, श्रद्धा को भंग करने वाला और अभिमान को बढ़ाने वाला मानसिक रोग है, जो कि अनेक प्रकार से ध्यान का शत्रु है। अतः मोक्षाभिलाषियों को कुतर्क में अपने मन को लगाना युक्त नहीं, प्रत्युत इसको आत्मतत्व में लगाना योग्य है, जो कि स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धि-सदन में प्रवेश कराने वाला है।।१३०।।

(श्री योगसार, श्री अमितगति आचार्य, मोक्ष अधिकार, गाथा ५२-५३)

★ वैषयिक ज्ञान सब पौद्गलिक है

शब्दार्थ :—जीव का जितना वैषयिक (इन्द्रियजन्य) ज्ञान है वह सब पौदगलिक माना गया है और दूसरा जो ज्ञान विषयों से परावृत्त —इन्द्रियों की सहायता से रहित है वह सब आत्मीय है।

व्याख्या :—यहाँ इस जीव के इन्द्रिय-विषयों से सम्बन्ध रखने वाले सारे ज्ञान को 'पौद्गलिक' बतलाया है और जो ज्ञान इन्द्रिय-विषयों की सहायता से रहित अतीन्द्रिय है वह आत्मीय है—आत्मा का निजरूप है। अतः इन्द्रियजन्य पराधीन ज्ञान वास्तव में अपना नहीं और इसलिये वह त्याज्य है।।१३१।।

(श्री योगसार, श्री अमितगति आचार्य चूलिकाधिकार, गाथा ७६)

★ प्रथम, श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके, और फिर आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये, पर पदार्थ की प्रसिद्धि की कारणभूत इन्द्रियों द्वारा और मन के द्वारा प्रवर्त्तमान बुद्धियों को मर्यादा में लेकर जिसने मतिज्ञान-तत्व को (मतिज्ञान के स्वरूप को) आत्म सन्मुख किया है ऐसा, तथा जो नानाप्रकार के नयपक्षों के आलम्बन से होने वाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता उत्पन्न करने वाली श्रुत ज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान-तत्व को भी आत्म सन्मुख करता हुआ, अत्यंत विकल्प रहित होकर, तत्काल निजरस से ही प्रगट होता हुआ, आदि, मध्य और अन्त से रहित, अनाकुल, केवल एक, सम्पूर्ण ही विश्व पर मानों तैरता हो ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त विज्ञानघन परमात्मारूप समयसार का जब आत्मा अनुभव करता है तब उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है (अर्थात् उसकी श्रद्धा की जाती है) और ज्ञात होता है इसलिये समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।।१३२।।

(श्री समयसार जी गाथा १४४ की टीका में से)

★ जो समस्त वस्तु झलके हैं सो हमारा ज्ञान स्वभाव, मैं अवलोकन करूँ हूँ, हमारे ज्ञान के बाह्य किसी वस्तु को मैं नाहीं देखू हूँ, नाहीं जानूं हूँ।

जो कदाचित् हमारा ज्ञान है सो निद्राकरि मुद्रित होई जाय तथा रोगादिकरि मूर्छाकरि मुद्रित हो जाय तो समस्त लोक विद्यमान है तो हू अभावरूप सा ही भया **याते हमारा लोक तो हमारा ज्ञान ही है।।१३३।।**

(श्री रत्नकरंड श्रावकाचार, टीकाकार पं. सुदासुखदास जी काशलीवाल, गाथा ११ के भावार्थ में से)

★ उपयोग उपयोग में है, क्रोधादि में कोई भी उपयोग नहीं है; और क्रोध क्रोध में ही है, उपयोग में निश्चय से क्रोध नहीं है।।१३४।।

(श्री समयसार जी गाथा १८१, गाथार्थ)

★ **पण्णाए घित्तव्वो जे चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।**
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्तिणादव्वा।।२९७।।

कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत, चेतक है सो ही मैं ही हूँ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरे से पर ही जानना।।२९७।।

प्रज्ञा के द्वारा (आत्मा को) इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये कि जो चेतने वाला है वह निश्चय से मैं हूँ, शेष जो भाव हैं वे मुझसे पर हैं ऐसा जानना चाहिये।।१३५।।

(श्री समयसार जी गाथा २९७ का गाथार्थ श्री कुंदकुंदाचार्य)

★ नियत स्वलक्षण का अवलम्बन करने वाली प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया गया जो यह चेतक (चेतने वाला, चैतन्य स्वरूप आत्मा) है सो यह मैं हूँ; और अन्य स्वलक्षणों से लक्ष्य (अर्थात् चैतन्य लक्षण के अतिरिक्त अन्य लक्षणों से जानने योग्य) जो यह शेष व्यवहार रूप भाव हैं, वे सभी चेतकत्वरूपी व्यापक के व्याप्य नहीं होते इसलिए मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। इसलिए मैं ही, अपने द्वारा ही, अपने लिए ही, अपने में से ही, अपने में

ही, अपने को ही ग्रहण करता हूँ। आत्मा की चेतना ही एक क्रिया है इसलिए, 'मैं ग्रहण करता हूँ' अर्थात् मैं चेतता ही हूँ, चेतता हुआ ही चेतता हूँ, चेतते हुए के द्वारा ही चेतता हूँ, चेतते हुए के लिए ही चेतता हूँ, चेतते हुए से ही चेतता हूँ, चेतते हुए में ही चेतता हूँ, चेतते को ही चेतता हूँ। अथवा न तो चेतता हूँ, न चेतता हुआ चेतता हूँ, न चेतते हुए के द्वारा चेतता हूँ, न चेतते हुए के लिये चेतता हूँ, न चेतते हुए से चेतता हूँ, न चेतते हुए में चेतता हूँ, न चेतते हुए को चेतता हूँ; किन्तु सर्वविशुद्ध चिन्मात्र (—चैतन्य मात्र) भाव हूँ।।१३६।।

(श्री समयसार जी गाथा २९७ की टीका)

★ **पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो।**
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा।।२९८।।

पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा।।२९९।।

कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत, दृष्टा है सो ही मैं ही हूँ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरे से पर ही जानना।।२९८।।

कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत, ज्ञाता है सो ही मैं ही हूँ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरे से पर ही जानना।।२९९।।

गाथार्थ :—[प्रज्ञया] प्रज्ञा के द्वारा [गृहीतव्य:] इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये कि—[य: द्रष्टा] जो देखने वाला है [स: तु] वह [निश्चयत:] निश्चय से [अहं] मैं हूँ, [अवशेषा:] शेष [ये भावा:] जो भाव हैं [ते] वे [मम परा:] मुझसे पर हैं [इति ज्ञातव्या:] ऐसा जानना चाहिये।

[प्रज्ञया] प्रज्ञा के द्वारा [गृहीतव्य:] इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये कि—[य: ज्ञाता] जो जानने वाला है [स: तु] वह [निश्चयत:] निश्चय से

[अहं] मैं हूँ, [अवशेषा:] शेष [ये भावा:] जो भाव हैं [ते] वे [मम परा:] मुझसे पर हैं [इति ज्ञातव्या:] ऐसा जानना चाहिये।।१३७।।

(समयसार जी, गाथा २९८, २९९ श्री कुंदकुंदाचार्य जी)

★ **टीका :**—चेतना दर्शनज्ञानरूप भेदों का उल्लंघन नहीं करती है इसलिये, चेतकत्व की भाँति दर्शकत्व और ज्ञातृत्व आत्मा का स्वलक्षण ही है। इसलिये मैं देखने वाला आत्मा को ग्रहण करता हूँ। 'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'देखता ही हूँ'; देखता हुआ ही देखता हूँ, देखते हुए के द्वारा ही देखता हूँ, देखते हुये के लिये ही देखता हूँ, देखते हुये से ही देखता हूँ, देखते हुये मे ही देखता हूँ, देखते हुये को ही देखता हूँ। अथवा—नहीं देखता; न देखते हुए को देखता हूँ, न देखते हुए के द्वारा देखता हूँ, न देखते हुए के लिये देखता हूँ न देखते हुये से देखता हूँ, न देखते हुये में देखता हूँ, न देखते हुए को देखता हूँ; किन्तु मैं सर्व विशुद्ध दर्शनमात्र भाव हूँ। और इसी प्रकार—मैं जानने वाले आत्मा को ग्रहण करता हूँ। 'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'जानता ही हूँ'; जानता हुआ ही जानता हूँ, जानते हुए के द्वारा ही जानता हूँ, जानते हुए के लिये ही जानता हूँ, जानते हुए से ही जानता हूँ, जानते हुए में ही जानता हूँ, जानते हुए को ही जानता हूँ। अथवा—नहीं जानता; न जानते हुए को जानता हूँ, नहीं जानते हुए के द्वारा जानता हूँ, न जानते हुए के लिये जानता हूँ, न जानते हुये से जानता हूँ न जानते हुए में जानता हूँ, न जानते हुए को जानता हूँ; किन्तु मैं सर्व विशुद्ध ज्ञप्ति (-जाननक्रिया) मात्र भाव हूँ। (इस प्रकार देखने वाले आत्मा को तथा जानने वाले आत्मा को कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप कारको के भेदपूर्वक ग्रहण करके, तत्पश्चात् कारक भेदों का निषेध करके आत्मा को अर्थात् अपने को दर्शनमात्र भावरूप तथा ज्ञानमात्र भावरूप अनुभव करना चाहिये अर्थात् अभेदरूप से अनुभव

करना चाहिये।।१३८।।

(श्री समयसार जी गाथा २९८, २९९ की टीका)

★ किस अपेक्षा से जीव का सामान्य लक्षण कहा है? "ववहारा" व्यवहार से-व्यवहारनय की अपेक्षा से कहा है। यहाँ केवलज्ञान-दर्शन के प्रति 'शुद्ध-सदभूत' शब्द से वाच्य 'अनुपचरित सद्‌भूत' व्यवहार है छद्मस्थ के अपूर्ण ज्ञान-दर्शन की अपेक्षा से 'अशुद्ध सदभूत' शब्द से वाच्य 'उपचरित सद्‌भूत' व्यवहार है और कुमति, कुश्रुत, कुअवधि—इन तीन ज्ञानों में 'उपचरित असद्‌भूत' व्यवहार है।

शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध अखण्ड केवलज्ञान और केवलदर्शन (गुणों) ये दोनों जीव का लक्षण है।।१३९।।

(श्री वृहद-द्रव्यसंग्रह गाथा-६ की टीका मे से श्री ब्रह्मदेव सूरि)

★ 'प्रमिति प्रमाण का फल (कार्य) है' इसमें किसी भी (वादी या प्रतिवादी) व्यक्ति को विवाद नही है। सभी को मान्य है। और वह प्रमिति अज्ञान निवृत्ति स्वरूप है। अत: उसकी उत्पत्ति में जो करण हो उसे अज्ञान विरोधी होना चाहिए। किन्तु इन्द्रियादिक अज्ञान के विरोधी नहीं है; क्योंकि अचेतन (जड) है अत: अज्ञान विरोधी चेतनधर्म—ज्ञान को ही करण मानना युक्त है। लोक में भी अंधकार को दूर करने के लिए उससे विरुद्ध प्रकाश को ही खोजा जाता है, घटादिक को नहीं। क्योंकि घटादिक अज्ञान के विरोधी नही है। अधकार के साथ भी वे रहते हैं इसलिए उनसे अंधकार की निवृत्ति नहीं होती। वह तो प्रकाश से ही होती है।

दूसरी बात यह है कि इन्द्रिय वगैरह अस्वसंवेदी (अपने को न जानने वाले) होने से पदार्थों का भी ज्ञान नहीं करा सकते हैं। **'जो स्वयम् अपना प्रकाश नहीं कर सकता वह दूसरे का भी प्रकाश नहीं**

करा सकता है। घट की तरह, ज्ञान दीपक की तरह अपना तथा अन्य पदार्थों का प्रकाशक है, यह अनुभव से सिद्ध है। अत: यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रिय वगैरह पदार्थों के ज्ञान कराने में साधकतम न होने के कारण करण (साधन) नहीं है। (इन्द्रियाँ अस्वसंवेदी होने से पदार्थ को जानने में साधकतम नहीं है क्योंकि जो अपने को जानने में असमर्थ है वह पर को भी नहीं जान सकता)।।१४०।।

(श्री न्याय दीपिका, पृष्ठ १४७-१४८)

★ **इन्द्रिय-विषयों निग्रह के, मन एकाग्र लगाय,**
आत्मा में स्थित आत्म को, ज्ञानी निज से ध्याय।।२२।।

अर्थ :—मन की एकाग्रता से इन्द्रियों के समूह को वश में करके आत्मवान पुरुष को अपने में ही स्थित आत्मा को आत्मा द्वारा ही ध्याना—चाहिये।।१४१।।

(श्री इष्टोपदेश, श्री पूज्यपादस्वामी, गाथा-२२ अर्थ)

★ ध्याना चाहिये—भाना चाहिए किसको ?

आत्मवान (पुरुष को) अर्थात् जिसने इन्द्रिय और मन को रोक लिया है (संयम में रखा है) अथवा जिसने इन्द्रिय और मन की स्वेच्छाचाररूप (स्वछंद) प्रवृत्ति का नाश कर दिया है, ऐसा आत्मा, आत्मा को आत्मा से ही अर्थात् स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष ज्ञान से ही ध्याना चाहिए। क्योंकि उस ज्ञप्ति में अन्य करण (साधन) का अभाव है। (स्वयम आत्मा ही ज्ञप्ति का साधन है) वह आत्मा स्व-पर ज्ञप्ति रूप होने से (अर्थात् वह स्वयम् स्व को और पर को भी जानता होने से उसे (उससे भिन्न) अन्य करण का (साधन का) अभाव है। इसलिए चिन्ता को छोड़कर स्व-संवित्ति (अर्थात स्वसंवेदन) द्वारा ही उसको जानना चाहिए।

आत्मा स्व-पर प्रतिभासस्वरूप है। *अर्थात् स्वपरप्रकाशक है।* उसमें स्वयम् को जानने पर, पर जानने में आ जाता है, इसलिए जानने के लिए उसे अन्य कारणों की (साधनों की) आवश्यकता नहीं रहती। 'स्वसंवेदन में ज्ञप्ति-क्रिया की निष्पत्ति के लिए दूसरा कोई करण अथवा साधकतम कारण नहीं है क्योंकि आत्मा स्वयम् स्व-परज्ञप्ति रूप है। इसलिए कारणांतर की (अन्य कारण की) चिन्ता छोड़कर स्व-ज्ञप्ति द्वारा ही आत्मा को जानना चाहिए।।१४२।।

(श्री इष्टोपदेश, पं. आशाधरजी टीका, गाथा-२२)

★ उस समय (समाधिकाल में) आत्मा में आत्मा को ही देखने वाले योगी को बाह्य (बाहर में) पदार्थों के होने पर भी परम एकाग्रता के कारण (आत्मा सिवाय) अन्य कुछ भी नहीं भासता (मालूम नहीं पड़ता)।।१४३।।

(श्री इष्टोपदेश में से उद्धृत पृष्ठ ९३, तत्वानुशासन श्लोक १७२ में से)

★ **विशेषों से अज्ञात रह, निजरूप में लीन होय।**
सर्व विकल्पातीत वह, छूटे, नहीं बंधाय।।४४।।

अन्वयार्थ :—दूसरे स्थान पर नहीं जाता (अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं करता योगी) उसके विशेषों का (अर्थात् देहादि के विशेषों का सौन्दर्य, असौन्दर्य आदि धर्मों का) अनभिज्ञ रहता है (उससे अनजान रहता है) **और विशेषों का अजान होने से वह बंधता नहीं है, परन्तु मुक्त होता है।**

टीका :—स्वात्म-तत्व में स्थिर हुआ योगी, जब दूसरी जगह नहीं जाता है—प्रवृत्ति नहीं करता है तब वह स्वात्मा से भिन्न शरीरादि के विशेषों से अर्थात् सौन्दर्य, असौन्दर्यादि धर्मों का अनभिज्ञ (अजान) रहता

है अर्थात् **वह जानने के लिए अभिमुख (उत्सुक) नहीं होता। और उन विशेषों से अज्ञात होने से उनमें उसको राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होता; इसलिए वह कर्मों से नहीं बंधता है।** तब क्या होता है? विशेष करके (खासकरके) व्रतादि अनुष्ठान (आचरण) करने वालों की अपेक्षा भी कर्मों से ज्यादा छूटता है।।१४४।।

(श्री इष्टोपदेश, गाथा ४४, अन्वयार्थ टीका)

★ **किसका, कैसा, कहाँ कहीं,—आदि विकल्प विहीन।**
जाने नहीं निज देह को, योगी आतमलीन।।४२।।

अन्वयार्थ :—योगपरायण (ध्यान में लीन) योगी, यह क्या है? कैसा है? किसका है? कहाँ है? इत्यादि भेदरूप विकल्प नहीं करता हुआ अपने शरीर को भी नहीं जानता (उसको अपने शरीर का भी ख्याल नहीं रहता है)।।१४५।।

(श्री इष्टोपदेश गाथा ४२)

★ **देखत भी नहीं देखता, बोले फिर भी अबोल।**
चाले फिर भी न चालता, तत्त्वस्थित अडोल।।४१।।

अन्वयार्थ :—जिसने आत्मतत्व के विषय में स्थिरता प्राप्त की है वह बोलते हुए भी नहीं बोलता, चलते हुए भी नहीं चलता, और देखते हुए भी नहीं देखता।

टीका :—जिसने आत्मतत्व के विषय में स्थिरता प्राप्त की है अर्थात् जिसने आत्मतत्व को दृढ़ प्रतीति का विषय बनाया है ऐसा योगी संस्कारवश दूसरे के उपरोध से बोलने पर भी वह बोलता ही नहीं है।... क्योंकि उसको बोलने के प्रति अभिमुखपने का अभाव है... सिद्धप्रतिमादि को देखने पर भी देखता ही नहीं है, यही इसका अर्थ है।।१४६।।

(श्री इष्टोपदेश गाथा ४१ अन्वयार्थ टीका में से)

★ जैसे-जैसे सुलभ (सहज प्राप्त) इन्द्रिय विषय भी नहीं रुचते वैसे-वैसे स्वात्म-संवेदन में उत्तम निजात्मतत्व आता जाता है।।१४७।।

(श्री इष्टोपदेश गाथा ३८ का अन्वयार्थ)

★ व्यवहारनय से केवली भगवान सब जानते हैं और देखते हैं; निश्चय से केवलज्ञानी आत्मा को (स्वयं को) जानता है और देखता है।।१४८।।

(श्री नियमसार जी, श्री कुंदकुंदाचार्य, गाथा-१५९)

★ यहाँ, ज्ञानी को स्व-पर स्वरूप का प्रकाशकपना कथंचित् कहा है।

'**पराश्रितो व्यवहारः** (व्यवहार पराश्रित है)'' ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से, व्यवहारनय से वे भगवान परमेश्वर परमभट्टारक आत्म-गुणों का घात करने वाले घाति कर्मों के नाश द्वारा प्राप्त सकल-विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन द्वारा त्रिलोकवर्ती तथा त्रिकालवर्ती सचराचर द्रव्यगुणपर्यायों को एक समय में जानते हैं और देखते हैं। शुद्ध निश्चय से परमेश्वर महादेवाधिदेव सर्वज्ञवीतराग को, परद्रव्य के ग्राहकत्व, दर्शकत्व, ज्ञायकत्व आदि के विविध विकल्पों की सेना की उत्पत्ति मूलध्यान में अभावरूप होने से (?) वे भगवान त्रिकाल-निरूपाधि, निरवधि (अमर्यादित), नित्यशुद्ध ऐसे सहजज्ञान और सहजदर्शन द्वारा निज कारणपरमात्मा को, स्वयं कार्यपरमात्मा होने पर भी, जानते हैं और देखते हैं। किस प्रकार ? इस ज्ञान का धर्म तो दीपक की भाँति स्व-पर प्रकाशकपना है। घटादि की प्रमिति से प्रकाश—दीपक (कथंचित्) भिन्न होने पर भी स्वयं प्रकाशस्वरूप होने से स्व और पर को प्रकाशित करता है; आत्मा भी ज्योतिस्वरूप होने से व्यवहार से त्रिलोक और त्रिकालरूप पर को तथा स्वयं प्रकाशस्वरूप आत्मा को (स्वयं को) प्रकाशित करता है।

अब ''स्वाश्रितो निश्चयः (निश्चय स्वाश्रित है)'' ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से, (ज्ञान को) सतत निरुपराग निरंजन स्वभाव में लीनता के

कारण निश्चय पक्ष से भी स्व-पर प्रकाशकपना है ही। (वह इस प्रकार:) सहजज्ञान आत्मा से संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से भिन्न नाम तथा भिन्न लक्षण से (तथा भिन्न प्रयोजन से) जाना जाता है तथापि वस्तुवृत्ति से (अखण्ड वस्तु की अपेक्षा से) भिन्न नहीं है; इस कारण से यह (सहजज्ञान) आत्मगत (आत्मा में स्थित) दर्शन, सुख, चारित्र आदि को जानता है और स्व आत्मा को—कारणपरमात्मा के स्वरूप को—भी जानता है।

सहजज्ञान स्व आत्मा को तो स्वाश्रित निश्चयनय से जानता ही है और इस प्रकार स्वात्मा को जानने पर उसके समस्त गुण भी ज्ञात हो ही जाते हैं। अब सहजज्ञान ने जो यह जाना उसमें भेद—अपेक्षा से देखें तो सहजज्ञान के लिए ज्ञान ही स्व है और उसके अतिरिक्त अन्य सब—दर्शन, सुख आदि पर हैं; इसलिए इस अपेक्षा से ऐसा सिद्ध हुआ कि निश्चयपक्ष से भी ज्ञान स्व को तथा पर को जानता है।।१४९।।

(श्री नियमसार जी टीका, गाथा १५९, श्री पद्मप्रभमलधारि देव)

★ ज्ञान, दर्शन धर्मों से युक्त होने के कारण आत्मा वास्तव में धर्मी है। सकल इन्द्रियसमूहरूपी हिम को (नष्ट करने के लिए) सूर्य समान ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव उसी में (अलग-अलग ज्ञान, दर्शन धर्मयुक्त आत्मा में ही) सदा अविचल स्थिति प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त होता है—कि जो मुक्ति प्रगट हुई सहजदशारूप से सुस्थित है।।१५०।।

(श्री नियमसार जी कलश २७९ श्री पद्मप्रभमलधारिदेव)

★ निश्चयनय से ज्ञान स्वप्रकाशक है; इसलिए दर्शन स्वप्रकाशक है। निश्चयनय से आत्मा स्वप्रकाशक है इसलिए दर्शन स्वप्रकाशक है।।१५१।।

(श्री नियमसार, श्री कुंदकुंदाचार्य गाथा १६५)

★ यह, निश्चयनय से स्वरूप का कथन है।

यहाँ निश्चयनय से शुद्ध ज्ञान का लक्षण स्वप्रकाशकपना कहा है; उसी प्रकार सर्व आवरण से मुक्त शुद्ध दर्शन भी स्वप्रकाशक ही है। आत्मा वास्तव में, उसने सर्व इन्द्रियव्यापार को छोड़ा होने से स्वप्रकाशक-स्वरूप लक्षण से लक्षित है; दर्शन भी, उसने बहिर्विषयपना छोड़ा होने से स्वप्रकाशकत्वप्रधान ही है। इस प्रकार स्वरूपप्रत्यक्ष—लक्षण से लक्षित अखण्ड-सहज-शुद्धज्ञान दर्शनमय होने के कारण, निश्चय से त्रिलोक-त्रिकालवर्ती स्थावर-जंगमस्वरूप समस्त द्रव्यगुणपर्यायरूप विषयों सम्बन्धी प्रकाश्य-प्रकाशकादि विकल्पों से अतिदूर वर्तता हुआ, स्वस्वरूपसंचेतन जिसका लक्षण है, ऐसे प्रकाश द्वारा सर्वथा अंतर्मुख होने के कारण, आत्मा निरन्तर अखण्ड-अद्वैत-चैतन्य-चमत्कारमूर्ति रहता है।।१५२।।

(श्री नियमसार गाथा १६५ टीका पद्मप्रभमलधारिदेव)

★ निश्चय से आत्मा स्वप्रकाशक ज्ञान है; जिसने बाह्य आलम्बन नष्ट किया है ऐसा (स्वप्रकाशक) जो साक्षात् दर्शन उस-रूप भी आत्मा है। एकाकार निज रस के विस्तार से पूर्ण होने के कारण जो पवित्र है तथा जो पुराण (सनातन) है ऐसा यह आत्मा सदा अपनी निर्विकल्प महिमा में निश्चित रूप से वास करता है।।१५३।।

(श्री नियमसार जी कलश-२८१, पद्मप्रभमलधारिदेव)

★ (निश्चय से) केवली भगवान आत्म स्वरूप को देखते हैं, लोकालोक को नहीं—ऐसा यदि कोई कहे तो उसे क्या दोष है ? (अर्थात् कुछ दोष नहीं है)।।१५४।।

(श्री नियमसार, कुंदकुंदाचार्यदेव गाथा १६६)

★ यह, शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा से परदर्शन का (पर को देखने का)

खण्डन है।

यद्यपि व्यवहार से एक समय में तीन काल सम्बन्धी पुद्गलादि द्रव्यगुणपर्यायों को जानने में समर्थ सकल-विमल केवलज्ञानमयत्वादि विविध महिमाओं का धारण करने वाला है, तथापि वह भगवान, केवलदर्शनरूप तृतीय लोचनवाला होने पर भी, परम निरपेक्षपने के कारण निःशेषरूप से (सर्वथा) अंतर्मुख होने से केवल स्वरूपप्रत्यक्षमात्र व्यापार में लीन ऐसे निरंजन निज सहज दर्शन द्वारा सच्चिदानन्दमय आत्मा को निश्चय से देखता है (परन्तु लोकालोक को नहीं)—ऐसा जो कोई भी शुद्ध अन्तः तत्व का वेदन करने वाला (जानने वाला, अनुभव करने वाला) परम जिनयोगीश्वर शुद्ध निश्चयनय की विवक्षा से कहता है उसे वास्तव में दूषण नहीं है।।१५५।।

(श्री नियमसार, गाथा-१६६ टीका श्री पद्मप्रभमलधारिदेव)

★ **पश्यत्यात्मा सहजपरमात्मानमेकं विशुद्धं**
स्वान्तः शुद्ध्यावसथमहिमा धारमत्यन्तधीरम्।
स्वात्मन्युच्चैरविचलतया सर्वदान्तर्निमग्नं
तस्मिन्नेव प्रकृतिमहति व्यावहारप्रपंचः।।२८२।।

(निश्चय से) आत्मा सहज परमात्मा को देखता है—कि जो परमात्मा एक है, विशुद्ध है, निज अन्तः शुद्धि का आवास होने से (केवल ज्ञानदर्शनादि) महिमा का धारण करने वाला है, अत्यन्त धीर है और निज आत्मा में अत्यन्त अविचल होने से सर्वदा अन्तर्मग्न है। स्वभाव से महान ऐसे उस आत्मा में व्यवहारप्रपंच (विस्तार) है ही नहीं। (अर्थात् निश्चय से आत्मा में लोकालोक को देखनेरूप व्यवहार विस्तार है ही नही।।१५६।।

(श्री नियमसार कलश-२८२ श्री पद्मप्रभमलधारिदेव
द्वितीयावृति, १९७४, विक्रम संवत् २०३०)

★ यमियों को आत्मज्ञान से क्रमशः आत्मलब्धि होती है—कि जिस आत्मलब्धि ने ज्ञान ज्योति द्वारा इन्द्रिय समूह के घोर अंधकार का नाश किया है तथा जो आत्मलब्धि कर्मवन से उत्पन्न दावानल की शिखाजाल का नाश करने के लिये उस पर सतत् समजलमयी धारा को तेजी से छोड़ती है—बरसाती है।।१५७।।

(श्री नियमसार कलश १८६ श्री पद्मप्रभमलधारी देव)

★ और कैसी है आत्मज्योति ? "उन्नीयमानं" चेतना लक्षण से जानी जाती है, इसलिये अनुमान गोचर भी है। अब दूसरा पक्ष—"उद्योतमानं" प्रत्यक्ष ज्ञानगोचर है। भावार्थ इस प्रकार है—जो भेद बुद्धि करते हुए जीववस्तु चेतना लक्षण से जीव को जानती है। वस्तु विचारने पर इतना विकल्प भी झूठा है, शुद्ध वस्तु मात्र है। ऐसा अनुभव सम्यक्त्व है।।१५८।।

(श्री समयसार कलश टीका-श्लोक-८ टीका में से पांडे श्री राजमलजी)

★ और कैसा होने से शुद्ध है ? "सर्वभावांतरध्वंसिस्वभावत्वात्" (सर्व) समस्त द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म अथवा ज्ञेयरूप परद्रव्य ऐसे जो (भावांतर) उपाधि रूप विभाव भाव उनका (ध्वंसि) मेटनशील है। निज-स्वरूप जिसका, ऐसा स्वभाव होने से शुद्ध है।।१५९।।

(श्री समयसार कलश टीका, कलश-१८ की टीका में से पांडे श्री राजमल जी)

★ कोई प्रश्न करता है कि जो अनुभव को प्राप्त करते हैं वे अनुभव को प्राप्त करने से कैसे होते हैं ? उत्तर इस प्रकार है कि वे निर्विकार होते हैं, वही कहते हैं—"त एव सन्ततं मुकुरवत् अविकाराः स्युः" (त एव) अर्थात् वे ही जीव (सन्ततं) निरन्तर (मुकुरवत्) दर्पण के समान

(अविकाराः राग-द्वेष रहित (स्युः) हैं। किनसे निर्विकार हैं? "प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावैः" (प्रतिफलन) प्रतिबिम्बरूप से (निमग्न) गर्भित जो (अनन्तभाव) सकल द्रव्यों के (स्वभावैः) गुण-पर्याय, उनसे निर्विकार हैं। भावार्थ इस प्रकार है—जो जीव के शुद्ध स्वरूप का अनुभव करता है उसके ज्ञान में सकल पदार्थ उद्दीप्त होते हैं, उसके भाव अर्थात् गुण-पर्याय, उनसे निर्विकाररूप अनुभव है।।१६०।।

(श्री समयसार कलश टीका, कलश २१ टीका में से पांडे राजमल जी)

★ **क्षायोपशमिक ज्ञान के विकल्प का स्वरूप**

अन्वयार्थ :—(योग संक्रांतिः) मन वचन काय की प्रवृत्ति के परिवर्तन को (विकल्पः) विकल्प कहते हैं, अर्थात् (ज्ञेयार्थात्) एक ज्ञान के विषयभूत अर्थ से (ज्ञेयार्थान्तर संगतः) दूसरे विषयान्तरत्व को प्राप्त हान वाली (सः) जो (ज्ञेयाकारः) ज्ञेयाकाररूप (ज्ञानस्य पर्ययः) ज्ञान की पर्याय (सः विकल्पः) यह विकल्प कहलाता है।

भावार्थ :—मन वचन काय के अवलम्बन से विषय से विषयान्तररूप जो ज्ञान की प्रवृत्ति (व्यापार) होती है उसे विकल्प कहते हैं।।१६१।।

(श्री पंचाध्यायी उत्तरार्ध गाथा ८३१)

★ **अन्वयार्थ :**—वास्तव में इन्द्रियों के विषयों का अवलम्बन लेकर उत्पन्न होने वाली वह सविकल्प ज्ञान की पर्याय क्षायोपशमिक है, क्योंकि अतीन्द्रिय—क्षायिक—केवलज्ञान में संक्रांति नहीं होती है। अतः उसमें योगावलम्बन से किसी प्रकार का परिवर्तन रूप विकल्प भी संभव नहीं है।

भावार्थ :—योग संक्रांति रूप विकल्प केवल क्षयोपशमजन्य इन्द्रियजनित ज्ञान में ही सम्भव है। क्योंकि स्वाभाविक अतीन्द्रिय क्षायिक ज्ञान में, संक्रांति के न होने से, वह योगसंक्रांतिरूप विकल्प नहीं होता है इससे यही अभिप्राय समझना चाहिए कि ज्ञान का इस प्रकार सविकल्प होना नैमित्तिक स्वरूप है वास्तविक नहीं है। अत: वह वास्तव में सम्यक्त्व का स्वरूप नहीं हो सकता है। ('विकल्प' विशेष—क्षायोपशमिक ज्ञान को लागू पडता है परन्तु ज्ञान सामान्य का वह स्वलक्षणभूत नहीं है। देखो गाथा ९०१)।।१६२।।

(श्री पंचाध्यायी उत्तरार्ध गाथा ८३२)

★ 'विकल्प' शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक तो—आकार, व्यवसाय, निश्चय, स्व-परप्रकाशक तथा दूसरा—अर्थ से अर्थान्तर रूप होने वाली संक्रांति। उनमें से आकार-व्यवसायरूप विकल्प का अर्थ ज्ञान का स्वलक्षण है। इसलिए उसका यहाँ पर खण्डन नहीं किया गया है। किन्तु योगसंक्रांति के अनुसार छद्मस्थ—ज्ञानियों के ज्ञान में जो अर्थ से अर्थान्तररूप परिणमन होता है वह परीक्षा करने पर सम्यक्दर्शन के समान सम्यग्ज्ञान में भी सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि वह ज्ञान का स्वरूप नहीं है। किन्तु ज्ञान के साथ होने वाली राग क्रिया का स्वरूप है। अब आगे इसी अर्थ का खुलासा करते हैं।

अन्वयार्थ :—और जो इस विषय में किन्हीं—स्थूलदृष्टि पुरुषों ने सम्यकदर्शन और सम्यग्ज्ञान में सविकल्पपना कहा है वह उपचार से ही कहा है अत: यहाँ पर इस उपचार का जो कारण है उसको ही वास्तव में अब कहते हैं।

भावार्थ :—किन्हीं किन्हीं आचार्यों ने स्थूल उपचारदृष्टि से सम्यकदृष्टियों के सराग सम्यकत्व और उनके सम्यग्ज्ञान में

अर्थसंक्रांतिरूप—सविकल्पपना कहा है वह मात्र उपचार से ही कहा है। इसलिए अब इस उपचार के प्रयोजन को यहाँ कहते हैं—

अन्वयार्थ :—जिस क्षायोपशमिक ज्ञान को अर्थ से अर्थान्तर को विषय करने के कारण सविकल्प माना जाता है वह वास्तव में ज्ञान का स्वरूप नहीं है परन्तु निश्चय से उस ज्ञान के साथ में होने वाली राग की क्रिया है।

भावार्थ :—क्षायोपशमिक ज्ञान जो प्रत्येक अर्थपरिणामी होता रहता है, वह प्रत्येक अर्थपरिणामी होना वह कहीं ज्ञान का स्वरूप नहीं है परन्तु उस ज्ञान के साथ में होने वाली रागपरिणति का स्वरूप है। आगे इसी का खुलासा करते हैं।

अन्वयार्थ :—जैसेकि जो ज्ञान प्रत्येक अर्थ के प्रति मोहयुक्त, रागयुक्त अथवा द्वेषयुक्त होता रहता है यही ज्ञान का प्रत्येक अर्थसंबन्धी प्रत्यर्थपरिणामित्व (परिणामीपना) है।

भावार्थ :—संसारी जीवों के ज्ञान की जो रागद्वेषादिक के अनुसार प्रवृत्ति हो रही है—वही ज्ञान का प्रत्यर्थपरिणामीपना है। और इस प्रत्यर्थपरिणामित्व को ज्ञान का स्वलक्षणभूत विकल्प नहीं कह सकते हैं। किन्तु यह तो राग की क्रिया है। क्षायोपशमिक ज्ञान और बुद्धिपूर्वक रागादिक का छठवें गुणस्थान तक मात्र सहभाव पाया जाता है। इसलिए इस उपचार से उसे अर्थसंक्रांतिरूप विकल्प सहित कह देना, वो अलग (दूसरी) बात है, परन्तु वास्तव में अर्थसंक्रांतिरूप—विकल्पत्व ज्ञान का धर्म नहीं कहा जा सकता है।

अन्वयार्थ :—स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से यह पूर्वोक्त—कथन सिद्ध होता है क्योंकि जैसे—रागी पुरुष का रागसहित ज्ञान, आकुलित होता है वैसे

(वीतराग) मुनि का नहीं होता है।

भावार्थ :—उपर्युक्त यह कथन स्वानुभव से भी सिद्ध होता है, कारण कि—जैसा रागी का ज्ञान चंचल रहता है वैसा वीतरागी मुनि का नहीं रहता है।

अन्वयार्थ :—बुद्धिपूर्वक राग क्षायोपशमिक ज्ञान के साथ अविनाभाव संबंध रखता है। कारण कि—अज्ञात (नहीं जाने हुए) अर्थ में आकाशपुष्प की तरह राग भाव नहीं होता है।

भावार्थ :—क्षायोपशमिक ज्ञान और बुद्धिपूर्वक राग का सहयोग है। जानी हुई वस्तु के प्रति राग-भाव होता है परन्तु नहीं जानी हुई वस्तु के सम्बन्ध में 'यह वस्तु अच्छी है' ऐसा रागभाव नहीं होता है इसलिए क्षायोपशमिक ज्ञान के अनुसार ही छद्मस्थों के राग की प्रवृत्ति पाई जाती है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार राग के कारण से ज्ञान में अर्थान्तररूप परिवर्तन होता रहता है वह ज्ञान का स्वरूप नहीं है परन्तु राग क्रिया है।।१६३।।

(श्री पंचाध्यायी उत्तरार्ध, गाथा ९०१ से ९०६)

★ **अन्वयार्थ :**—स्वलक्षण की अपेक्षा से क्षायिक ज्ञान में जो विकल्पपना है वह एक अर्थ से दूसरे अर्थ के विषय में मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के अवलम्बन से होने वाली संक्रांतिरूप विकल्प शब्द के अर्थ की अपेक्षा से नहीं है।

भावार्थ :—ज्ञानगुण साकार है, शेषगुण निराकार हैं। ज्ञानगुण के साकार होने से ही उसके द्वारा वस्तु का वस्तुत्व और निजस्वरूप भी जाना जाता है। तथा जितने भी गुणों का उल्लेख किया जाता है वह सब उन सब गुणों के विकास होने से इस ज्ञानगुण में होने वाली उन विकासों की

अविनाभावी पर्यायों के उल्लेख से ही उन शेष गुणों का निरूपण किया जाता है। इस प्रकार का ज्ञान का स्वलक्षणरूप सविकल्पपना तो क्षायिकज्ञान में भी है। किन्तु अर्थ से अर्थान्तराकार योगसंक्रांतिरूप सविकल्पपना—क्षायिक ज्ञान में नहीं है। ज्ञान के स्वलक्षणभूत विकल्पत्व में और क्षायोपशमिक ज्ञान के पर निमित्त से होने वाले योगसंक्रांतिरूप विकल्पत्व में बड़ा भारी अन्तर है। इसी विषय का खुलासा करते हैं।।१६४।।

(श्री पंचाध्यायी उत्तरार्ध, गाथा ८३३)

★ अन्वयार्थ :—स्व और अपूर्व अर्थ को विशेष ग्रहण करना यह ज्ञान का लक्षण है। अर्थ एक है, तथा आत्मा को जो ग्रहण करना वह आकार कहलाता है। और यही सविकल्पता क्षायिक ज्ञान में होती है।

भावार्थ :—केवलज्ञान में ज्ञान गुण तो "स्व" शब्द से ग्रहीत होता है तथा ज्ञान सिवाय बाकी के अनंतगुण "अपूर्वार्थ" शब्द से ग्रहीत होते हैं। और "ग्रहण" शब्द से आकार का बोध होता है। इस प्रकार ज्ञान के द्वारा अपने अनंत गुणों के ग्रहण को 'स्वापूर्वार्थ ग्रहणात्मक आकार' अथवा सविकल्पता कहते हैं। (देखो अध्याय २, गाथा ३९२ से ३९८)।।१६५।।

(श्री पंचाध्यायी उत्तरार्ध, गाथा ८३४)

★ **अन्वयार्थ** :—इन्द्रियजन्य ज्ञान तो कहीं भी—योगसंक्रांति के बिना नहीं होता है। क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान की क्षण में भी अर्थ से अर्थान्तररूप संक्रांति होती रहती है।

भावार्थ :—इन्द्रियजन्य ज्ञान में प्रतिसमय अर्थ से अर्थान्तररूप परिवर्तन होता ही रहता है; इसलिए इन्द्रियजन्य ज्ञान संक्रांति सहित होता है, कभी भी वह संक्रांति के बिना नहीं होता है।

अन्वयार्थ :—तथा यह इन्द्रियज्ञान क्रमवर्ती है, अक्रमवर्ती नहीं है। क्योंकि वह एक व्यक्तिको—विवक्षित अर्थ को छोड़कर अर्थान्तर (अन्य अर्थ) को विषय करने लगता है।

भावार्थ :—इन्द्रियजन्य ज्ञान, एक समय में एक विषय को विषय करके, और फिर उसे छोड़कर, दूसरे समय में दूसरे ही विषय को विषय करता है। परन्तु एकसाथ (युगपद्) भिन्न समयवर्ती विषयों को विषय नहीं करता है इसलिए वह क्रमवर्ती ही है, अक्रमवर्ती नहीं है।।१६६।।

(श्री पंचाध्यायी उत्तरार्ध, गाथा ८३६, ८३७)

★ **अन्वयार्थ :**—समव्याप्ति होने के कारण अभिन्न की तरह उन दोनों की—अर्थ से अर्थान्तर गति और योगसंक्रांति की यह वृत्ति (पलटना) अवश्य होनी है—यह योगसंक्रांति उस इन्द्रियज्ञान के होने पर ही होती है, परन्तु अतीन्द्रियज्ञान में नहीं होती है। योगसंक्रांति के होने पर ही अर्थ से अर्थान्तर रूप गति होती है और उसके सिवाय अर्थान्तर गति नहीं होती है। अर्थात् योगसंक्रांति होने पर अर्थान्तर गति ना होवे—ऐसा नहीं हो सकता। और अर्थान्तर गति होने पर योगसंक्रांति ना हो—ऐसा भी नहीं हो सकना। इसलिए योगसंक्रांति और अर्थ से अर्थान्तर गति में समव्याप्ति होने के कारण एक प्रकार से अद्वैत है।

भावार्थ :—योगसंक्रांति और इन्द्रियज्ञान अर्थात् अर्थ से अर्थान्तर गति इन दोनों में परस्पर समव्याप्ति है। जहाँ जहाँ योगसंक्रांति होती है वहाँ वहाँ ज्ञान सम्बन्धी अर्थान्तर गति भी होती है अथवा जहाँ जहाँ इन्द्रियज्ञान की अर्थान्तर गति होती है वहाँ वहाँ योगसंक्रांति भी अवश्य होती है, कारण कि ये दोनों परस्पर एक-दूसरे के अभाव में नहीं रहते हैं। इसलिए इन दोनों की व्याप्ति को समव्याप्ति बताया है।।१६७।।

(श्री पंचाध्यायी उत्तरार्ध, गाथा ८३८)

★ छद्मस्थों के उपयोगात्मक ज्ञान में ही योगसंक्रांति के निमित्त से होने वाला ज्ञान के विपरिणमनरूप विकल्प होता है, लब्ध्यात्मक ज्ञान में नहीं, इसलिए स्वानुभूति की (ज्ञान चेतना की) लब्धि, उपयोगात्मक न होने से निर्विकल्प है।।१६८।।

(श्री पंचाध्यायी उत्तरार्ध, गाथा ८५५ का भावार्थ)

★ **अन्वयार्थ** :—वास्तव में स्वयं ज्ञानचेतनारूप जो शुद्ध स्वकीय आत्मा का उपयोग है वह संक्रांत्यात्मक न होने से निर्विकल्प रूप ही है;

भावार्थ :—जिस समय ज्ञानचेतनारूप शुद्ध आत्मोपयोग होता है उस समय उस उपयोग में अर्थ से अर्थान्तर-गति नहीं होती है। इसलिए उतने समय तक वह उपयोग भी निर्विकल्प ही है।।१६९।।

(श्री पंचाध्यायी उत्तरार्ध, गाथा ८५६)

★ **अन्वयार्थ** :—ज्ञानोपयोग के स्वभाव की महिमा ही कुछ ऐसी है कि वह (ज्ञानोपयोग) प्रदीप की तरह स्व और पर उभय के आकार का युगपत् प्रकाशक है।।१७०।।

(श्री पंचाध्यायी उत्तरार्ध, गाथा ८५८)

★ ऐसा ज्ञायक पुरुष तो प्रत्यक्ष साक्षात् विद्यमान दीसे है अर यह जहाँ तहाँ ज्ञान का प्रकाश मने (मुझे) दीसे है, शरीर कूं दीसता नाहीं। मैं एक ज्ञान ही का स्वच्छ निर्मल पिण्ड बन्या हूँ।।१७१।।

(श्री ज्ञानानंद श्रावकाचार, ब्र. रायमल जी कृत मोक्ष अधिकार)

★ **अन्वयार्थ** :—[यः हि] जो [चतुर्भिः प्राणैः] चार प्राणों से [जीवति] जीता है, [जीविष्यति] जियेगा, [जीवितः पूर्वं] और पहले जीता था, [सः जीवः] वह जीव है। [पुनः] फिर भी [प्राणाः] प्राण तो [पुद्गलद्रव्यैः

निर्वृत्ता:] पुद्गल द्रव्यों से निष्पन्न (रचित) है।।१७२।।

(श्री प्रवचनसार जी १४७ गाथा, श्री कुंदकुंदाचार्य जी)

★ **टीका** :—(व्युत्पत्ति के अनुसार) जो प्राणसामान्य से जीता है, जियेगा, और पहले जीता था वह जीव है। इस प्रकार (प्राणसामान्य) अनादि संतानरूप (प्रवाहरूप) से प्रवर्तमान होने से (संसार दशा में) त्रिकाल स्थायी होने से प्राणसामान्य जीव के जीवत्व का हेतु है ही, तथापि वह उसका स्वभाव नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य से रचित है।।१७३।।

(श्री प्रवचनसार गाथा, १४७ की टीका, श्री अमृतचंद्राचार्य)

★ **भावार्थ** :—यद्यपि निश्चय से जीव सदा ही भावप्राण से जीता है, तथापि संसार दशा में व्यवहार से उसे व्यवहारजीवत्व के कारणभूत इन्द्रियादि द्रव्यप्राणों से जीवित कहा जाता है। ऐसा होने पर भी वे द्रव्यप्राण आत्मा का स्वरूप किंचित् मात्र नहीं हैं, क्योंकि वे पुद्गल द्रव्य से निर्मित हैं।।१७४।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १४७ का भावार्थ)

★ अब, प्राणों की पौद्गलिकता सिद्ध करते हैं :—

अन्वयार्थ :—[मोहादिकैः कर्मभिः] मोहादिक कर्मों से [बद्धः] बँधा हुआ होने से [जीवः] जीव [प्राणनिबद्धः] प्राणों से संयुक्त होता हुआ [कर्मफलं उपभुंजानः] कर्मफल को भोगता हुआ [अन्यैः कर्मभिः] अन्य कर्मों से [बध्यते] बंधता है।।१७५।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा १४८, श्री कुंदकुंदाचार्य जी)

★ **टीका** :—(१) मोहादिक पौद्गलिक कर्मों से बँधा हुआ होने से जीव प्राणों से संयुक्त होता है, और (२) प्राणों से संयुक्त होने के कारण पौद्गलिक कर्मफल को (मोही रागी द्वेषी जीव मोह रागद्वेषपूर्वक) भोगता

हुआ पुनः भी अन्य पौद्‌गलिक कर्मों से बंधता है, इसलिये (१) पौद्‌गलिक कर्म के कार्य होने से, और (२) पौद्‌गलिक कर्म के कारण होने से प्राण पौद्‌गलिक ही निश्चित होते हैं।।१७६।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा १४८ की टीका, श्री अमृतचंद्राचार्य)

★ अब, प्राणों के पौद्‌गलिक कर्म का कारणत्व प्रगट करते हैं :—

अन्वयार्थ :—[यदि] यदि [जीवः] जीव [मोहप्रद्वेषाभ्यां] मोह और द्वेष के द्वारा [जीवयोः] (स्व तथा पर) जीवों के [प्राणाबाधं करोति] प्राणों को बाधा पहुँचाते हैं, [सः हि] तो पूर्वकथित [ज्ञानावरणादिकर्मभिः बंधः] ज्ञानावरणादिक कर्मों के द्वारा बंध [भवति] होता है।।१७७।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा १४९, श्री कुंदकुंदाचार्य)

★ **टीका :**—पहले तो प्राणों से जीव कर्मफल को भोगता है; उसे भोगता हुआ मोह तथा द्वेष को प्राप्त होता है; और उनसे स्वजीव तथा परजीव के प्राणों को बाधा पहुँचाता है। वहाँ कदाचित् दूसरे के द्रव्य प्राणों को बाधा पहुँचाकर और कदाचित् बाधा न पहुँचाकर, अपने भाव प्राणों को तो उपरक्तता से (अवश्य ही) बाधा पहुँचाता हुआ जीव ज्ञानावरणादि कर्मों को बाँधता है। इस प्रकार प्राण पौद्‌गलिक कर्मों के कारणत्व को प्राप्त होते हैं।।१७८।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा १४९ की टीका, श्री अमृतचंद्राचार्य)

★ **भावार्थ :**—द्रव्य प्राणों की परम्परा चलते रहने का अन्तरंग कारण अनादि पुद्‌गलकर्म के निमित्त से होने वाला जीव का विकारी परिणमन है। जब तक जीव देहादि विषयों के ममत्वरूप विकारी परिणमन को नहीं छोड़ता तब तक उसके निमित्त से पुनः पुनः पुद्‌गलकर्म बँधते रहते हैं और उससे पुनः पुनः द्रव्य प्राणों का सम्बन्ध होता रहता है।।१७९।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा १५० का भावार्थ)

★ अब पौद्गलिक प्राणों की संतति की निवृत्ति का अंतरंग हेतु समझाते हैं :—

अन्वयार्थ :—[यः] जो [इन्द्रियादिविजयीभूत्वा] इन्द्रियादि का विजयी होकर [उपयोगं आत्मकं] उपयोगमात्र आत्मा का [ध्यायति] ध्यान करता है, [सः] वह [कर्मभिः] कर्मों के द्वारा [न रज्यते] रंजित नहीं होता; [तं] उसे [प्राणाः] प्राण [कथं] कैसे [अनुचरंति] अनुसरण कर सकते हैं ? (अर्थात् उसके प्राणों का सम्बन्ध नहीं होता)।।१८०।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा १५१ का अन्वयार्थ, श्री कुंदकुंदाचार्य)

★ **टीका :**—वास्तव में पौद्गलिक प्राणों के संतति की निवृत्ति का अंतरंग हेतु पौद्गलिक कर्म जिसका कारण (-निमित्त) है ऐसी उपरक्तता का अभाव है। और वह अभाव, जो जीव समस्त इन्द्रियादिक परद्रव्यों के अनुसार परिणति का विजयी होकर, (अनेक वर्णों वाले) आश्रयानुसार सारी परिणति से व्यावृत्त भिन्न भिन्न जुदा (पृथक् अलग) हुये स्फटिक मणि की भाँति, अत्यन्त विशुद्ध उपयोग मात्र अकेले आत्मा में सुनिश्चलतया वसता है, उस (जीव) के होता है।

यहाँ यह तात्पर्य है कि—आत्मा की अत्यन्त विभक्तता सिद्ध करने के लिये व्यवहारजीवत्व के हेतुभूत पौद्गलिक प्राण इस प्रकार उच्छेद करने योग्य हैं।।१८१।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १५१ की टीका, श्री अमृतचंद्राचार्य)

★ **भावार्थ :**—जैसे अनेक रंगयुक्त आश्रयभूत वस्तु के अनुसार जो (स्फटिक मणि का) अनेकरंगी परिणमन है, उससे सर्वथा व्यावृत्त हुये स्फटिक मणि के उपरक्तता का अभाव है, उसी प्रकार अनेक प्रकार के कर्म व इन्द्रियादि के अनुसार जो (आत्मा का) अनेक प्रकार का विकारी परिणमन है, उससे सर्वथा व्यावृत्त हुये आत्मा के (जो एक उपयोग मात्र आत्मा में

सुनिश्चलतया वसता है, उसके) उपरक्तता का अभाव होता है। उस अभाव से पौदगलिक प्राणों की परम्परा अटक जाती है।

इस प्रकार पौद्गलिक प्राणों का उच्छेद करने योग्य है।।१८२।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा १५१ का भावार्थ)

★ (व्यवहार से कहे जाने वाले एकेन्द्रियादि तथा पृथ्वीकायकादि 'जीवों में') इन्द्रियाँ जीव नहीं हैं और छह प्रकार की शास्त्रोक्त कायें भी जीव नहीं हैं; उनमें जो ज्ञान है वह जीव है ऐसी (ज्ञानी) प्ररूपणा करते हैं।।१८३।।

(श्री पंचास्तिकाय, गाथा १२१, श्री कुंदकुंदाचार्य)

★ यह व्यवहार जीवत्व के एकान्त की प्रतिपत्ति का खण्डन है (अर्थात् जिसे मात्र व्यवहारनय से जीव कहा जाता है उसका वास्तव में जीवरूप से स्वीकार करना उचित नहीं ऐसा यहाँ समझाया है)। जो यह एकेन्द्रियादि तथा पृथ्वीकायिकादि 'जीव' कहे जाते हैं वे अनादि जीव पुद्गल का परस्पर अवगाह देखकर व्यवहारनय से जीव के प्राधान्य द्वारा (-जीव को मुख्यता देकर) 'जीव' कहे जाते हैं। निश्चयनय से उनमें स्पर्शनादि इन्द्रियाँ तथा पृथ्वी आदि कायें, जीव के लक्षणभूत चैतन्यस्वभाव के अभाव के कारण, जीव नहीं है; उन्हीं में जो स्व-पर की ज्ञप्ति रूप से प्रकाशित ज्ञान है वही, गुण-गुणी के कथंचित् अभेद के कारण, जीवरूप से प्ररूपित किया जाता है।।१८४।।

(श्री पंचास्तिकाय, गाथा १२१ की टीका)

★ शुद्ध स्वरूप में अविचलित चैतन्यपरिणति सो यथार्थ ध्यान है। वह ध्यान प्रगट होने की विधि अब कही जाती है—जब वास्तव में योगी, दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का विपाक पुद्गल कर्म होने से उस विपाक को (अपने से भिन्न ऐसे अचेतन) कर्मों में समेट कर, तदनुसार

परिणति से उपयोग को व्यावृत करके (-उस विपाक के अनुरूप परिणमन में से उपयोग का निवर्तन करके), मोही, रागी और द्वेषी न होने वाले ऐसे उस उपयोग को अत्यन्त शुद्ध आत्मा में ही निष्कंपरूप से लीन करता है, तब उस योगी को—जो कि अपने निष्क्रिय चैतन्यरूप स्वरूप में विश्रांत है, वचन-मन-काया को नहीं भाता और स्वकर्मों में व्यापार नहीं करता उसे—सकल शुभाशुभ कर्मरूप ईंधन को जलाने में समर्थ होने से अग्निसमान ऐसा, परमपुरुषार्थ-सिद्धि के उपायभूत ध्यान प्रगट होता है।।१८५।।

(श्री पंचास्तिकाय, गाथा १४६ की टीका)

★ **प्रश्न** :—पद्मनन्दी पंचविंशति में ऐसा कहा है कि—जो बुद्धि आत्मस्वरूप से निकलकर बाहर शास्त्रों में विचरती है, सो वह बुद्धि व्यभिचारिणी है ?

उत्तर :—यह सत्य कहा है, क्योंकि बुद्धि तो आत्मा की है, उसे छोड़कर परद्रव्य-शास्त्रों में अनुरागिनी हुई, इसलिये उसे व्यभिचारिणी ही कहा जाता है।।१८६।।

(श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक, सातवां अधिकार, निश्चयभासी प्रकरण, पृष्ठ नं. २०७ पं. श्री टोडरमल जी)

★ जो बुद्धि अपने चैतन्यरूपी जो कुलग्रह उससे निकली हुई है अर्थात् जो बाह्य शास्त्ररूपी वन में विहार करने वाली है और अनेक प्रकार के विकल्पों को धारण करने वाली है ऐसी वह बुद्धि उत्तम बुद्धि नहीं किन्तु दुराचारिणी स्त्री के समान निकृष्ट है।।१८७।।

(श्री पद्मनन्दी पंचविंशतिका, सद्बोध चन्द्रोदय अधिकार, गाथा ३८ का अर्थ)

★ जिस प्रकार अपने घर से निकलकर बाह्य वनों में भ्रमण करने

वाली और अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प को धारण करने वाली स्त्री कुलटा समझी जाती है और निकृष्ट समझी जाती है। उसी प्रकार जो बुद्धि अपने चैतन्य रूपी मंदिर से निकलकर बाह्य शास्त्रों में विहार करने वाली है, और अनेक विकल्पों को धारण करने वाली है अर्थात् स्थिर नहीं है। ऐसी बुद्धि उत्तम बुद्धि नहीं समझी जाती इसलिए अपनी आत्मा के हित के अभिलाषियों को चाहिए कि वे अपने आत्मा के स्वरूप से भिन्न पदार्थों में अपनी बुद्धि को भ्रमण न करने देवें और स्थिर रखें उसी समय उनकी बुद्धि उत्तम बुद्धि हो सकती है।।१८८।।

(श्री पद्मनन्दी पंचविंशतिका, गाथा ३८ का भावार्थ)

★ परन्तु (मात्र) पुद्गल परिणाम के ज्ञान को (आत्मा के) कर्मपने करता हुआ अपने आत्मा को जानता है, वह आत्मा (कर्म, नोकर्म से) अत्यन्त भिन्न ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानी है।।१८९।।

(श्री समयसारजी, गाथा ७५ की टीका में से)

★ बहिरात्मा इन्द्रिय-द्वारों से बाह्य पदार्थों को ही ग्रहण करने में प्रवृत्त होने से आत्मज्ञान से पराङ् मुख-वंचित होता है; इसलिए वह अपने शरीर को मिथ्या अभिप्रायपूर्वक आत्मारूप से समझता है।।१९०।।

(श्री समाधितंत्र, गाथा ७ का अर्थ, श्री पूज्यपादस्वामी)

★ इन्द्रियरूप द्वारों से अर्थात् इन्द्रिय रूप मुख से बाहर के पदार्थों के ग्रहण में रुका हुआ होने से वह बहिरात्मा—मूढ़ात्मा है। वह आत्मज्ञान से परान्मुख अर्थात् जीवस्वरूप के ज्ञान से बहिर्भूत है। ऐसा होता हुआ वह (बहिरात्मा) क्या करता है ? अपने देह को आत्मारूप से मानता है अर्थात अपना शरीर 'वह ही मैं हूँ' ऐसी मिथ्या मान्यता करता है।।१९१।।

(श्री समाधितंत्र, गाथा ७ की टीका, श्री प्रभाचंद्रजी)

★ शरीर में आत्मबुद्धि होना वो ही संसार के दुःख का कारण है; इसलिए उसको शरीर में आत्मबुद्धि छोडकर तथा बाह्य विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोककर अंतरंग में—आत्मा में प्रवेश करना चाहिए।।१९२।।

(श्री समाधितंत्र, गाथा १५ का अर्थ, श्री पूज्यपादस्वामी)

★ मैं अनादिकाल से आत्मस्वरूप से च्युत होकर इन्द्रियों द्वारा विषयों में पतित हुआ, इसलिए उन विषयों को प्राप्त करके वास्तव में मैं अपने को "मैं वही हूँ"—आत्मा हूँ ऐसा मैंने पहिचाना नहीं।।१९३।।

(श्री समाधितंत्र, गाथा १६, श्री पूज्यपादस्वामी)

★ ज्ञान परपदार्थों को जानता है—ऐसा कहना वह भी व्यवहारनय का कथन है। वास्तव में तो आत्मा अपने को जानते ही समस्त परपदार्थ जानने में आ जाते हैं ऐसी ज्ञान की निर्मलता—स्वच्छता है।।१९४।।

(श्री समाधितंत्र, गाथा २० के विशेष में से)

★ जिसके—शुद्धात्मस्वरूप के—अभाव में मैं सोता हुआ पड़ा था—अज्ञान अवस्था में था, और जिसके—शुद्धात्मस्वरूप के—सद्भाव में मैं जाग गया हूँ—यथावत् वस्तुस्वरूप को जानने लगा हूँ, वह शुद्धात्मस्वरूप इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य, वचनों से अगोचर और स्वानुभवगम्य है; वह मैं हूँ।।१९५।।

(श्री समाधितंत्र, गाथा २४, श्री पूज्यपादस्वामी)

★ सर्व इन्द्रियों को रोककर स्थिर हुए अंतरात्मा द्वारा क्षणमात्र देखने वाले को—अनुभव करने वाले जीव को—जो चिदानन्द स्वरूप प्रतिभासित होता है वह परमात्मा का स्वरूप है।।१९६।।

(श्री समाधितंत्र, गाथा ३०, श्री पूज्यपादस्वामी)

★ अपने-अपने विषयों में जाती हुई—प्रवर्तती हुई—कौन (प्रवर्तती

हुई) ? सर्व इन्द्रियाँ अर्थात् पाँच इन्द्रियाँ, उनको रोककर—निरोधकर, उसके बाद स्थिर हुए अंतरात्मा के द्वारा—अर्थात् मन द्वारा जो स्वरूप भासता है, क्या करने से ? क्षण भर देखने से—क्षणमात्र अनुभवने से—अर्थात् बहुत समय तक मन को स्थिर करना अशक्य होने से थोड़े समय तक मन का निरोध करके देखने से—जो चिदानन्द स्वरूप प्रतिभासता है, वह तत्व-तद्रूपतत्वस्वरूप परमात्मा का है।।१९७।।

(श्री समाधितंत्र, गाथा ३० की टीका, श्री प्रभाचंद जी)

★ सर्व इन्द्रियों के विषयों में भ्रमती—प्रवर्तती चित्तवृत्ति को रोककर अर्थात् अन्तर्जल्पादि संकल्प विकल्पों से रहित होकर, उपयोग को अपने चिदानन्दस्वरूप में स्थिर करना; उस आत्मस्वरूप में स्थिर होने पर परमात्मस्वरूप का प्रतिभास होता है।

पाँच इन्द्रियों के विषयों के तरफ का झुकाव (लक्ष) छोड़कर अपने मन के संकल्प विकल्प तोड़कर ज्ञानानन्दस्वरूप में एकाग्र होना—स्थिर होना वह परमात्मप्राप्ति का उपाय है।।१९८।।

(श्री समाधितंत्र, गाथा ३०, भावार्थ)

★ जो परमात्मा है वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वह परमात्मा है; इसलिए मैं ही मेरे द्वारा उपासने योग्य हूँ, दूसरा कोई (उपास्य) नहीं है, ऐसी वस्तुस्थिति है।।१९९।।

(श्री समाधितंत्र, गाथा ३१, श्री पूज्यपादस्वामी)

★ मुझे मेरे आत्मा को पाँच इन्द्रियों के विषयों से हटाकर मेरे ही द्वारा—अपने ही आत्मा द्वारा मैं मेरे में स्थित परमानन्द से निवृत्त (रचित) ज्ञानस्वरूप आत्मा को प्राप्त हुआ हूँ।।२००।।

(श्री समाधितंत्र, गाथा ३२, श्री पूज्यपादस्वामी)

★ जो ज्ञान का उपयोग रागादि विकारों में तथा परपदार्थों में रुकता है वह ज्ञान नहीं है, लेकिन जो ज्ञान ज्ञान में ही प्रतिष्ठित होता है वही वास्तविक ज्ञान है—आत्मतत्व है; इसलिए वह उपादेय है।

जो उपयोग पर में ही अटका हुआ रहने से आत्म सन्मुख नहीं झुकता वह पर के झुकाव वाला तत्व है, आत्मा के तरफ झुकने वाला तत्व नहीं है उससे संसार है, इसलिए वह हेय है।।२०१।।

(श्री समाधितंत्र, गाथा ३६ के विशेष में से)

★ जो अर्थात् शरीरादि बाह्य पदार्थ इन्द्रियों द्वारा मैं देखता हूँ—वह मेरा नहीं है—मेरा स्वरूप नहीं है, लेकिन भावेन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोककर जो उत्कृष्ट अतीन्द्रिय आनन्दमय ज्ञान-ज्योति को अंतरंग में मैं देखता हूँ—उसका अनुभव करता हूँ, वह मेरा वास्तविक स्वरूप है।।२०२।।

(श्री समाधितंत्र, गाथा ५१ का अर्थ, श्री पूज्यपादस्वामी)

★ जो अर्थात् शरीरादिक को मैं इन्द्रियों से देखता हूँ वह मेरा नहीं है अर्थात् मेरा स्वरूप नहीं है तो तेरा रूप क्या है? वह उत्तम ज्योति है—ज्योति अर्थात् ज्ञान और उत्तम अर्थात् अतीन्द्रिय—तथा आनन्दमय अर्थात् परम प्रसन्नता (प्रशांति) से उत्पन्न हुए सुख से युक्त (है) इस प्रकार की जो ज्योति है उसको अंतरंग में मैं देखता हूँ—स्वसंवेदन से मैं अनुभवता हूँ, वह मेरा स्वरूप अस्तु—हो। मैं कैसा होकर देखता हूँ? इन्द्रियों को संयमित करके (बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोककर और स्वयं स्वाधीन होकर) अर्थात् इन्द्रियों को काबू में रखकर (मैं देखता हूँ)।।२०३।।

(श्री समाधितंत्र, गाथा ५१ टीका, श्री प्रभाचंद्र जी)

★ इन्द्रियों द्वारा जो शरीरादि बाह्य पदार्थ दिखते हैं वह मैं नहीं हूँ। वह

मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप तो परम उत्तम अतीन्द्रिय आनन्दमय ज्ञानज्योति है। जब मैं भावेन्द्रियों को नियंत्रित करके अर्थात् बाह्य विषयों से हटाकर अंतर्मुख होता हूँ तब, तब मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा को देख सकता हूँ—स्वसंवेदन से अनुभव सकता हूँ।।२०४।।

(श्री समाधितंत्र, गाथा ५१ का भावार्थ)

★ जिसके चित्त में आत्मस्वरूप की निश्चल धारणा है उसकी एकांत से अर्थात् नियम से मुक्ति होती है। जिसकी आत्मस्वरूप में निश्चल धारणा नहीं है उसकी अवश्य ही मुक्ति नहीं होती है।।२०५।।

(श्री समाधितंत्र, गाथा ७१, श्री पूज्यपादस्वामी)

★ एकांतिक अर्थात् अवश्य होने वाली मुक्ति उस अन्तरात्मा को होती है कि जिसके चित्त मे अविचल धृति अर्थात् आत्मस्वरूप की धारणा हो या स्वरूप में प्रसत्ति (लीनता) हो; परन्तु जिसके चित्त में अचल धृति (धारणा) नहीं होती, उसको अवश्यम्भावी मुक्ति नहीं होती।।२०६।।

(श्री समाधितंत्र गाथा ७१ टीका, श्री प्रभाचंद्र जी)

★ जिसका उपयोग दूसरी जगह नहीं भटकता, आत्मस्वरूप में ही स्थिर होता है, उसकी नियम से मुक्ति होती है। परन्तु जिसका उपयोग एक से दूसरे में भ्रमता है और आत्मस्वरूप में स्थिर नहीं होता उसकी कभी मुक्ति नही होती।।२०७।।

(श्री समाधितंत्र, गाथा ७१ भावार्थ में से)

★ **टीका :**—(अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं) जो इच्छा रहित होता है वह अपरिग्रह होता है अर्थात् जिसके बाह्य द्रव्यों की इच्छा नही होती अर्थात् बाह्य पदार्थों से उसका कोई लगाव नहीं होता। इससे स्वसंवेदन ज्ञानी जीव शुद्धोपयोग रूप निश्चय धर्म को छोडकर शुभोपयोग रूप धर्म अर्थात् पुण्य को नहीं चाहता है। (अपरिग्गहो

दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि) इसलिए पुण्य रूप धर्म का परिग्रहवान न होकर, किन्तु पुण्य मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा जानकर, उस पुण्य रूप से परिणमन नहीं करता हुआ तन्मय नहीं होता हुआ **वह दर्पण में आये हुए प्रतिबिम्ब के समान उसका जानने वाला ही होता है।।२०८।।**

(श्री समयसार जी, श्री जयसेनाचार्य टीका तात्पर्यवृत्ति, निर्जरा अधिकार गाथा २२३, अजमेर प्रकाशन)

★ **टीका :**—(अप्परिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं) जिसके बाह्य द्रव्यों में वांछा नहीं है वह परिग्रह रहित है। इसलिये तत्वज्ञानी जीव विषय कषाय रूप अधर्म को, पाप को कभी नहीं चाहता। (अप्परिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि) इसलिए वह विषय कषायरूप पाप का ग्राहक न होता हुआ यह पाप मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा जानकर पाप रूप से परिणमन नहीं करता हुआ **वह दर्पण में आये हुए प्रतिबिम्ब के समान उसका ज्ञायक ही होता है।।२०९।।**

(श्री समयसार जी, श्री जयसेनाचार्य टीका, गाथा २२४, अजमेर प्रकाशन)

★ **टीका :**—(अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो असणं च णिच्छदे णाणी) जिसके बाह्य द्रव्यों में इच्छा, मूर्छा, ममत्व परिणाम नहीं है वह अपरिग्रहवान कहा गया है क्योंकि इच्छा अज्ञानमय भाव है इससे इसका होना ज्ञानी के सम्भव नहीं है अत: ज्ञानी के भोजन की भी इच्छा नहीं होती इसलिये वह (अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि) आत्मसुख में संतुष्ट होकर भोजन व तत्संबंधी पदार्थों में परिग्रह रहित होता हुआ **जैसे दर्पण में आये हुये प्रतिबिम्ब के समान केवल आहार में ग्रहण करने के योग्य वस्तु का उस वस्तु के रूप से ज्ञायक ही होता है।**

किन्तु रागरूप से उसका ग्रहण करने वाला नहीं होता।।२१०।।

(श्री समयसार जी, श्री जयसेनाचार्यकृत गाथा २२६)

★ **टीका :**—(अप्परिग्गहो अणिच्छो भणिदो पाणं च णिच्छदे णाणी) जो इच्छा रहित है वह परिग्रह रहित कहलाता है अर्थात् जिसके बाह्य पदार्थों में इच्छा, मूर्छा व ममत्व परिणाम नहीं है वह अपरिग्रहवान कहा गया है। अत: इच्छा जो अज्ञानमय भावरूप है वह ज्ञानी के कभी सम्भव नहीं है। अतएव उसके पीने योग्य वस्तु की भी इच्छा नहीं हो सकती इसलिये (अप्परिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि) स्वाभाविक परमानन्द सुख में संतुष्ट होकर नाना प्रकार के पानक के विषय में परिग्रह रहित होता हुआ **ज्ञानी जीव तो दर्पण में आये हुए प्रतिबिम्ब के समान वस्तु स्वरूप से उस पानक का ज्ञायक ही होता है—राग से उसका ग्राहक नहीं होता है।।२११।।**

(श्री समयसार जी, श्री जयसेनाचार्य कृत टीका,
गाथा २२७, अजमेर प्रकाशन)

★ **भावार्थ :**—दर्पण में मयूर, मन्दिर, सूर्य, वृक्ष इत्यादि के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं। वहाँ निश्चय से तो प्रतिबिम्ब दर्पण की ही अवस्थायें हैं, तथापि दर्पण में प्रतिबिम्ब देखकर कार्य में कारण का उपचार करके व्यवहार से यह कहा जाता है कि मयूरादिक दर्पण में हैं। इसी प्रकार ज्ञान दर्पण में भी सर्व पदार्थों के समस्त ज्ञेयाकारों के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, अर्थात् पदार्थों के ज्ञेयाकारों के निमित्त से ज्ञान में ज्ञान की अवस्थारूप ज्ञेयाकार होते हैं, (क्योंकि यदि ऐसा न हो तो ज्ञान सर्व पदार्थों को नहीं जान सकेगा)। वहाँ निश्चय से ज्ञान में होने वाले ज्ञेयाकार ज्ञान की ही अवस्थायें हैं, पदार्थों के ज्ञेयाकार कहीं ज्ञान में प्रविष्ट नहीं है। निश्चय से ऐसा होने पर भी व्यवहार से देखा जाये तो ज्ञान में होने वाले ज्ञेयाकारों के कारण पदार्थों के ज्ञेयाकार हैं, और उनके कारण पदार्थ हैं,—इस प्रकार

परम्परा से ज्ञान में होने वाले ज्ञेयाकारों के कारण पदार्थ हैं; इसलिये उन (ज्ञान की अवस्थारूप) ज्ञेयाकारों को ज्ञान में देखकर, कार्य में कारण का उपचार करके व्यवहार से ऐसा कहा जा सकता है कि पदार्थ ज्ञान में है।।२१२।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा ३१ का भावार्थ)

★ भावार्थ इस प्रकार है—जितना नय है उतना श्रुतज्ञानरूप है, श्रुतज्ञान परोक्ष है, अनुभव प्रत्यक्ष है, इसलिए श्रुतज्ञान बिना जो ज्ञान है वह प्रत्यक्ष अनुभवता है। इस कारण प्रत्यक्ष रूप से अनुभवता हुआ जो कोई शुद्धस्वरूप आत्मा "स विज्ञानैकरस:" वही ज्ञानपुञ्ज वस्तु है ऐसा कहा जाता है।।२१३।।

(श्री समयसार कलश टीका, कलश ९३ में से)

★ निश्चय से (एषां) मुनीश्वरों को (ज्ञानं स्वयं शरणं) शुद्ध स्वरूप का अनुभव सहज ही आलम्बन है। कैसा है ज्ञान ? "ज्ञाने प्रतिचरितं" जो बाह्यरूप परिणमा था वही अपने शुद्धस्वरूप परिणमा है। शुद्ध स्वरूप का अनुभव होने पर कुछ विशेष भी है, कहते हैं—"एते तत्र निरता: परमं अमृतं विन्दन्ति" (एते) विद्यमान जो सम्यग्दृष्टि मुनीश्वर (तत्र) शुद्ध स्वरूप के अनुभव में (निरता:) मग्न हैं वे (परमं अमृतं) सर्वोत्कृष्ट अतीन्द्रिय सुख को (विन्दन्ति) आस्वादते हैं।।२१४।।

(श्री समयसार कलश टीका, कलश१०४ में से)

★ भावार्थ इस प्रकार है—ज्ञेय-ज्ञायक का सम्बन्ध दो प्रकार है—एक तो जानपनामात्र है, राग-द्वेषरूप नहीं है। यथा—केवली सकल ज्ञेय वस्तु को देखते जानते हैं परन्तु किसी वस्तु में राग-द्वेष नहीं करते। उसका नाम शुद्ध ज्ञानचेतना कहा जाता है। सो सम्यग्दृष्टि जीव के शुद्ध ज्ञानचेतनारूप जानपना है, इसलिए मोक्ष का कारण है—बन्ध का कारण

नहीं है। दूसरा जानपना ऐसा जो कितनी ही विषयरूप वस्तु का जानपना भी है और मोह कर्म के उदय का निमित्त पाकर इष्ट में राग करता है, भोग की अभिलाषा करता है तथा अनिष्ट में द्वेष करता है, अरुचि करता है सो ऐसे राग-द्वेष से मिला हुआ है जो ज्ञान उसका नाम अशुद्ध चेतनालक्षण कर्मचेतना कर्मफलचेतनारूप कहा जाता है, इसलिए बन्ध का कारण है।।२१५।।

(श्री समयसार कलश टीका, कलश ११६ में से)

★ इस समस्त अधिकार में (इदं एव तात्पर्यं) निश्चय से इतना ही कार्य है। वह कार्य कैसा? "शुद्धनय: हेय: न हि" (शुद्धनय:) **आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुभव** (हेय: न हि) **सूक्ष्म कालमात्र भी विसारने (भूलने) योग्य नहीं है।** किस कारण? "हि तत् अत्यागात् बन्ध: नास्ति" (हि) जिस कारण (तत्) शुद्ध स्वरूप का अनुभव, उसके (अत्यागात्) नहीं छूटने से (बन्ध: नास्ति) ज्ञानावरणादि कर्म का बन्ध नहीं होता। और किस कारण? "तत्यागात् बन्ध एव" (तत् शुद्ध स्वरूप का अनुभव, उसके (त्यागात्) छूटने से (बन्ध एव) ज्ञानावरणादि कर्म का बन्ध है। भावार्थ प्रगट है।।२१६।।

(श्री समयसार कलश टीका, कलश १२२ में से)

★ सम्यग्दृष्टि जीवों के द्वारा (जातु) सूक्ष्म कालमात्र भी (शुद्धनय:) शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु का अनुभव (त्याज्य: न हि) विस्मरण योग्य नहीं है। कैसा है शुद्धनय? "बोधे धृतिं निबध्नन्" (बोधे) आत्मस्वरूप में (धृतिं) अतीन्द्रिय सुखस्वरूप परिणति को (निबध्नन्) परिणमाता है।।२१७।।

(श्री समयसार कलश टीका, कलश १२३ में से)

★ और कैसी है? "निजरसप्राग्भारं" (निजरस) चेतनगुण, उसका (प्राग्भारं) समूह है। और कैसी है? "पररूपत: व्यावृत्तं" (पररूपत:)

ज्ञेयाकार परिणमन, उससे (व्यावृत्त) परान्मुख है। भावार्थ इस प्रकार है—सकल ज्ञेयवस्तु को जानती है तद्रूप नहीं होती अपने स्वरूप रहती है।।२१८।।

(श्री समयसार कलश टीका, कलश १२५ में से)

★ द्रव्यरूप से मिथ्यात्वकर्म उपशमा है, भावरूप से शुद्ध सम्यक्त्व भावरूप परिणमा है जो जीव, उसके (ज्ञान) शुद्धस्वरूप का अनुभवरूप जानपना, (वैराग्य) जितने परद्रव्य द्रव्यकर्मरूप, भावकर्मरूप, नोकर्मरूप ज्ञेयरूप हैं उन समस्त पर द्रव्यों का सर्व प्रकार त्याग (शक्तिः) ऐसी दो शक्तियाँ (नियतं भवति) अवश्य होती हैं—सर्वथा होती हैं।।२१९।।

(श्री समयसार कलश टीका, कलश १३६ में से)

★ भावार्थ इस प्रकार है—जिस प्रकार उष्णतामात्र अग्नि है, इसलिए दाह्य वस्तु को जलाती हुई दाह्य के आकार परिणमती है, इसलिए लोगों को ऐसी बुद्धि उपजती है कि काष्ठ की अग्नि, छाना की अग्नि, तृण की अग्नि। सो ये समस्त विकल्प झूठे हैं। अग्नि के स्वरूप का विचार करने पर उष्णतामात्र अग्नि है, एकरूप है। काष्ठ, छाना, तृण अग्नि का स्वरूप नहीं है उसी प्रकार ज्ञान चेतनाप्रकाशमात्र है, समस्त ज्ञेयवस्तु को जानने का स्वभाव है, इसलिए समस्त ज्ञेयवस्तु को जानता है, जानता हुआ ज्ञेयाकार परिणमता है। इससे ज्ञानी जीव को ऐसी बुद्धि उपजती है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान ऐसे भेद विकल्प सब झूठे हैं। ज्ञेय की उपाधि से मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल ऐसे विकल्प उपजे हैं। कारण कि ज्ञेयवस्तु नाना प्रकार है। जैसे ही ज्ञेय का ज्ञायक होता है वैसा ही नाम पाता है, वस्तुस्वरूप का विचार करने पर ज्ञानमात्र है। नाम धरना सब झूठा है। ऐसा अनुभव शुद्ध स्वरूप का अनुभव है। "किल" निश्चय से ऐसा ही है।।२२०।।

(श्री समयसार कलश टीका, कलश १४० में से)

★ और कैसा है ? "एकतः जगत्त्रितयं स्फुरति" (एकतः) जीव का स्वभाव स्वपरज्ञायक है ऐसा विचार करने पर (जगत्) समस्त ज्ञेय वस्तु की (त्रितयं) अतीत अनागत वर्तमान कालगोचर पर्याय (स्फुरति) एक समय मात्र काल में **ज्ञान में प्रतिबिम्बरूप है**। "एकतः चित् चकास्ति" (एकतः) वस्तु के स्वरूप सत्तामात्र का विचार करने पर (चित्) शुद्ध ज्ञानमात्र (चकास्ति) शोभित होता है। भावार्थ इस प्रकार है कि **व्यवहार मात्र से ज्ञान समस्त ज्ञेय को जानता है, निश्चय से नहीं जानता है, अपना स्वरूपमात्र है, क्योंकि ज्ञेय के साथ व्याप्य-व्यापकरूप नहीं है**।।२२१।।

(श्री समयसार कलश टीका, कलश २७४ में से)

★ भावार्थ इस प्रकार है कि इस शास्त्र में शुद्ध जीव का स्वरूप निःसन्देहरूप से कहा है। और कैसा है ? "आत्मना आत्मनि आत्मानं अनवरतनिमग्नं धारयत्" (आत्मना) ज्ञानमात्र शुद्ध जीव के द्वारा (आत्मनि) शुद्ध जीव में (आत्मानं) शुद्ध जीव को (अनवरतनिमग्नं धारयत्) निरन्तर अनुभवगोचर करता हुआ। कैसा है आत्मा ? "अविचलित-चिदात्मनि" (अविचलित) सर्व काल एकरूप जो (चित्) चेतना वही है (आत्मनि) स्वरूप जिसका ऐसा है।।२२२।

(श्री समयसार कलश टीका, कलश २७६ में से)

★ बुद्धिपूर्वक ज्ञान करते हुए जितना पढ़ना विचारना चिन्तवन करना स्मरण करना इत्यादि है वह (उन्मूलितं) मोक्ष का कारण नहीं है ऐसा जानकर हेय ठहराया है। "आत्मनि एव चित्तं आलानितं" (आत्मनि एव) शुद्धस्वरूप में एकाग्र होकर (चित्तं आलानितं) मन को बाँधा है। ऐसा कार्य जिस प्रकार हुआ उस प्रकार कहते हैं—"आसम्पूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः" (आसम्पूर्णविज्ञान) निरावरण केवलज्ञान उसका (घन) समूह जो

आत्मद्रव्य उसकी (उपलब्धे:) प्रत्यक्ष प्राप्ति होने से।।२२३।।

(श्री समयसार कलश टीका, कलश १८८ में से)

★ भावार्थ इस प्रकार है कि कृपासागर हैं सूत्र के कर्ता आचार्य वे ऐसा कहते हैं कि नाना प्रकार के विकल्प करने से साध्यसिद्धि तो नहीं है। कैसा है नाना प्रकार के विकल्प करने वाला जन ? "अध: अध: प्रपतन्" जैसे जैसे अधिक क्रिया करता है, अधिक अधिक विकल्प करता है वैसे वैसे अनुभव से भ्रष्ट से भ्रष्ट होता है। तिस कारण से "जन: ऊर्ध्व ऊर्ध्व किं न अधिरोहति" (जन:) समस्त संसारी जीवराशि (ऊर्ध्वं ऊर्ध्वं) निर्विकल्प से निर्विकल्प अनुभवरूप (किं न अधिरोहति) क्यों नहीं परिणमता है। कैसा है जन ? "नि:प्रमाद:" निर्विकल्प है। कैसा है निर्विकल्प अनुभव ? "यत्र प्रतिक्रमणं विषं एव प्रणीतं" (यत्र) जिसमें (प्रतिक्रमणं) पठन पाठन स्मरण चिन्तवन स्तुति वन्दना इत्यादि अनेक क्रियारूप विकल्प (विषं एव प्रणीतं) विष के समान कहा है। "तत्र अप्रतिक्रमणं सुधा कुट: एव स्यात्" (तत्र) उस निर्विकल्प अनुभव में (अप्रतिक्रमणं) न पढना, न पढ़ाना, न वंदना, न निन्दना ऐसा भाव (सुधा कुट: एव स्यात्) अमृत के निधान के समान है। भावार्थ ऐसा है कि निर्विकल्प अनुभव सुखरूप है, इसलिये उपादेय है, नाना प्रकार के विकल्प आकुलतारूप हैं, इसलिये हेय हैं।।२२४।।

(श्री समयसार कलश टीका, कलश १८९ में से)

★ सर्व काल (ज्ञानं) अर्थग्रहणशक्ति (ज्ञेयं) स्वपरसम्बन्धी समस्त ज्ञेय वस्तु को (कलयति) एक समय में द्रव्य-गुण-पर्याय भेदयुक्त जैसी है उस प्रकार जानता है। एक विशेष—(अस्य) ज्ञान के सम्बन्ध से (ज्ञेयं न अस्ति) ज्ञेय वस्तु ज्ञान से सम्बन्धरूप नहीं है। (एव) निश्चय से ऐसा ही है। दृष्टान्त कहते हैं—"ज्योत्स्नारूपं भुवं स्नपयति तस्य भूमि: न अस्ति एव" (ज्योत्स्नारूपं) चन्द्रिका का प्रसार (भुवं स्नपयति) भूमि को श्वेत

करता है। एक विशेष—(तस्य) ज्योत्स्ना के प्रसार के सम्बन्ध से (भूमिः न अस्ति) भूमि ज्योत्स्नारूप नहीं होती। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार ज्योत्स्ना फैलती है, समस्त भूमि श्वेत होती है तथापि ज्योत्स्ना का भूमिका सम्बन्ध नहीं है उसी प्रकार ज्ञान समस्त ज्ञेय को जानता है तथापि ज्ञान का ज्ञेय का सम्बन्ध नहीं है। ऐसा वस्तु का स्वभाव है।।२२५।।

(श्री समयसार कलश टीका, कलश २१६ में से)

★ परद्रव्यरूप ज्ञेय पदार्थ उनके भाव से परिणमित होते हैं और ज्ञायक आत्मा अपने भावरूप परिणमन करता है; वे एक दूसरे का परस्पर कुछ नहीं कर सकते। इसलिये यह व्यवहार से ही माना जाता है कि 'ज्ञायक परद्रव्यों को जानता है' निश्चय से ज्ञायक तो बस ज्ञायक ही है।।२२६।।

(श्री समयसार जी, कलश २१४ भावार्थ मे से)

★ **ज्यों सेटिका नहीं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।**
ज्ञायक नहीं त्यों अन्य का, ज्ञायक अहो ज्ञायक तथा।।३५६।।

अर्थ :—जैसे खड़िया-मिट्टी या पोतने का चूना या कलई पर की (दीवाल आदि की) नहीं है, कलई वह तो कलई ही है, उसी प्रकार ज्ञायक (जानने वाला आत्मा) पर का (परद्रव्य का) नहीं है, ज्ञायक वह तो ज्ञायक ही है।

ज्यों सेटिका नहीं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
दर्शक नहीं त्यों अन्य का, दर्शक अहो दर्शक तथा।।३५७।।

अर्थ :—जैसे कलई पर की नहीं है, कलई वह तो कलई ही है, उसी प्रकार दर्शक (देखने वाला आत्मा) पर का नहीं है, दर्शक वह तो दर्शक ही है।।२२७।।

(श्री समयसार जी, गाथा ३५६-३५७ का अर्थ)

★ **भावार्थ :**—शुद्धनय से आत्मा का एक चेतनामात्र स्वभाव है। उसके परिणाम जानना, देखना, श्रद्धा करना, निवृत्त होना इत्यादि हैं। वहां निश्चयनय से विचार किया जाये तो आत्मा को परद्रव्य का ज्ञायक नहीं कहा जा सकना, दर्शक नहीं कहा जा सकता, श्रद्धान करने वाला नहीं कहा जा सकता, त्याग करने वाला नहीं कहा जा सकता; क्योंकि परद्रव्य के और आत्मा के निश्चय से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। जो ज्ञान, दर्शन, श्रद्धान, त्याग इत्यादि भाव हैं, वे स्वयं ही हैं; भाव-भावक का भेद कहना वह भी व्यवहार है। निश्चय से भाव और भाव करने वाले का भेद नहीं है।।२२८।।

(श्री समयसार जी, गाथा ३५६ से ३६५ के भावार्थ में से, पं. श्री जयचंद्र जी छावडा)

★ जो उपचरितस्वभाव स्वभाव से ही होता है उसको स्वाभाविक उपचरितस्वभाव कहते हैं जैसे—सिद्ध जीवों के परज्ञता और परदर्शकत्वस्वभाव। क्योंकि निश्चयनय से आत्मा (मुक्तात्मा) अपनी आत्मा का ही ज्ञाता दृष्टा माना गया है। परपदार्थों का ज्ञातादृष्टा नहीं। इसलिए आत्मा जो परपदार्थों का ज्ञाता दृष्टा कहा जाता है वह उपचार से ही कहा जाता है वास्तव में नहीं।।२२९।।

(श्री देवसेनाचार्य कृत, आलाप पद्धति, पृष्ठ ९९)

★ सर्वथा उपचरितपक्ष में दोष।

उपचरितैकान्तपक्षेऽपि नात्मज्ञता सम्भवति नियमितपक्षत्वात्।

अर्थ :—उपचरित एकान्तपक्ष में भी नियमित पक्ष होने से आत्मा के आत्मज्ञता सम्भव नहीं होती है।

भावार्थ :—यदि उपचरितस्वभाव से आत्मा सर्वथा पर पदार्थों का ही ज्ञाता दृष्टा है आत्मा का नहीं ऐसा उपचरित एकान्तपक्ष माना जायेगा

तो नियमित पक्ष होने के कारण आत्मा में जो अनुपचार से आत्मा को जाननेरूप आत्मज्ञता पाई जाती है उसका अभाव हो जायेगा अर्थात् आत्मा में आत्मज्ञता सिद्ध नहीं हो सकेगी। अतः अनुपचरितपक्ष निरपेक्ष सर्वथा उपचरित पक्ष मानना अर्थात् आत्मा को सर्वथा परपदार्थों का ही ज्ञाता दृष्टा मानना युक्तिसंगत नहीं है।।२३०।।

(श्री देवसेनाचार्य कृत, आलाप पद्धति, पृष्ट ११२)

★ यह स्वसंवेदन क्या है ? इसके विषय में आत्मानुशासन मे भी एक श्लोक आया है :—

वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशः।।

अर्थात् जहाँ पर योगी के ज्ञान में ज्ञेयपना ज्ञायकपना ये दोनों अपने आप में ही हों, ऐसी अनन्य अवस्था का नाम स्वसंवेदन है। इसी को आत्मानुभव या स्वानुभव प्रत्यक्ष भी कहते हैं।।२३१।।

(श्री जयसेनाचार्य टीका, श्री समयसार, पृष्ट २०२)

★ 'ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठितं; इस अमृतचन्द्राचार्य के वचनानुसार जब छद्मस्थ आत्मा का ज्ञान ज्ञान को ही विषय करने वाला हो जाता है उस समय उसमें अपने आपके सिवाय और किसी का भान भी नहीं रहता। तब उसको ज्ञान गुण या ज्ञानभाव कहते हैं। स्वरूपाचरण, स्वसंवेदन, आत्मानुभव, शुद्धोपयोग और शुद्ध नय आदि सब इसी के नाम हैं। इस ज्ञान गुण को प्राप्त किये बिना आज तक किसी को न तो मोक्ष प्राप्त हुआ और न हो सकता है।।२३२।।

(श्री जयसेनाचार्य टीका, श्री समयसार गाथा २२२ के विशेष में से)

★ अब यहां अभिन्न कर्ता कर्म रूप निश्चय कथन को और भिन्न कर्ता

कर्म रूप व्यवहार कथन को दृष्टांत द्वारा समझाते हैं—जैसे सफेदी करने वाली खड़िया-मिट्टी अन्य भीत आदि वस्तु को सफेद करने वाली है इसलिये खड़िया है ऐसी बात नहीं किन्तु वह तो अपने आप ही खड़िया-मिट्टी है भीत से भिन्न वस्तु है। इसी प्रकार जो ज्ञायक है जानने वाला है वह परद्रव्य को जानने वाला है इसलिये ज्ञायक है ऐसा नहीं है किन्तु वह तो सहज ज्ञायक रूप ही है। इसी प्रकार उपरोक्त उदाहरण के समान जो दर्शक है वह भी पर द्रव्य को देखने वाला होने से दर्शक नहीं है किन्तु वह तो अपने सहज स्वभाव से ही दर्शक है।।२३३।।

(श्री जयसेनाचार्य टीका, श्री समयसार गाथा ३८५, ३८६ का अर्थ)

★ ज्ञानात्मा भी निश्चय के द्वारा घटपटादि **ज्ञेय पदार्थों का ज्ञायक नहीं होता है** अर्थात् उन्हें जानते हुए भी, **उनसे तन्मय नहीं होता।** फिर क्या होता है? कि ज्ञायक तो ज्ञायक ही होता है। अपने स्वभाव में रहता है।।२३४।।

(श्री जयसेनाचार्य टीका, श्री समयसार गाथा ३८५ की टीका)

★ स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दादिरूप परिणमते पुद्गल आत्मा से कहीं यह नहीं कहते हैं कि 'तू हमें जान,' और आत्मा भी अपने स्थान से छूटकर उन्हें जानने को नहीं जाता। दोनों सर्वथा स्वतंत्रतया अपने अपने स्वभाव से ही परिणमित होते हैं। इस प्रकार आत्मा पर के प्रति उदासीन (—सम्बन्ध रहित, तटस्थ) है, तथापि अज्ञानी जीव स्पर्शादि को अच्छे-बुरे मानकर रागी-द्वेषी होता है यह उसका अज्ञान है।।२३५।।

(श्री समयसार जी, गाथा ३७३ से ३८२ का शीर्षक)

★ **असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणदि सुणसु मं ति सो चेव।**
ण य एदि विणिग्गहिदुं सोदविसयमागदं सद्दं।।३७५।।

शुभ या अशुभ जो शब्द वो 'तू सुन मुझे' न तुझे कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे कर्णगोचर शब्द को।।३७५।।

[अशुभः वा शुभः शब्दः] अशुभ अथवा शुभ शब्द [त्वां न भणति] तुझसे यह नहीं कहता कि [माम् श्रृणु इति] 'तू मुझे सुन'; [सः एव च] और आत्मा भी (अपने स्थान से च्युत होकर), [श्रोत्रविषयम् आगतं शब्दम्] श्रोत्र—इन्द्रिय के विषय में आये हुए शब्द को [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करने को (—जानने को) नहीं जाता।।२३६।।

(श्री समयसार जी, श्री कुंदकुंदाचार्य, गाथा ३७५)

★ **असुहं सुहं व रूवं ण तं भणदि पेच्छ मं ति सो चेव।**
ण य एदि विणिग्गहिदुं चक्खुविसयमागदं रूवं।।३७६।।

असुहो सुहो व गंधो ण तं भणदि जिग्घ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं घाणविसयमागदं गंधं।।३७७।।

असुहो सुहो व रसो ण तं भणदि रसय मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं रसणविसयमागदं तु रसं।।३७८।।

शुभ या अशुभ जो रूप वो 'तू देख मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे चक्षुगोचर रूप को।।३७६।।

शुभ या अशुभ जो गंध वो 'तू सूंघ मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे घ्राणगोचर गंध को।।३७७।।

शुभ या अशुभ रस कोई भी, 'तू चाख मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे रसनगोचर स्वाद को।।३७८।।

[अशुभं वा शुभं रूपं] अशुभ अथवा शुभ रूप [त्वां न भणति] तुझसे यह नहीं कहता कि [माम् पश्य इति] 'तू मुझे देख'; [सः एव च] और

आत्मा भी (अपने स्थान से छूटकर), [चक्षुर्विषयम् आगतं] चक्षु-इन्द्रिय के विषय में आये हुए [रूपम्] रूप को [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करने को नहीं जाता।

[अशुभः वा शुभः गंधः] अशुभ अथवा शुभ गंध [त्वां न भणति] तुझसे यह नहीं कहती कि [माम् जिघ्र इति] 'तु मुझे सूंघ'; [सः एव च] और आत्मा भी [घ्राणविषयम् आगतं गंधम्] घ्राणइन्द्रिय के विषय में आई हुई गंध को [विनिर्ग्रहीतुं न एति] (अपने स्थान से च्युत होकर) ग्रहण करने नहीं जाता।

[अशुभः वा शुभः रसः] अशुभ अथवा शुभ रस [त्वां न भणति] तुझसे यह नहीं कहता कि [माम् रसय इति] 'तू मुझे चख'; [सः एव च] और आत्मा भी [रसनविषयम् आगतं तु रसम्] रसना-इन्द्रिय के विषय में आये हुये रस को (अपने स्थान से च्युत होकर), [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करने नहीं जाता।।२३७।।

(श्री कुंदकुंदाचार्य, श्री समयसार गाथा, ३७६ से ३७८)

★ **असुहो सुहो व फासो ण तं भणदि फुसमु मं ति सो चेव।**
ण य एदि विणिग्गहिदुं कायविसयमागदं फासं।।३७९।।

शुभ या अशुभ जो स्पर्श वो 'तू स्पर्श मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे कायगोचर स्पर्श को।।३७९।।

[अशुभः वा शुभः स्पर्शः] अशुभ अथवा शुभ स्पर्श [त्वां न भणति] तुझसे यह नहीं कहता कि [माम् स्पर्श इति] 'तू मुझे स्पर्श कर'; [सः एव च] और आत्मा भी, [कायविषयम् आगतं स्पर्शम्] काय के (-स्पर्शेन्द्रिय के) विषय में आये हुए स्पर्श को (अपने स्थान से च्युत होकर), [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करने नहीं जाता।।२३८।।

(श्री समयसार जी, श्री कुंदकुंदाचार्य गाथा ३७९)

★ असुहो सुहो व गुणो ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं तु गुणं।।३८०।।

असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं दव्वं।।३८१।।

एयं तु जाणिऊणं उवसमं णेव गच्छदे मूढो।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो।।३८२।।

शुभ या अशुभ गुण कोई भी 'तू जान मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे बुद्धिगोचर गुण अरे।।३८०।।

शुभ या अशुभ जो द्रव्य वो 'तू जान मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे बुद्धिगोचर द्रव्य रे।।३८१।।

यह जानकर भी मूढ जीव पावे नहिं उपशम अरे!
शिव बुद्धि को पाया नहीं वो पर ग्रहण करना चहे।।३८२।।

[अशुभः वा शुभः गुणः] अशुभ अथवा शुभ गुण [त्वां न भणति] तुझसे यह नहीं कहता कि [माम् बुध्यस्व इति] 'तू मुझे जान'; [सः एव च] और आत्मा भी (अपने स्थान से च्युत होकर), [बुद्धिविषयम् आगतं तु गुणम्] बुद्धि के विषय में आये हुए गुण को [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करने नहीं जाता।

[अशुभं वा शुभं द्रव्यं] अशुभ अथवा शुभ द्रव्य [त्वां न भणति] तुझसे यह नहीं कहता कि [माम् बुध्यस्व इति] 'तू मुझे जान'; [सः एव च] और आत्मा भी (अपने स्थान से च्युत होकर), [बुद्धिविषयम् आगतं द्रव्यम्] बुद्धि के विषय में आये हुए द्रव्य को [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करने नहीं जाता।

[एतत् तु ज्ञात्वा] ऐसा जानकर भी [मूढः] मूढ जीव [उपशमं न एव

गच्छति] उपशम को प्राप्त नहीं होता; [च] और [शिवाम् बुद्धि अप्राप्तः च स्वयं] शिव बुद्धि को (कल्याणकारी बुद्धि को, सम्यग्ज्ञान को) न प्राप्त हुआ स्वयं [परस्य विनिर्ग्रहमनाः] पर को ग्रहण करने का मन करता है।।२३९।।

(श्री कुंदकुंदाचार्य, श्री समयसार जी गाथा ३८० से ३८२)

★ **सत्थं णाणं ण हवदि जम्हा सत्थं ण याणदे किंचि।**
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा बेंति।।३९०।।

रे! शास्त्र है नहिं ज्ञान क्योंकि शास्त्र कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु शास्त्र-अन्य प्रभू कहे।।३९०।।

शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ जानता नहीं है (-वह जड़ है) इसलिये ज्ञान अन्य है, शास्त्र अन्य है—ऐसा जिनदेव कहते हैं।।२४०।।

(श्री समयसार जी गाथा ३९०)

★ **सद्दो णाणं ण हवदि जम्हा सद्दो ण याणदे किंचि।**
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा बेंति।।३९१।।

रे! शब्द है नहिं ज्ञान, क्योंकि शब्द कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु शब्द अन्य-प्रभू कहे।।३९१।।

शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ जानता नहीं है, इसलिये ज्ञान अन्य है, शब्द अन्य है—ऐसा जिनदेव कहते हैं।।२४१।।

(श्री समयसार जी गाथा ३९१)

★ **रूवं णाणं ण हवदि जम्हा रूवं ण याणदे किंचि।**
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा बेंति।।३९२।।

रे! रूप है नहिं ज्ञान, क्योंकि रूप कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु रूप अन्य प्रभू कहे।।३९२।।

रूप ज्ञान नहीं है, क्योंकि रूप कुछ जानता नहीं है, इसलिये ज्ञान अन्य है, रूप अन्य है—ऐसा जिनदेव कहते हैं।।२४२।।

(श्री समयसार जी गाथा ३९२)

★ **वण्णो णाणं ण हवदि जम्हा वण्णो ण याणदे किंचि।**
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा बेंति।।३९३।।

रे! वर्ण है नहिं ज्ञान, क्योंकि वर्ण कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु वर्ण अन्य-प्रभू कहे।।३९३।।

वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण कुछ जानता नहीं है, इसलिये ज्ञान अन्य है, वर्ण अन्य है—ऐसा जिनदेव कहते हैं।।२४३।।

(श्री समयसार जी गाथा ३९३)

★ **गंधो णाणं ण हवदि जम्हा गंधो ण याणदे किंचि।**
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा बेंति।।३९४।।

रे! गंध है नहिं ज्ञान, क्योंकि गंध कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु गंध अन्य प्रभू कहे।।३९४।।

गंध ज्ञान नहीं है क्योंकि गंध कुछ जानती नहीं है, इसलिये ज्ञान अन्य है, गंध अन्य है—ऐसा जिनदेव कहते हैं।।२४४।।

(श्री समयसार जी गाथा ३९४)

★ **ण रसो दु हवदि णाणं जम्हा दु रसो ण याणदे किंचि।**
तम्हा अण्णं णाणं रसं च अण्णं जिणा बेंति।।३९५।।

रे ! रस नहीं है ज्ञान, क्योंकि रस जु कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु अन्य रस-जिनवर कहे।।३९५।।

रस ज्ञान नहीं है क्योंकि रस कुछ जानता नहीं है, इसलिये ज्ञान अन्य है और रस अन्य है—ऐसा जिनदेव कहते हैं।।२४५।।

(श्री समयसार जी गाथा ३९५)

★ **फासो ण हवदि णाणं जम्हा फासो ण याणदे किंचि।**
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा बेंति।।३९६।।

रे ! स्पर्श है नहिं ज्ञान, क्योंकि स्पर्श कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु स्पर्श अन्य–प्रभू कहे।।३९६।।

स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श कुछ जानता नहीं है, इसलिये ज्ञान अन्य है, स्पर्श अन्य है—ऐसा जिनदेव कहते हैं।।२४६।।

(श्री समयसार जी गाथा ३९६)

★ **कम्मं णाणं ण हवदि जम्हा कम्मं ण याणदे किंचि।**
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा बेंति।।३९७।।

रे ! कर्म है नहिं ज्ञान, क्योंकि कर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु कर्म अन्य–जिनवर कहे।।३९७।।

कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म कुछ जानता नहीं है, इसलिये ज्ञान अन्य है, कर्म अन्य है—ऐसा जिनदेव कहते हैं।।२४७।।

(श्री समयसार जी गाथा ३९७)

★ **धम्मो णाणं ण हवदि जम्हा धम्मो ण याणदे किंचि।**
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा बेंति।।३९८।।

रे! धर्म नहिं है ज्ञान, क्योंकि धर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु धर्म अन्य–जिनवर कहे।।३९८।।

धर्म (अर्थात् धर्मास्तिकाय) ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्म कुछ जानता नही है, इसलिये ज्ञान अन्य है धर्म अन्य है—ऐसा जिनवर कहते हैं।।२४८।।

(श्री समयसार जी गाथा ३९८)

★ **णाणमधम्मो ण हवदि जम्हाधम्मो ण याणदे किंचि।**
तम्हा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा बेंति।।३९९।।

नहिं है अधर्म जु ज्ञान, क्योंकि अधर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य अधर्म अन्य–जिनवर कहे।।३९९।।

अधर्म (अर्थात् अर्धमास्तिकाय) ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्म कुछ जानता नहीं है, इसलिये ज्ञान अन्य है, अधर्म अन्य है—ऐसा जिनदेव कहते हैं।।२४९।।

(श्री समयसार जी गाथा ३९९)

★ **कालो णाणं ण हवदि जम्हा कालो ण याणदे किंचि।**
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा बेंति।।४००।।

रे! काल है नहिं ज्ञान, क्योंकि काल कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु काल अन्य–प्रभू कहे।।४००।।

काल ज्ञान नहीं है क्योंकि काल कुछ जानता नहीं है, इसलिये ज्ञान अन्य है, काल अन्य है—ऐसा जिनदेव कहते हैं।।२५०।।

(श्री समयसार जी गाथा ४००)

★ आयासं पि ण णाणं जम्हायासं ण याणदे किंचि।
तम्हायासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा बेंति।।४०१।।

आकाश है नहिं ज्ञान, क्योंकि आकाश कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से आकाश अन्य रु ज्ञान अन्य प्रभू कहे।।४०१।।

आकाश भी ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश कुछ जानता नहीं है, इसलिये ज्ञान अन्य है, आकाश अन्य है—ऐसा जिनवर कहते हैं।।२५१।।

(श्री समयसार जी गाथा ४०१)

★ णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा।
तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं।।४०२।।

रे! ज्ञान अध्यवसान नहिं, क्योंकि अचेतन रूप है।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु अन्य अध्यवसान है।।४०२।।

अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योंकि अध्यवसान अचेतन है इसलिये ज्ञान अन्य है तथा अध्यवसान अन्य है—ऐसा जिनदेव कहते हैं।।२५२।।

(श्री समयसार जी गाथा ४०२)

★ हे अज्ञानी जीव! शुभ या अशुभ शब्द तुमको यह नहीं कहता है कि तुम मुझे सुनो और न वह शब्द तेरे द्वारा ग्रहण किये जाने के लिये आता है। शब्द—श्रोत्रइन्द्रिय का केवल विषयरूप होने से श्रोत में आता है।

शुभ या अशुभ रूप तुझको यह नहीं कहता कि तू मुझे देख और न वह रूप तेरे से ग्रहण किये जाने के लिए आता है, रूप-चक्षु इन्द्रिय का विषय होने से चक्षु में झलकता है।

शुभ या अशुभ गंध तुझको यह नहीं कहती कि तू मुझे सूंघ और न वह गंध तेरे द्वारा ग्रहण किये जाने के लिये आती है। किन्तु गंध घ्राणेन्द्रिय का विषय है इससे नासिका द्वारा मालूम होती है।

अशुभ या शुभ रस तुझको यह नहीं कहना कि तू मेरा स्वाद ले और न वह रस तेरे से ग्रहण किये जाने को आता है। रस रसना इन्द्रिय का विषय है इससे रसना से मालूम होता है।

अशुभ या शुभ स्पर्श तुझको यह नहीं कहता कि तू मुझे स्पर्श कर और न वह तेरे से ग्रहण किये जाने के लिए आता है। स्पर्श शरीर का विषय है। इससे काया द्वारा मालूम होता है।।२५३।।

(श्री समयसार, श्री जयसेनाचार्य टीका, ब्र. शीतल प्रसाद जी का अनुवाद, गाथा ४०१ से ४०५ सामान्यार्थ)

★ भावार्थ इस प्रकार है कि जीववस्तु का जो प्रत्यक्ष रूप से आस्वाद, उसको नाम से आत्मानुभव ऐसा कहा जाय अथवा ज्ञानानुभव ऐसा कहा जाय। नामभेद है, वस्तुभेद नहीं है। ऐसा जानना कि आत्मानुभव मोक्षमार्ग है। इस प्रसंग में और भी संशय होता है कि कोई जानेगा कि द्वादशांगज्ञान कुछ अपूर्व लब्धि है। उसके प्रति समाधान इस प्रकार है कि द्वादशांगज्ञान भी विकल्प है। उसमें भी ऐसा कहा है कि शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है, इसलिए शुद्धात्मानुभूति के होने पर शास्त्र पढने की कुछ अटक नहीं है।।२५४।।

(श्री समयसार कलश टीका, कलश १३ की टीका में से)

★ ज्ञान तो बराबर शुद्धजीव का स्वरूप है; इसलिये (हमारा) निज आत्मा अभी (साधक दशा में) एक (अपने) आत्मा को नियम से (निश्चय से) जानता है। और, यदि वह ज्ञान प्रगट हुई सहज दशा द्वारा सीधा

(प्रत्यक्ष रूप से) आत्मा को न जाने तो वह ज्ञान अविचल आत्मस्वरूप से अवश्य भिन्न सिद्ध होगा।।२५५।।

(श्री नियमसार, कलश २८६, श्री पद्मप्रभमलधारी देव)

★ और इसी प्रकार (अन्यत्र गाथा द्वारा) कहा है कि—(गाथार्थ) ज्ञान जीव से अभिन्न है इसलिये वह आत्मा को जानता है; यदि ज्ञान आत्मा को न जाने नो वह जीव से भिन्न सिद्ध होगा।।२५६।।

(श्री नियमसार, कलश २८६ के बाद)

★ ज्ञान जीव का स्वरूप है, इसलिये आत्मा आत्मा को जानता है; यदि ज्ञान आत्मा को न जाने तो आत्मा से व्यतिरिक्त (पृथक्) सिद्ध हो।।२५७।।

(श्री नियमसार, गाथा १७० श्री कुंदकुंदाचार्य जी)

★ इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नही है—जिसके इच्छा नही है। इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं होता, ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होता है; इसलिए अज्ञानमय भाव—इच्छा के अभाव होने से ज्ञानी अधर्म को नही चाहना; इसलिए ज्ञानी के अधर्म का परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सदभाव के कारण यह (ज्ञानी) अधर्म का केवल ज्ञायक ही है।

इसी प्रकार गाथा मे 'अधर्म' शब्द बदलकर उसके स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ कर्म, नोकर्म मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन—यह सोलह शब्द रखकर, सोलह गाथा सूत्र व्याख्यान रूप करना और इस उपदेश से दूसरे भी विचार करना चाहिए।

इस प्रकार इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नही है—जिसके

इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानी के तो होता नहीं है, ज्ञानी को ज्ञानमय ही भाव होता है; इसलिए अज्ञानमय भाव रूप जो इच्छा उसका अभाव होने के कारण ज्ञानी मन, वचन, काय, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन और स्पर्शन को नहीं इच्छता, इसलिए ज्ञानी को श्रोत्रादि (भावेन्द्रियों) का परिग्रह नहीं है, ज्ञानमय ऐसे एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण यह (ज्ञानी) श्रोत्रादि (इन्द्रियों) का केवल ज्ञायक ही है।।२५८।।

(श्री समयसार गाथा, २११ की टीका, श्री अमृतचंद्राचार्य देव)

★ वास्तव में राग नामक पुद्गल कर्म है उसके उदय के विपाक से उत्पन्न हुआ यह रागरूप भाव है, यह मेरा स्वभाव नहीं है; मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभव गोचर) टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव हूँ। (इस प्रकार सम्यग्दृष्टि विशेषतया स्व को और पर को जानता है।)

और इसी प्रकार राग पद को बदलकर उसके स्थान पर द्वेष, मोह क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म नोकर्म, मन, वचन, काय श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन—ये शब्द रखकर सोलह सूत्र व्याख्यान रूप करना और इसी उपदेश से दूसरे भी विचारना।।२५९।।

(श्री समयसार गाथा १९९ की टीका, श्री अमृतचंद्राचार्य देव)

★ जो सहज परम पारिणामिक भाव से स्थित, स्वभाव-अनन्त चतुष्टयात्मक शुद्ध ज्ञान चेतना परिणाम सो नियम (-कारणनियम) है। नियम (-कार्यनियम) अर्थात् निश्चय से (निश्चित) जो करने योग्य—प्रयोजन स्वरूप—हो वह अर्थात ज्ञान दर्शन, चारित्र। उन तीनों में से प्रत्येक का स्वरूप कहा जाता है।

(१) परद्रव्य का अवलम्बन लिये बिना निःशेषरूप से अन्तर्मुख योगशक्ति में से उपादेय (-उपयोग को सम्पूर्ण रूप से अन्तर्मुख करके

ग्रहण करने योग्य) ऐसा जो निज परमतत्व का परिज्ञान (-जानना) सो ज्ञान है।

(२) भगवान परमात्मा के सुखाभिलाषी जीव को शुद्ध अन्त: तत्व के विलास का जन्म-भूमिस्थान जो निज शुद्ध जीवास्तिकाय उससे उत्पन्न होने वाला जो परम श्रद्धान वही दर्शन है।

(३) निश्चय ज्ञान दर्शनात्मक कारणपरमात्मा में अविचल स्थिति (-निश्चल रूप से लीन रहना) ही चारित्र है। यह ज्ञान दर्शन चारित्र स्वरूप नियम निर्वाण का कारण है। उस 'नियम' शब्द को विपरीत के परिहार हेतु 'सार' शब्द जोडा गया है।।२६०।।

(श्री नियमसार गाथा ३ की टीका, श्री पद्मप्रभमलधारी देव)

★ उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(ते अक्खा) वे प्रसिद्ध पाँचो इन्द्रियाँ (अप्पणो) आत्मा की अर्थात् विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव-धारी आत्मा की (सहावो णेव भणिदा) स्वभाव रूप निश्चय से नहीं कही गई हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति भिन्न पदार्थ से हुई है (त्तिपर दव्वं) इसलिये वे परद्रव्य अर्थात पुदगल द्रव्यमयी हैं (तेहि उवलद्धं) उन इन्द्रियों के द्वारा जाना हुआ उन्ही के विषय योग्य पदार्थ सो (अप्पणो पच्चक्खं कहं होदि) आत्मा के प्रत्यक्ष किस तरह हो सकता है ? अर्थात किसी भी तरह नहीं हो सकता है।

जैसे पाँचों इन्द्रियाँ आत्मा के स्वरूप नहीं हैं ऐसे ही नाना मनोरथों के करने में 'यह बात कहने योग्य है मैं कहने वाला हूँ' इस तरह नाना विकल्पो के जाल को बनाने वाला जो मन है वह भी इन्द्रिय ज्ञान की तरह निश्चय से परोक्ष ही है, ऐसा जानकर क्या करना चाहिये सो कहते हैं—सर्व पदार्थों को एक साथ अखण्ड रूप से प्रकाश करने वाले परम

ज्योति स्वरूप केवलज्ञान के कारणरूप तथा अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप की भावना से उत्पन्न परम आनन्द एक लक्षण को रखने वाले सुख के वेदन के आकार में परिणमन करने वाले और रागद्वेषादि विकल्पों की उपाधि से रहित स्वसंवेदन ज्ञान में भावना करनी चाहिये, यह अभिप्राय है।।२६१।।

(श्री प्रवचनसार जी, श्री जयसेनाचार्य टीका, गाथा ५७)

★ **विषयानुभव और स्वात्मानुभव में उपादेय कौन है ?**

विषयानुभवं बाह्यं स्वात्मानुभवमान्तरम्।
विज्ञाय प्रथमं हित्वा स्थेयमन्यसर्वतः।।७५।।

इन्द्रिय विषयों का जो अनुभव है वह बाह्य (सुख) है और स्वात्मा का जो अनुभव है वह अंतरंग (सुख) है, यह बात जानकर बाह्य विषय—अनुभव को छोडकर स्वात्मानुभवरूप अंतरंग में पूर्णपणे स्थित होना चाहिए।।२६२।।

(श्री योगसार, श्री अमितगति आचार्य, चूलिका अधिकार गाथा ७५)

★ आगे निश्चयकर आत्मज्ञान से बहिर्मुख बाह्य पदार्थों का ज्ञान है, उससे प्रयोजन नहीं सधता, ऐसा अभिप्राय मन में रखकर कहते हैं—

(यत्) जो [निजबोधात्] आत्मज्ञान से [बाह्यं] बाहर (रहित) [ज्ञानमपि] शास्त्र वगैरहा का ज्ञान भी है, [तेन] उस ज्ञान से [कार्यं न] कुछ काम नहीं [येन] क्योंकि [तपः] वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान रहित तप [क्षणेन] शीघ्र ही [जीवस्स] जीव को [दुःखस्य] दुख का कारण [भवति] होता है।।२६३।।

(श्री परमात्मप्रकाश, अध्याय २ दोहा ७५, भावार्थ भी पढ़ना, श्री योगीन्दु देव)

★ निज दर्शन बस श्रेष्ठ है, अन्य न किंचित् मान।
हे योगी! शिवहेतु यह, निश्चय से तु जान।।२६४।।
(श्री योगसार, श्री योगीन्दु देव, गाथा १५)

★ शास्त्रपाठी भी मूर्ख है, जो निजतत्व अजान।
इस कारण ये जीव अरे! पावे नहीं निर्वान।।२६५।।
(श्री योगसार, श्री योगीन्दु देव, गाथा ५३)

★ मन इन्द्रिय से दूर हो, क्या पूछे बहु बात।
राग प्रसार निवारते, सहज स्वरूप उत्पाद।।२६६।।
(श्री योगसार, श्री योगीन्दु देव, गाथा ५४)

★ जो सकल इन्द्रियों के समूह से उत्पन्न होने वाले कोलाहल से विमुक्त है, जो नय और अनय के समूह से दूर होने पर भी योगियों को गोचर है, जो सदा शिवमय है, उत्कृष्ट है और जो अज्ञानियों को परम दूर है, ऐसा यह अनघ-चैतन्यमय सहजतत्व अत्यन्त जयवन्त है।।२६७।।
(श्री नियमसार जी, पद्मप्रभमलधारिदेव, कलश १५६)

★ जो अक्षय अंतरंग गुणमणियों का समूह है, जिसने सदा विशद-विशद (अत्यन्त निर्मल) शुद्ध भावरूपी अमृत के समुद्र में पापकलंकों को धो डाला है तथा जिसने इन्द्रियसमूह के कोलाहल को नष्ट कर दिया है, वह शुद्ध आत्मा ज्ञानज्योति द्वारा अंधकारदशा का नाश करके अत्यन्त प्रकाशमान होता है।।२६८।।
(श्री नियमसार जी, पद्मप्रभमलधारि देव, कलश १६३)

★ टीका :—यहाँ (इस गाथा में) समाधि का लक्षण (अर्थात् स्वरूप) कहा है।

समस्त इन्द्रियों के व्यापार का परित्याग सो संयम है। निज आत्मा

की आराधना में तत्परता सो नियम है। जो आत्मा को आत्मा में आत्मा से धारण कर रखता है—टिका रखता है—जोड़ रखता है वह अध्यात्म है और वह अध्यात्म सो तप है। समस्त बाह्य क्रियाकांड के आडम्बर का परित्याग जिसका लक्षण है ऐसी अंत:क्रिया के अधिकरणभूत आत्मा को—कि जिसका स्वरूप अवधि रहित तीनों काल (अनादि काल से अनन्त काल तक) निरूपाधिक है उसे—जो जीव जानता है, उस जीव की परिणतिविशेष वह स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान है।

ध्यान-ध्येय-ध्याता, ध्यान का फल आदि के विविध विकल्पों से विमुक्त (अर्थात् ऐसे विकल्पों से रहित), अंतर्मुखाकार (अर्थात् अंतर्मुख जिसका स्वरूप है ऐसा), समस्त इन्द्रियसमूह से अगोचर निरंजन-निज परमतत्त्व में अविचल स्थितिरूप (ऐसा जो ध्यान) वह निश्चयशुक्ल-ध्यान है। इन सामग्री विशेषों सहित (इस उपर्युक्त विशेष आंतरिक साधन सामग्री सहित) अखण्ड अद्वैत परम चैतन्यमय आत्मा को जो परमसंयमी नित्य ध्याता है, उसे वास्तव में परम समाधि है।।२६९।।

(श्री नियमसार जी, पद्मप्रभमलधारिदेव, गाथा १२३ टीका)

★ **अन्वयार्थ** :—जो सर्व सावद्य में विरत है, जो तीन गुप्ति वाला है और जिसने इन्द्रियों को बन्द (निरुद्ध) किया है, उसे सामायिक स्थायी है ऐसा केवली के शासन में कहा है।

टीका :—यहाँ (इस गाथा में) जो सर्व सावद्य व्यापार से रहित है, जो त्रिगुप्ति द्वारा गुप्त है तथा जो समस्त इन्द्रियों के व्यापार से विमुख है, उस मुनि को सामायिकव्रत स्थायी है ऐसा कहा है।

यहाँ (इस लोक में) जो एकेन्द्रियादि प्राणीसमूह को क्लेश के हेतुभूत समस्त सावद्य के व्यासंग से विमुक्त है, प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त काय-वचन-मन के व्यापार के अभाव के कारण त्रिगुप्त (तीन गुप्ति वाला) है

और स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्र नामक पाँच इन्द्रियों द्वारा उस-उस इन्द्रिय के योग्य विषय के ग्रहण का अभाव होने से बन्द की हुई इन्द्रियों वाला है, उस महामुमुक्षु परमवीतरागसंयमी को वास्तव में सामायिकव्रत शाश्वत—स्थायी है।।२७०।।

(श्री नियमसार जी, कुंदकुंदाचार्य—पद्मप्रभमलधारिदेव, गाथा १२५)

★ **भावार्थ :**—शुद्धनय की दृष्टि से तत्त्व का स्वरूप विचार करने पर अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य में प्रवेश दिखाई नहीं देता। ज्ञान में अन्य द्रव्य प्रतिभासित होते हैं सो तो यह ज्ञान की स्वच्छता का स्वभाव है; कहीं ज्ञान उन्हें स्पर्श नहीं करता अथवा वे ज्ञान को स्पर्श नहीं करते। ऐसा होने पर भी, ज्ञान में अन्य द्रव्यों का प्रतिभास देखकर यह लोग ऐसा मानते हुए ज्ञानस्वरूप से च्युत होते हैं कि 'ज्ञान को परज्ञेयों के साथ परमार्थ सम्बन्ध है'; यह उनका अज्ञान है। उन पर करुणा करके आचार्यदेव कहते हैं कि—यह लोग तत्त्व से क्यों च्युत हो रहे हैं।।२७१।।

(श्री समयसार जी, पं. श्री जयचंद्रजी कलश २१५ का भावार्थ)

★ सकल इन्द्रियसमूह के आलम्बनरहित, अनाकुल, स्वहित में लीन, शुद्ध, निर्वाण के कारण का कारण (मुक्ति के कारणभूत शुक्लध्यान का कारण), शम-दम-यम का निवासस्थान, मैत्री-दया-दम का मन्दिर (घर)—ऐसा यह श्री चन्द्रकीर्तिमुनि का निरूपम मन (चैतन्यपरिणमन) वंद्य है।।२७२।।

(श्री नियमसार जी, पद्मप्रभमलधारिदेव, कलश १०४)

★ **टीका :**—प्रथम तो इस लोक में भगवन्त सिद्ध ही शुद्धज्ञानमय होने से सर्वतः चक्षु हैं, और शेष सभी जीव मूर्त द्रव्यों में ही उनकी दृष्टि लगने से इन्द्रिय-चक्षु हैं। देव सूक्ष्मत्व विशिष्ट मूर्त द्रव्यों को ग्रहण करते हैं

इसलिए वे अवधिचक्षु हैं; अथवा वे भी मात्र रूपी द्रव्यों को देखते हैं इसलिए उन्हें इन्द्रिय चक्षु वालों से अलग न किया जाय तो, इन्द्रियचक्षु ही हैं। इस प्रकार यह सभी संसारी मोह से उपहत होने के कारण ज्ञेयनिष्ठ होने से, ज्ञाननिष्ठता का मूल जो शुद्धात्मतत्व का संवेदन उससे साध्य (सधनेवाला) ऐसा सर्वत: चक्षुपना उनके सिद्ध नहीं होता।

अब, उस (सर्वत: चक्षुपने) की सिद्धि के लिए भगवंत श्रमण आगमचक्षु होते हैं। यद्यपि ज्ञेय और ज्ञान का पारस्परिक मिलन हो जाने से-उन्हें भिन्न करना अशक्य है (अर्थात् ज्ञेयों ज्ञान में ज्ञात न हों ऐसा करना अशक्य है) तथापि वे उस आगम-चक्षु से स्वपर का विभाग करके, महामोह को जिन्होंने भेद डाला है ऐसे वर्तते हुए परमात्मा को पाकर, सतत ज्ञाननिष्ठ ही रहते हैं।।२७३।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा २३४ टीका श्री अमृतचंद्राचार्य)

★ **टीका :**—इस लोक में वास्तव में, स्यात्कार जिसका चिन्ह है ऐसे आगमपूर्वक तत्वार्थश्रद्धानलक्षण वाली दृष्टि से जो शून्य हैं उन सभी को प्रथम तो संयम ही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि (१) स्वपर के विभाग के अभाव के कारण काया और कषायो के साथ एकता का अध्यवसाय करने वाले ऐसे वे जीव विषयों की अभिलाषा का निरोध नहीं होने से छह जीवनिकाय के घाती होकर सर्वत: (सब ओर से) प्रवृत्ति करते हैं, इसलिए उनके सर्वत: निवृत्ति का अभाव है। (अर्थात् किसी भी ओर से—किंचित्मात्र भी निवृत्ति नहीं है) तथापि (२) **उनके परमात्मज्ञान के अभाव के कारण ज्ञेय समूह को क्रमश: जानने वाली निरर्गल ज्ञप्ति होने से ज्ञानरूप आत्मतत्व में एकाग्रता की प्रवृत्ति का अभाव है।** (इस प्रकार उनके संयम सिद्ध नहीं होता) और (इस प्रकार) जिनके संयम सिद्ध नहीं होता उन्हें सुनिश्चित एकाग्र्यपरिणतता रूप श्रामण्य ही—जिसका दूसरा नाम मोक्षमार्ग है वही—सिद्ध नहीं

होता।।२७४।।

(श्री प्रवचनसार जी, गाथा २३६, टीका अमृतचंद्राचार्य)

★ **भावार्थ :**—इन्द्रियजन्य ज्ञान कर्मोदय—उपाधि सहित है। और कर्मोदय-उपाधि दु:खरूप है। और कर्म बंध का कारण है इसलिये यह ज्ञान दु:खदायक ही है।।२७५।।

(श्री पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, गाथा ३०५-३०६ का भावार्थ
पं. श्री मक्खनलालजी)

★ **विशेषार्थ :**—यहाँ इन्द्रिय निमित्तक ज्ञान में दोष बतलाकर वह दु:खरूप कैसे है यह बतलाया गया है। यह तो स्पष्ट ही है कि इन्द्रियज्ञान स्वभावोत्थ न होकर विविध कारण कलापों के मिलने पर ही होता है, अन्यथा नहीं होता, इसलिये वह व्याकुलता का कारण होने से दु:खरूप है। अधिकतर देखा तो यहाँ तक जाता है कि मिथ्यात्व के सद्भाव में जीव की जो नाना प्रकार से दुर्दशा होती है उसमें इसका बड़ा हाथ रहता है। संसारी जीव पहले विषयों को ज्ञान द्वारा जानता है और तब उसमें राग-द्वेष करता है। इसलिये अनर्थ परम्परा की जड़ यह इन्द्रियज्ञान ही है। अत: यह भी हेय है। बुद्धिमान इसका कभी भी आदर नहीं करता। किन्तु वह अविनाशी, निश्चल, पर निरपेक्ष ज्ञान के लिये सतत् प्रयत्नशील है।।२७६।।

(श्री पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, गाथा ३०६ का विशेषार्थ
पं. श्री फूलचन्द्र जी)

★ ज्ञान अर्थविकल्पात्मक होता है अर्थात् ज्ञान स्व-पर पदार्थ को विषय करता है इसलिए ज्ञान सामान्य की अपेक्षा से ज्ञान एक ही है। क्योंकि अर्थ विकल्पपना सभी ज्ञानों में है परन्तु विशेष-विशेष विषयों की अपेक्षा से उस ही ज्ञान के दो भेद हो जाते हैं, (१) सम्यक्‌ज्ञान (२) मिथ्या-

ज्ञान।।२७७।।

(श्री पंचाध्यायी, पूर्वार्द्ध, श्री मक्खनलाल जी गाथा ५५८)

★ **वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा**
भिन्ना भावा: सर्व एवास्य पुंस:।
तेनैवांतस्तत्वत: पश्यतोऽमी
नो दृष्टा: स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात्।।३७।।

अर्थ :—जो वर्णादिक अथवा रागमोहादिक भाव कहे वे सब ही इस पुरुष (आत्मा) से भिन्न हैं इसलिए अन्तर्दृष्टि से देखने वाले को यह सब दिखायी नहीं देते, मात्र एक सर्वोपरि तत्त्व ही दिखायी देता है—केवल एक चैतन्य भावस्वरूप अभेदरूप आत्मा ही दिखायी देता है।

भावार्थ :—परमार्थनय अभेद ही है इसलिए इस दृष्टि से देखने पर भेद नहीं दिखायी देता; इस नय की दृष्टि में पुरुष चैतन्यमात्र ही दिखायी देता है। इसलिए वे समस्त ही वर्णादिक तथा रागादिक भाव पुरुष से भिन्न ही हैं।।२७८।।

(श्री समयसार जी, कलश ३७, श्री अमृतचंद्राचार्य,
भावार्थ पंडित श्री जयचंद्र जी छावड़ा)

★ **खण्डान्वय सहित अर्थ :**—"अस्य पुंस: सर्व एव भावा भिन्ना:" (अस्य) विद्यमान है ऐसे (पुंस:) शुद्धचैतन्यद्रव्य से (सर्व) जितने हैं वे सब (भावा:) अशुद्धविभाव परिणाम (एव) निश्चय से (भिन्ना:) जीव स्वरूप से निराले हैं। वे कौन से भाव ? "वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा" (वर्णाद्या:) एक कर्म अचेतन शुद्ध पुद्गलपिण्डरूप हैं वे तो जीव के स्वरूप से निराले ही हैं (वा) एक तो ऐसा है कि (रागमोहादय:) विभावरूप अशुद्धरूप हैं, देखने पर चेतन जैसे दिखते हैं, ऐसे जो राग-द्वेष-मोहरूप जीव सम्बन्धी परिणाम वे भी शुद्धजीवस्वरूप को अनुभवने पर जीवस्वरूप से भिन्न हैं।

यहाँ पर कोई प्रश्न करता है कि विभाव परिणाम को जीवस्वरूप से भिन्न कहा सो भिन्न का भावार्थ तो मैं समझा नहीं। भिन्न कहने पर, भिन्न हैं। सो वस्तुरूप है कि भिन्न हैं सो अवस्तुरूप हैं? उत्तर इस प्रकार है कि—**अवस्तुरूप** हैं। "तेन एव अन्तस्तत्वत: पश्यत: अमी दृष्टा: नोस्यु:" (तेन एव) उसी कारण से (अन्तस्तन्वन: पश्यत:) शुद्ध स्वरूप का अनुभवशील है जो जीव उसको (अमी) विभाव परिणाम (दृष्टा) दृष्टिगोचर (नो स्यु:) नहीं होते। "परं एकं दृष्टं स्यात्" (परं) उत्कृष्ट है ऐसा (एकं) शुद्धचैतन्य द्रव्य (दृष्टं) दृष्टिगोचर (स्यात्) होता है। भावार्थ इस प्रकार है कि वर्णादिक और रागादिक विद्यमान दिखलायी पड़ते हैं तथापि स्वरूप अनुभवने पर स्वरूपमात्र है, विभावपरिणति रूप वस्तु तो कुछ नहीं।।२७९।।

(श्री समयसार कलश टीका, कलश ३७, पांडे श्री राजमल जी कृत)

श्री तत्वानुशासन

★ **तदर्थानिन्द्रियैर्गृ ह्णन्मुह्यति द्वेष्टि रज्यते।**
ततो बद्धो भ्रमत्येव मोहव्यूह-गतः पुमान।।१९।।

अर्थ :—इस प्रकार इन्द्रियों के विषयों को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करता हुआ जीव राग करता है, द्वेष करता है। तथा मोह को प्राप्त होता है। और इन रागद्वेष-मोहरूप प्रवृत्तियों द्वारा नये कर्म से बंधता है। इस प्रकार मोह की सेना से घिरा हुआ और उसके चक्कर में पड़ा हुआ फँसा हुआ—यह जीव परिभ्रमण कर रहा है।।२८०।।

(श्री रामसेनाचार्य विरचित श्री तत्वानुशासन श्लोक १९)

★ **यो मध्यस्थः पश्यति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्याऽऽत्मा।**
दृगवगमचरणरूपः स निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति हि जिनोक्तिः।।३२।।

अर्थ :—जो दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मा मध्यस्थभाव से आत्मा को आत्मा द्वारा आत्मा में देखता है जानता है—वह निश्चय से स्वयम् मुक्ति का कारण बनता है। ऐसा सर्वज्ञदेव जिनवर की वाणी में कहा है।।२८१।।

(श्री रामसेनाचार्य विरचित श्री तत्वानुशासन श्लोक ३२)

★ **गुप्तेन्द्रिय-मना ध्याता ध्येयं वस्तु यथास्थितम्।**
ऐकाग्र-चिंतनं ध्यानं निर्जरा-संवरौ फलम्।।३८।।

अर्थ :—इन्द्रियों तथा मनोयोग का निग्रह करने वाला ध्याता कहलाता है। यथावस्थित वस्तु ध्येय कहलाती है। एकाग्रचिंतन वह ध्यान है। और 'फलरूप' निर्जरा तथा संवर भाव होता है। यह धर्मध्यान की

सामग्री कही है।।२८२।।

(श्री रामसेनाचार्य विरचित श्री तत्वानुशासन श्लोक ३८)

★ **ध्याता को ध्यान कहने का कारण :—**

ध्येयाऽर्थाऽऽलम्बनं ध्यानं ध्यातुर्यस्मान्न भिद्यते।
द्रव्यार्थिकनयात्तस्माद्ध्यातैव ध्यानमुच्यते।।७०।।

अर्थ :—निश्चयनय की दृष्टि से ध्येयवस्तु के अवलम्बन रूप जो ध्यान है वह वास्तव में ध्याता से भिन्न नहीं होता अर्थात् ध्याता आत्मा को छोड़कर अन्य किसी वस्तु का अवलम्बन नहीं लेता इसलिए ध्याता यही ध्यान है ऐसा कहा है निश्चयनय की दृष्टि से ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यान के साधनों का कोई विकल्प नहीं उठता है—ऐक्यता है।।२८३।।

(श्री रामसेनाचार्य विरचित श्री तत्वानुशासन श्लोक ७०)

★ **ध्याति का लक्षण :—**

इष्टे ध्येये स्थिरा बुद्धिर्या स्यात् सन्तान-वर्तिनी।
ज्ञानाऽन्तराऽपरामृष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमीरिता।।७२।।

अर्थ :—संतानक्रमे अर्थात् प्रवाह रूप से चली आ रही बुद्धि अपने इष्टध्येय में स्थिर हुयी तो अन्य को जानने में स्पर्श नहीं करती इसी को ध्यातिरूप ध्यान कहने में आता है।

भावार्थ :—निश्चयनय से शुद्ध स्वात्मा ही ध्येय है। और प्रवाहरूप से शुद्ध स्वात्मा में वर्तने वाली बुद्धि जब आत्मा में स्थिर होती है तब वह बुद्धि-ज्ञान—अन्य कोई पदार्थ को स्पर्श नहीं करती ऐसी ध्यानारुढ़ बुद्धि अर्थात् ध्याति ही ध्यान कहने में आती है।।२८४।।

(श्री रामसेनाचार्य विरचित श्री तत्वानुशासन श्लोक ७२)

★ **आत्मद्रव्य सर्वाधिक ध्येय किसलिए है ?**

सति हि ज्ञातरि ज्ञेयं ध्येयतां प्रतिपद्यते।
ततो ज्ञानस्वरूपोऽयमात्मा ध्येयतमः स्मृतः।।११८।।

अर्थ :—ज्ञाता के अस्तित्व में ही ज्ञेय है वह ध्येयता को प्राप्त बनता है। इसलिए ज्ञानस्वरूप आत्मा ही ध्येयतम—सर्वाधिक ध्येय है।

भावार्थ :—जब कोई भी ज्ञेय वस्तु ज्ञाता बिना ध्येयता को प्राप्त नहीं होती इसलिए ज्ञानस्वरूप आत्मा ही अधिक महत्व का ध्येय ठहरता है।।२८५।।

(श्री रामसेनाचार्य विरचित श्री तत्वानुशासन श्लोक ११८)

★ **स्वसंवेदन का लक्षण**

वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः।
तत्स्व-संवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशम्।।१६१।।

अर्थ :—योगी को साक्षात् दर्शन रूप अपने आत्मा का जो अपने द्वारा वेद्यपना और वेदकपना है उसको स्वसंवेदन कहते हैं। और वह आत्मा के दर्शनरूप अनुभव है।।२८६।।

(श्री रामसेनाचार्य विरचित तत्वानुशासन श्लोक १६१)

★ **स्वात्मा के द्वारा संवेद्य आत्मस्वरूप**

दृग्बोध-साम्यरूपत्वाज्जानन्पश्यन्नुदासिता।
चित्सामान्य-विशेषात्मास्वात्मनैवाऽनुभूयताम्।।१६३।।

अर्थ :—दर्शन—ज्ञान और समतारूप परिणमता हुआ—ज्ञाता-द्रष्टा और वीतरागता को धारण करता हुआ आत्मा सामान्य—विशेषरूप ज्ञानरूप अथवा ज्ञान-दर्शनात्मक उपयोग रूप है। ऐसे आत्मा को स्वात्मा

द्वारा ही अनुभव करना चाहिए।

भावार्थ :—आत्मा ज्ञान-दर्शन और समतारूप है। अर्थात् जो ज्ञाता द्रष्टा और उपेक्षिता (वीतरागता) इस लक्षण में जो स्थित है उसको सामान्य—विशेषरूप से (चैतन्यस्वरूप है)—दर्शन-ज्ञानस्वरूप है ऐसा अनुभवना चाहिए।।२८७।।

(श्री रामसेनाचार्य विरचित श्री तत्वानुशासन श्लोक १६३)

★ इन्द्रियज्ञान तथा मन द्वारा आत्मा दिखायी नहीं देता

न हीन्द्रियधिया दृश्यं रूपादिरहितत्वत:
वितर्कास्तन्न पश्यन्ति ते ह्यविस्पष्ट-तर्कणा:।।१६६।।

अर्थ :—आत्मा का स्वरूप रूपादि से रहित होने से इन्द्रियज्ञान द्वारा नहीं देख सकते तथा तर्क करने से भी नहीं दिखता क्योंकि अपने तर्क में विशेष रूप से स्पष्ट जानने में नहीं आता।

भावार्थ :—इन्द्रियाँ वर्ण-रस-गंध और स्पर्श विशिष्ट पदार्थों को जान सकती हैं। परन्तु आत्मा तो ऐसे वर्णादि गुणों से रहित है तथा अनुमान आदि द्वारा तर्क करने से भी अर्थात् मन से भी नहीं दिखता है। वितर्क अर्थात् श्रुत है वह मन का विषय है इसलिए वितर्क द्वारा भी आत्मा दिखायी नहीं देता है।।२८८।।

(श्री रामसेनाचार्य विरचित श्री तत्वानुशासन श्लोक १६६)

★ इन्द्रिय-मन का व्यापार बंद होने पर स्वसंवित्ति द्वारा आत्मदर्शन—

उभयस्मिन्निरूद्दे तु स्याद्विस्पष्टमतीन्द्रियम्।
स्वसंवेद्यं हि तद्रूपं स्वसंवित्यैव दृश्यताम्।।१६७।।

अर्थ :—इन्द्रिय और मन दोनों का निरोध होने पर अतीन्द्रियज्ञान

विशेषरूप से स्पष्ट होता है। इसलिए आत्मा का यह रूप जो स्वसंवेदन से दिखायी देता है उसको स्वसंवेदन द्वारा ही देखना चाहिए।

भावार्थ :—ज्ञानस्वरूप स्वसंवेदन द्वारा ही आत्मस्वरूप को देखना, अन्य कोई उपाय नहीं है। उसके लिए इन्द्रिय और मन का व्यापार बंद करके अर्थात् इन्द्रिय और मन को आत्माधीन करना यही उपाय है।।२८९।।

(श्री रामसेनाचार्य विरचित श्री तत्वानुशासन श्लोक १६७)

★ **स्वसंविति का स्पष्ट अर्थ—**

वपुषोऽप्रतिभासेऽपि स्वातंत्र्येन चकासती।
चेतना ज्ञानरूपेयं स्वयम् दृश्यत एव हि।।१६८।।

अर्थ :—स्वतंत्रपने चमकती (प्रकाशती) यह ज्ञानरूप चेतना वह शरीर रूप से प्रतिभासित नहीं होती हुई स्वयम् ही देखने में आती है।

भावार्थ :—*संविति, अर्थात् ज्ञानचेतना। वह पर की अपेक्षा नहीं* रखती स्वतंत्ररूप से प्रकाशती हुई देखने में आती है। उसमें शरीर का कुछ भी प्रतिभास नहीं होता है।।२९०।।

(श्री रामसेनाचार्य विरचित श्री तत्वानुशासन श्लोक १६८)

★ **समाधि में आत्मा को ज्ञान स्वरूप नहीं अनुभव करने वाला योगी आत्मध्यानी नहीं है।**

समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नाऽनुभूयते।
तदा न तस्य तद्ध्यानं मूर्च्छावन्मोह एव सः।।१६९।।

अर्थ :—समाधि में स्थित योगी यदि आत्मा को ज्ञानस्वरूप अनुभव नहीं करता तो समझना कि उस समय उसको आत्मध्यान नहीं है। परन्तु मूर्च्छागत मोह मात्र है। यहाँ ध्यानस्तवन की ५वीं गाथा कही है कि—

समाधिस्थस्य यद्यात्मा ज्ञानात्मा नाऽवभासते।
न तद्ध्यानं त्वया देव! गीतं मोहस्वभावकम्।।

ज्ञानस्वरूप के अनुभव के बिना का ज्ञान मोहकृत मूर्च्छा ही है ऐसा कहा है।।२९१।।

(श्री रामसेनाचार्य विरचित श्री तत्वानुशासन श्लोक १६९)

★ **आत्मा के अनुभव का फल :—**

तमेवानुभवं स्वायमेकाग्र्यं परमृच्छति।
तथाऽऽत्माधीनमानन्दमेति वाचामगोचरम्।।१६०।।

अर्थ :—ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करता हुआ योगी—समाधिस्थ योगी—परम एकाग्रता को प्राप्त होता है जिससे ऐसे स्वाधीन आनन्द का अनुभव करता है कि जो वचनगोचर नहीं है। यहाँ अध्यात्म-रहस्य (अ. २) की गाथा कही है—

मामेवाऽहं तथा पश्यन्नैकाग्र्यं परमश्नुवे।
भजे मत्कन्दमानन्दं निर्जरा संवरावहम्।।४७।।

भावार्थ :—आत्मदर्शन से ध्यान में एकाग्रता की वृद्धि होती है। जिससे योगी को स्वाभाविक आत्मीय आनन्द की प्राप्ति होती है। जिसका वर्णन नहीं कर सकते।।२९२।।

(श्री रामसेनाचार्य विरचित तत्वानुशासन श्लोक १७०)

★ **स्वरूपनिष्ठ योगी एकाग्रता को नहीं छोड़ता :—**

यथा निर्वात-देशस्थः प्रदीपो न प्रकम्पते।
तथा स्वरूपनिष्ठोऽयं योगी नैकाग्र्यं मुञ्चति।।१७१।।

अर्थ :—जैसे पवन रहित स्थान में रखे हुए दीपक में कम्पन नहीं

होता—अडोल रहता है—वैसे ही स्वरूप में स्थित योगी एकाग्रता को नहीं छोड़ता।

भावार्थ :—जहाँ वायु का संचार नहीं होता वहाँ दीपक अडोल रहता है। वैसे ही बाह्यद्रव्यों के संसर्ग से रहित योगी अपने स्वरूप में स्थिर रहता है।—अपनी एकाग्रता को नहीं छोड़ता (अटल-अचल टिकता है)।।२९३।।

(श्री रामसेनाचार्य विरचित श्री तत्वानुशासन श्लोक १७१)

★ स्वआत्मा में लीन योगी को बाह्य पदार्थ प्रतिभासित नहीं होते :—

तदा च परमैकाग्र्याद् बहिरर्थेषु सत्स्वपि।
अन्यत्र किंचनीऽऽभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः।।१७२।।

अर्थ :—योगी समाधिकाल में स्वआत्मा को देखता है, जिससे बाह्य पदार्थ जो कि वहाँ विद्यमान होने पर भी आत्मा परम एकाग्रता को प्राप्त होने से उसे बाह्य पदार्थों का कुछ भी भान नहीं रहता। यह सब परम एकाग्रता की ही महिमा है कि अन्य किसी भी प्रकार का चिन्तन नहीं होता।।२९४।।

(श्री तत्वानुशासन, श्री रामसेनाचार्यकृत श्लोक १७२)

★ अन्य से शून्य होने पर भी आत्मा स्वरूप से शून्य नहीं होता :—

अत एवाऽन्य-शून्योऽपि नाऽऽत्मा शून्यः स्वरूपतः।
शून्याऽशून्य स्वभावोऽयमात्मनैवोपलभ्यते।।१७३।।

अर्थ :—इसलिए अन्य पदार्थों से शून्य होने पर भी आत्मस्वरूप से

शून्य नहीं होता—आत्मस्वरूप में लीन है। आत्मा का यह शून्यता और अशून्यता स्वभाव अपने आत्मा द्वारा ही उपलब्ध होता है—अन्य बाह्य पदार्थों द्वारा नहीं अर्थात् शून्याऽशून्य स्वभाव को प्राप्त होता है।

भावार्थ :—परद्रव्यादि चतुष्टयके स्वभाव की अपेक्षा से आत्मा शून्य और स्वद्रव्यादि चतुष्टय के सद्भाव से अशून्य होता है। अर्थात् आत्मा स्वसंवेद्य है।।२९५।।

(श्री रामसेनाचार्य विरचित श्री तत्वानुशासन श्लोक १७३)

★ मुक्ति के लिए नैरात्म्याद्वैत दर्शन की उक्ति का स्पष्टीकरण :—

ततश्च यज्जगुर्मुक्त्यै नैरात्म्याऽद्वैत-दर्शनम्।
तदेतदेव यत्सम्यगन्याऽपोढाऽऽत्मदर्शनम्।।१७४।।

अर्थ :—मुक्ति की प्राप्ति के लिए जो नैरात्म्य-अद्वैत दर्शन की बात कही है उसका अर्थ ऐसा है कि उसमें अन्य आभास रहित सम्यग्आत्मदर्शन रूप है।

भावार्थ :—नैरात्म्याद्वैत जो कहा है वह किसी आगम में होगा उसकी यहाँ स्पष्टता की है कि अन्य आभास से रहित मात्र केवल आत्मदर्शन रूप से परिणमना। वहाँ अन्य किसी वस्तु का प्रतिभास नहीं है। और यदि प्रतिभास होता है तो समझना कि वहाँ अद्वैत दर्शन नहीं है।।२९६।।

(श्री रामसेनाचार्य विरचित श्री तत्वानुशासन श्लोक १७४)

पू. गुरुदेवश्री के वचनामृत

★ प्रभु ! तू सर्वको जाननहार देखनहार स्वरूप से पूर्ण है न ? लेकिन तेरे पूर्ण स्वरूप को न जानकर, अकेले (पर) ज्ञेय को जानने-देखने में रुक गया वह तेरा अपराध है। पुण्य-पाप के भाव को करना और जानन-देखन स्वभाव को भूल जाना वह तेरा अपराध है। पुण्य-पाप वो ही और इतना ही मेरा ज्ञेय है ऐसा मानकर उसको ही जानने में रुक गया और अपने पूर्ण ज्ञाता स्वभाव को भूल गया वह तेरा अपराध है। कर्म के कारण से तेरे पूर्ण स्वभाव को तू जानता नहीं है—ऐसा नहीं है, लेकिन वह तेरा खुद का ही अपराध है।।२९७।।

(गुजराती आत्मधर्म, ९६वीं जन्म जयंति अंक,
अप्रैल १९८५ पू. गुरुदेवश्री के बोल नं. ५१)

★ ग्यारह अंग और नव पूर्व की लब्धि होती है वह ज्ञान भी खण्ड-खण्ड ज्ञान है, आत्मा का ज्ञान नहीं है। आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है, इन्द्रिय ज्ञान वह आत्मा नहीं है। आँख से हजारों शास्त्र वांचे या कान से सुनें वह इन्द्रिय ज्ञान है, आत्मज्ञान नहीं है, आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान से जानने वाला है इन्द्रियज्ञान से जाने वह आत्मा नहीं है। आत्मा को जानने से जो आनन्द का स्वाद आता है वह स्वाद इन्द्रियज्ञान से नहीं आता, इसलिये इन्द्रियज्ञान वह आत्मा नहीं है।।२९८।।

(गुजराती आत्मधर्म, अप्रैल १९८५,
पू. गुरुदेवश्री के बोल नं. ५४)

★ आबाल गोपाल सब वास्तव में जाननहार को ही जानते हैं लेकिन उसको जाननहार का जोर दिखाई नहीं देता इसलिये यह राग है, यह

पुस्तक है, यह वाणी है इसलिये ज्ञान होता है ऐसे उसका वजन पर में ही जाता है। उसकी श्रद्धा में अपने सामर्थ्य का विश्वास ही नहीं आता, इसलिये जाननहार को ही जानता है, यह बैठता नहीं है।।२९९।।

(गुजराती आत्मधर्म, मई १९८४,
पू. गुरुदेवश्री के बोल नं. १२)

★ यहाँ तो कहते हैं—भगवान ! तू पर को जानता ही नहीं है। भगवान लोकालोक को जानते हैं ऐसा कहना वह तो असद्भूत व्यवहार है।

भगवान ! तू पर को जानता ही नहीं है।।३००।।

(पू. गुरुदेवश्री का प्रवचन, श्री प्रवचनसार गाथा ११४ के ऊपर
अध्यात्म प्रवचनरत्नत्रय में से पृष्ठ १३९)

★ आत्मा वास्तव में पर को जानता ही नहीं है तो फिर पर को जानने के लिये उपयोग लगाना यह बात ही कहाँ रही ?

आत्मा आत्मा को जानता है ऐसा कहना वह भी भेद होने से व्यवहार है। वास्तव में ज्ञायक तो ज्ञायक ही है वह निश्चय है। जैन दर्शन बहुत सूक्ष्म है।।३०१।।

(गुजराती आत्मधर्म, मार्च १९८१ में से उद्धृत)

★ ज्ञानी को समय-समय में ज्ञेय सम्बन्धी अपने ज्ञान की प्रसिद्धि है लेकिन ज्ञेय की प्रसिद्धि नहीं है। अहा ! ज्ञान तो ज्ञान को प्रसिद्ध करता ही है लेकिन ज्ञेय भी ज्ञान को प्रसिद्ध करते हैं। यह सत् की पराकाष्टा है।।३०२।।

(अध्यात्म प्रणेता गुजराती में से उद्धृत)

★ स्वयं अपने (आत्मा) को जानते-जानते वह सर्व को जाने ऐसा उसका

ज्ञानस्वभाव है। अपना स्वपर-प्रकाशक स्वभाव होने से अपने को जानने पर वो सब सहज जानने में आ जाता है। परन्तु अकेले पर को ही जानना वो मिथ्याज्ञान है। स्वभाव में तन्मय होकर अपने को जानते ही पर जानने में आ जाता है उसको व्यवहार कहते हैं। इसका नाम सम्यग्ज्ञान है।।३०३।।

(श्री गुजराती प्रवचनरत्नाकर, भाग-५, पृष्ठ ३५१)

★ यहाँ तो स्वद्रव्य को—आत्मा को जानने की बात है। इसलिये कहते हैं—इन्द्रिय और मन द्वारा प्रवर्तने वाली जो बुद्धि अर्थात् ज्ञान की अवस्थाएँ—उन सबको मर्यादा में लाकर मतिज्ञानतत्व को आत्मसन्मुख करने पर आत्मा प्रसिद्ध होता है। इन्द्रिय और मन द्वारा प्रवर्तते हुए ज्ञान का जो पर सन्मुख झुकाव है उसको वहाँ से समेटकर स्वसन्मुख करने पर भगवान आत्मा जानने में आता है, अनुभव में आता है।।३०४।।

(श्री गुजराती प्रवचनरत्नाकर, भाग-५, पृष्ठ ३५३)

★ मति ज्ञान के स्वरूप को उसने जाननहार के प्रति झुका दिया है, पर ज्ञेय से हटाकर मति ज्ञान के स्वरूप को 'स्वज्ञेय' में लगा दिया है ऐसा मार्ग और ऐसी विधि है। बापू ! उसको (आत्मा को) जाने बिना यों का यों ही भव पूरा हो जाता है। अरेरे ! ऐसा सत्य स्वरूप सुनने को मिले नहीं तो वह बेचारे धर्म कब प्राप्त करेंगे ? बहुत से तो मिथ्यात्व को अति पुष्ट करते हुए सम्प्रदाय में पड़े हैं। अहा ! क्रियाकांड के राग में वह बेचारे सारा जीवन बर्बाद कर देते हैं।।३०५।।

(श्री गुजराती प्रवचनरत्नाकर, भाग-५, पृष्ठ ३५३)

★ आत्मा ज्ञायक स्वभावी वस्तु है। और यह शरीर परिणाम को प्राप्त जो इन्द्रियां हैं वो जड़ हैं। तथा एक-एक विषय को जो खण्ड-खण्डपने—जानती हैं—वो भावेन्द्रियाँ अर्थात् क्षयोपशम ज्ञान भी वास्तव

में इन्द्रिय है। शरीर परिणाम को प्राप्त जड़-इन्द्रियाँ जैसे—ज्ञायक का परज्ञेय हैं—वैसे ही शब्द, रस, रूप, गंध आदि को जानने वाली भावेन्द्रियाँ भी निश्चय से ज्ञायक का परज्ञेय हैं; ज्ञायक भगवान आत्मा का वो स्वज्ञेय नहीं है। वैसे ही भावेन्द्रियों से ज्ञात होने वाले जो शब्द, रस, गंध, स्पर्शादि परपदार्थ वो भी परज्ञेय हैं। स्वज्ञेयपने जानने लायक ज्ञायक और पर तरीके जानने लायक परज्ञेय—इन दोनों की एकत्व बुद्धि वो मिथ्यात्व, अज्ञान और संसार भाव है। इन तीनों को (द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और उसके विषयभूत पदार्थों को) जो जीते अर्थात् परज्ञेय तरफ का लक्ष छोड़कर स्वज्ञेय जो शुद्ध ज्ञायक भाव स्वरूप आत्मा है उसका अनुभव करे, उसको जाने, वेदे और माने, वो सम्यक्दृष्टि है। और उसे केवली की साँची अथवा निश्चय स्तुति होती है।।३०६।।

(श्री गुजराती प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, पृष्ठ १२१)

★ अब, भावेन्द्रियों को जीतने की बात करते हैं। अलग-अलग अपने-अपने विषयों में व्यापारपने से जो विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं वे भावेन्द्रियाँ हैं। कान का क्षयोपशम शब्द को जानता है, आँख का क्षयोपशम रूप को जानता है, स्पर्श का क्षयोपशम स्पर्श को जानता है इत्यादि अपने-अपने विषयों में व्यापार करके जो विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं (जानती हैं) वे भावेन्द्रियाँ हैं। यह बाह्य इन्दियों की बात नहीं है। एक-एक इन्द्रिय अपना-अपना व्यापार करती है इसलिये ज्ञान को वह खण्ड-खण्ड रूप दर्शाती है। जैसे द्रव्येन्द्रियों और आत्मा को एकपने मानना वह अज्ञान है, वैसे ही ज्ञान को खण्ड-खण्ड रूप से दर्शाने वाली भावेन्द्रियों और ज्ञायक को एकरूप मानना वह भी मिथ्यात्व है, अज्ञान है। अलग-अलग अपने-अपने विषयों को जो खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं और अखण्ड एकरूप ज्ञायक को जो खण्ड-खण्ड रूप से दर्शाती हैं उन भावेन्द्रियों की ज्ञायक आत्मा के साथ एकता करना (मानना) वह

मिथ्यात्व है।

द्रव्येन्द्रियाँ हैं वे शरीर परिणाम को प्राप्त हैं, जबकि भावेन्द्रियाँ ज्ञान के खण्ड-खण्ड परिणाम को प्राप्त हैं। जो ज्ञान एक-एक विषय को दर्शायें, ज्ञान को खण्ड-खण्ड रूप से दर्शाये अंशी (ज्ञायक) को पर्याय में खण्ड रूप से दर्शाये वह भावेन्द्रियाँ हैं। जैसे जड़ द्रव्येन्द्रियाँ ज्ञायक का परज्ञेय है वैसे **भावेन्द्रियाँ भी ज्ञायक का परज्ञेय है**। यहाँ ज्ञेय ज्ञायक के संकर दोष का परिहार कराते हैं। जैसे शरीर परिणाम को प्राप्त जड़ इन्द्रियाँ ज्ञेय और आत्मा ज्ञायक भिन्न हैं—वैसे ही **भावेन्द्रियाँ भी परज्ञेय हैं** और आत्मा ज्ञायक भिन्न है। अहाहा ! एक-एक विषय को जानने वाले ज्ञान का क्षयोपशम तथा अखण्ड ज्ञान को खण्ड-खण्ड रूप से दर्शाने वाली भावेन्द्रियाँ वे ज्ञायक का परज्ञेय हैं और ज्ञायक प्रभु आत्मा से भिन्न हैं। इसमें अखण्ड एक चैतन्यशक्तिपने की प्रतीति का जोर लिया है। पहले द्रव्येन्द्रियों को भिन्न करने में उसके (ज्ञायक भाव के) अवलम्बन का बल लिया है ज्ञायक भाव एक और अखण्ड है जबकि भावेन्द्रियाँ अनेक खण्ड-खण्ड रूप हैं। अखण्ड एक ज्ञायक भाव रूप चैतन्यशक्ति की प्रतीति होने पर अनेक और खण्ड-खण्ड रूप भावेन्द्रियाँ अलग हो जाती हैं, भिन्नपने दिखती हैं। इस प्रकार अखण्ड ज्ञायकभाव की प्रतीति द्वारा ज्ञान को खण्ड-खण्ड रूप दर्शाने वाली पर ज्ञेयरूप भावेन्द्रियों को सर्वथा अलग करना वह भावेन्द्रियों का जीतना है ऐसा कहा जाता है।।३०७।।

(गुजराती श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, पृष्ठ १२५)

★ इस (३१) गाथा में ज्ञेय-ज्ञायक के संकर दोष के परिहार की बात है। 'शरीर परिणाम को प्राप्त जड़ इन्द्रियाँ पर ज्ञेय होने पर भी वह मेरी हैं ऐसी एकत्वबुद्धि वह मिथ्यात्वभाव संकर-खिचड़ी है। जिसकी ऐसी मान्यता है, उसने जड़ की पर्याय और चैतन्य की पर्याय को एक किया है (एक माना है) इसी प्रकार एक-एक विषय को (शब्द, रस, रूप इत्यादि) जानने की योग्यता वाला क्षयोपशम—भाव वह भावेन्द्रिय है। वह भी सचमुच

परज्ञेय है। पर ज्ञेय और ज्ञायक भाव की एकताबुद्धि वह संसार है—मिथ्यात्व है। भावेन्द्रिय का विषय जो पूरी दुनिया स्त्री, कुटुम्ब, देव, शास्त्र, गुरु—वे सब इन्द्रिय के विषय होने से इन्द्रिय कहने में आते हैं। वह भी परज्ञेय हैं। उससे मुझे लाभ होगा ऐसा मानना वह मिथ्या भ्रांति है।।३०८।।

(गुजराती श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, पृष्ठ १२६)

★ मिथ्या दृष्टि को नौ पूर्व की जो लब्धि प्रकट होती है वह और सात द्वीप तथा समुद्र को जाने ऐसा जो विभंग ज्ञान होता है वह इन्द्रियज्ञान है, भावेन्द्रिय है। वह नव पूर्व का ज्ञान या विभंग ज्ञान स्वभाव को प्राप्त करने में कुछ काम नहीं आता। भावेन्द्रिय को जीतना हो तो प्रतीति में आता हुआ अखण्ड एक चैतन्यशक्तिपने के द्वारा उसको सर्वथा भिन्न जान। ज्ञान में वह परज्ञेय है, लेकिन स्वज्ञेय नहीं है ऐसा जान।।३०९।।

(गुजराती श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, पृष्ठ १२६)

★ पर्याय को अंतर्मुख झुकाने पर सामान्य एक अखण्ड स्वभाव में ही एकत्व पाती है। इस अखण्ड में एकत्व होऊँ ऐसा भी नहीं रहता। पर्याय जो बाहर की तरफ जाती थी उसको जहाँ अंतर्मुख किया वहाँ वो (पर्याय) स्वयं स्वतंत्र कर्त्ता होकर अखण्ड में ही एकत्व पाती है। पर्याय को रागादि-पर की तरफ झुकाने से मिथ्यात्व प्रकट होता है। और अंतर्मुख झुकाने से पर्याय का विषय अखण्ड ज्ञायक हो जाता है (करना नहीं पड़ता)। अहाहा ! उसे झुकाने वाला कौन ? दिशा फेरने वाला कौन ? स्वयं। पर की दिशा के लक्ष की तरफ दशा है उस दशा को स्वलक्ष के प्रति झुकाने से शुद्धता व धर्म प्रकट होता है। अरे ! जो परज्ञेय है उसको स्वज्ञेय मानकर आत्मा मिथ्यात्व से जीत लिया गया है (नष्ट हो गया है)। अब उस परज्ञेय से भिन्न होकर स्वज्ञेय जो एक अखण्ड चैतन्य स्वभाव उसकी दृष्टि और प्रतीति जहाँ की वहाँ भावेन्द्रिय अपने से सर्वथा भिन्न

जानने में आती है। उसने भावेन्द्रिय को जीता ऐसा कहने में आता है, उसको सम्यग्दर्शन अर्थात् सत्यदर्शन कहने में आता है।।३१०।।

(गुजराती श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, पृष्ठ १२६)

★ द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और उसके विषय वे तीनों जानने में आने लायक हैं और ज्ञायक आत्मा स्वयं जानने वाला है। वे तीनों परज्ञेय तरीके और भगवान आत्मा स्वज्ञेय तरीके जानने लायक है। चाहे तो भगवान तीन लोक के नाथ हों, उनकी वाणी हो या उनका समोशरण—वह सब अतीन्द्रिय आत्मा की अपेक्षा से इन्द्रिय हैं। परज्ञेय तरीके जानने में आने लायक हैं। और आत्मा ग्राहक-जाननेवाला है। ऐसा होने पर भी ग्राह्य-ग्राहक लक्षण वाले सम्बन्ध की निकटता के कारण वाणी से ज्ञान होता है ऐसा—अज्ञानी (भ्रम से) मानता है। ज्ञेयाकाररूप जो ज्ञान की पर्याय होती है वह ज्ञान का परिणमन है, ज्ञेय का नहीं, ज्ञेय के कारण से भी नहीं, तो भी ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध की अति निकटता है इसलिए ज्ञेय से ज्ञान आया, ज्ञेय के सम्बन्ध से ज्ञान हुआ ऐसा अज्ञानी (भ्रम से) मानता है।

पहले ज्ञान कम था और शास्त्र सुनने पर नया (ज्यादा) ज्ञान हुआ इसलिए सुनने से ज्ञान हुआ ऐसा अज्ञानी को लगता है। जैसा शास्त्र होता है, वैसा ज्ञान होता है, तब अज्ञानी ऐसा मानता है कि शास्त्र से ज्ञान हुआ। ज्ञेय-ज्ञायक का अति निकट सम्बन्ध होने से परस्पर ज्ञेय ज्ञायकरूप और ज्ञायक ज्ञेयरूप ऐसा दोनों एकरूप हों, ऐसा उसको भ्रम होता है, वास्तव में ऐसा नहीं है, तो भी ऐसी मान्यता वह अज्ञान है। जैसी वाणी हो उसी प्रकार का जो ज्ञान होता है वह अपने कारण से होता है, वाणी के कारण से नहीं। परसत्तावलंबी ज्ञान भी पर से हुआ है, ऐसा मानना अज्ञान है। ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध की निकटता के कारण अज्ञानी को ज्ञान और ज्ञेय परस्पर एक हो गये हों ऐसा दिखता है। परन्तु एक हुए नहीं हैं।

प्रश्न : वाणी सुनी इसलिये ज्ञान हुआ, पहले तो वह नहीं था ?

उत्तर : भाई ! उस काल में उस (ज्ञान की) पर्याय का उस प्रकार के ज्ञेय को जानने की योग्यता थी। इसलिए ज्ञान अपने से हुआ है। वाणी के कारण से नहीं। प्रवचनसार में आता है कि वीतराग की वाणी पुद्गल है, उससे ज्ञान नहीं होता। ज्ञानसूर्य प्रभु स्वयं जाननहार है। वह अपने को जानते ही पर को स्वत: जानता है। पर से तो वह जानता नहीं है लेकिन पर है इसलिये पर को जानता है, ऐसा भी नहीं है।।३११।।

(श्री गुजराती प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, पृष्ठ १२७)

★ जिसने पर से अधिकपने-भिन्नपने पूर्ण आत्मा को जाना, संचेता और अनुभव किया उसने इन्द्रियो के विषयों को जीता। जड इन्द्रियाँ, भावेन्द्रियाँ और उसके विषयभूत पदार्थ वे तीनों ही ज्ञान का परज्ञेय हैं। उन तीनो को जिसने जीता अर्थात् उन सबसे जो भिन्न हुआ वह जिन हुआ,जैन हुआ। स्व-पर की एकता बुद्धि से वह अजैन था। अब, पर से भिन्न होकर, निर्मल पर्याय को प्रगट करके वह जितेन्द्रिय जिन होता है।।३१२।।

(श्री गुजराती प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, पृष्ठ १२८)

★ द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन्द्रिय के विषय उन तीनों को इन्द्रिय कहते हैं। उन सबका लक्ष छोडकर, अपने ज्ञानस्वभाव द्वारा, पर से अधिक भिन्न ऐसा निज पूर्ण शुद्ध चैतन्य का जो अनुभव करता है उसको निश्चयनय के जानने वाले गणधरदेव जितेन्द्रिय जिन और धर्मी कहते हैं।।३१३।।

(श्री गुजराती प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, पृष्ठ १२९)

★ शरीर परिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रिय, खण्ड-खण्ड ज्ञानरूप भावेन्द्रिय और इन्द्रिय के विषयभूत पदार्थ—कुटुम्ब, परिवार, देव, शास्त्र, गुरु इत्यादि सब परज्ञेय हैं और ज्ञायक स्वयं भगवान आत्मा स्वज्ञेय है। विषयों की आसक्ति से उन दोनों का एक जैसा अनुभव होता था, निमित्त की रुचि से ज्ञेय-ज्ञायक का एक जैसा अनुभव होता था। लेकिन जब भेदज्ञान द्वारा भिन्नता का ज्ञान हुआ तब ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष दूर हुआ। तब मैं तो एक अखण्ड ज्ञायक हूँ, ज्ञेय के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा अन्दर में (स्वसंवेदन) ज्ञान हुआ। यह पहले प्रकार की स्तुति हुई।।३१४।।

(श्री गुजराती प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, पृष्ठ १३१)

★ **प्रश्न :** शास्त्र द्वारा मन से आत्मा को जाना हो, तो उसमें आत्मा जानने में आया या नहीं ?

उत्तर : यह तो शब्द ज्ञान हुआ, आत्मा जानने में नहीं आया। आत्मा तो आत्मा से जाना जाता है। शुद्ध उपादान से हुए ज्ञान के साथ में आनन्द आता है; किन्तु अशुद्ध उपादान से हुए ज्ञान के साथ में आनन्द नहीं आता और आनन्द आये बिना आत्मा वास्तव में जानने में नहीं आता।।३१५।।

(ज्ञानगोष्ठी, "सम्यग्ज्ञान" प्रश्न नं. २८८, आत्मधर्म अंक ४११, जनवरी १९७८, पृष्ठ २४)

★ **प्रश्न :** क्या इन्द्रियज्ञान आत्मज्ञान का कारण नहीं है ?

उत्तर : ग्यारह अंग और नौ पूर्व की लब्धि होती है वह ज्ञान भी खण्ड-खण्ड ज्ञान है, आत्मा का ज्ञान नहीं है। आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है, इन्द्रियज्ञान वह आत्मा नहीं है। आँख से हजारों शास्त्र वांचे और कान से सुने वह सब इन्द्रियज्ञान है, आत्मज्ञान नहीं है। आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान से जानने वाला है इन्द्रियज्ञान से जाने, वह आत्मा नहीं है। आत्मा को

जानने पर जो आनन्द का स्वाद आता है वह स्वाद इन्द्रियज्ञान से नहीं आता, अत: इन्द्रियज्ञान आत्मा नहीं है।।३१६।।

(ज्ञानगोष्ठी, प्रश्न २९०, आत्मधर्म अंक ४१२, फरवरी १९७८, पृष्ठ ३७)

★ **प्रश्न :** भगवान की वाणी से भी आत्मा जानने में नहीं आता तो फिर आप ही बतलायें कि वह आत्मा कैसे जानने में आता है ?

उत्तर : भगवान की वाणी वह श्रुत है—शास्त्र है, और शास्त्र पौद्गलिक है, अत: वह ज्ञान नहीं है—उपाधि है तथा उस श्रुत से होने वाला ज्ञान भी उपाधि है क्योंकि उस श्रुत के लक्ष वाला ज्ञान परलक्षी ज्ञान है। और परलक्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्व को नहीं जान सकता ! अत: उसको भी श्रुत के समान उपाधि कहा है। जिस प्रकार सूत्र-शास्त्र ज्ञान नहीं है अतिरिक्त चीज़ है—उपाधि है; उसी प्रकार उस श्रुत के लक्ष्य से होने वाला ज्ञान भी अतिरिक्त चीज है—उपाधि है। अहाहा ! क्या वीतराग की शैली है ? परलक्षी ज्ञान को भी श्रुत के समान उपाधि कहा है। स्वज्ञानरूप ज्ञप्तिक्रिया से आत्मा जानने में आता है, परन्तु भगवान की वाणी से आत्मा जानने में नहीं आता है।।३१७।।

(ज्ञानगोष्ठी, प्रश्न २९२, आत्मधर्म अंक ४२५, मार्च १९७९, पृष्ठ २६)

★ **प्रश्न :** ग्यारह अंग और नव पूर्व के ज्ञान वाले को पंच महाव्रत का पालन करने पर भी आत्मज्ञान करने में उसे और क्या बाकी रह गया है ?

उत्तर : ग्यारह अंग का ज्ञान तथा पंच महाव्रत का पालन करने पर भी उसे भगवान आत्मा का अखण्ड ज्ञान करना बाकी रह गया। खण्ड-खण्ड इन्द्रिय ज्ञान—ग्यारह अंग का किया था, वह खण्ड-खण्ड ज्ञान परवश होने से दु:ख का कारण था। अखण्ड आत्मा का ज्ञान किये बिना

वह ग्यारह अंग का ज्ञान नाश को प्राप्त होने पर कालक्रम से वह जीव निगोद में भी चला जाता है। अखण्ड आत्मा का ज्ञान करना वो ही मूल वस्तु है। इसके बिना भव-भ्रमण का अन्त नहीं आता है।।३१८।।

(ज्ञानगोष्ठी, प्रश्न नं २९३, आत्मधर्म अंक ४२३, जनवरी १९७९, पृष्ठ २६)

★ **प्रश्न :** सामान्य ज्ञान और विशेष ज्ञान में भेद और उनका फल बतलाते हुए स्पष्ट कीजिये कि सम्यग्दृष्टि इनमें से अपना ज्ञान किसे मानता है ?

उत्तर : विषयों में एकाकार हुए ज्ञान को विशेष ज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान कहते हैं और उसका लक्ष छोड़कर अकेले सामान्य ज्ञान स्वभाव के अवलम्बन से उत्पन्न हुए ज्ञान को मामान्य ज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान कहते हैं। ज्ञान स्वभाव में एकाकार होकर प्रगट हुए ज्ञान को सामान्य ज्ञान-वीतरागी ज्ञान कहते हैं और उसी को जैन शासन कहते हैं, आत्मानुभूति कहते हैं। सामान्य ज्ञान में आत्मा के आनन्द का स्वाद आता है। विशेष ज्ञान अर्थात् इन्द्रियज्ञान में आत्मा के आनन्द का स्वाद नहीं आता है अपितु आकुलता और दु:ख का स्वाद आता है।

पर द्रव्य का अवलम्बन लेकर जो ज्ञान होता है वह विशेष ज्ञान है। भगवान की वाणी सुनकर जो ज्ञान हुआ वह इन्द्रियज्ञान है—विशेष ज्ञान है—वह आत्मा का ज्ञान—अतीन्द्रिय ज्ञान—सामान्य ज्ञान नहीं है। ज्ञानी को आत्मा का ज्ञान हुआ है, उस सामान्य ज्ञान को ज्ञानी अपना ज्ञान जानता है और पर को जानता हुआ इन्द्रियज्ञान जो अनेकाकार रूप परसत्तावलम्बी ज्ञान होता है, उसको अपना ज्ञान नहीं मानता है। जैसे पर ज्ञेय को अपना नहीं मानता, वैसे ही पर के ज्ञान को भी अपना ज्ञान नहीं मानता। जिसमें आनन्द का स्वाद आता है ऐसे आत्मज्ञान को ही अपना

ज्ञान मानता है।।३१९।।

(ज्ञानगोष्ठी, प्रश्न २९९, आत्मधर्म अंक ४२४, फरवरी १९७९, पृष्ठ २२, २९)

★ **प्रश्न :** क्या खण्ड-खण्ड ज्ञान-इन्द्रियज्ञान भी संयोग रूप है?

उत्तर : हाँ, वास्तव में तो खण्ड-खण्ड ज्ञान भी त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा से संयोग रूप है। जैसे इन्द्रियाँ संयोग रूप हैं, वैसे वह भी संयोग रूप है। जिस प्रकार शरीर ज्ञायक से अत्यन्त भिन्न है—उसी प्रकार खण्ड-खण्ड ज्ञान-इन्द्रियज्ञान भी ज्ञायक से भिन्न है, संयोग रूप है; स्वभाव रूप नहीं है।।३२०।।

(ज्ञानगोष्ठी, प्रश्न ३०२, आत्मधर्म हिन्दी, अक्टूबर १९७८, पृष्ठ २४)

★ अब कहते हैं कि 'और जो ज्ञायकपने जानने में आया, वो तो वो ही है' अर्थात् **जाननहार जानने में आया** वह जानने की पर्याय अपनी है। **जाननहार जो वस्तु जानने में आयी है, वह पर्याय अपनी है** अर्थात् वह पर्याय अपना कार्य है और आत्मा उसका कर्त्ता है। अहा! 'जानने वाला' ऐसी ध्वनि है न? अर्थात् वह जानने वाला है इसलिये मानो वह पर को जानता हो (ऐसा उसको लगता है) क्योंकि जानने वाला कहा है न? ३२१।।

('ज्ञायक भाव' गुजराती में से पृष्ठ १०)

★ **प्रश्न :** लेकिन जानने वाला है इसलिये पर को जानता है न?

उत्तर : ना, परन्तु यह तो पर सम्बन्धी का ज्ञान अपने से अपने में स्व-परप्रकाशक होता है, वह पर्याय ज्ञायक की है। अहा! वह ज्ञायकपने रहा है। इसलिये ज्ञायक को जानने वाली पर्याय वह उसका कार्य है।

लेकिन जानने योग्य वस्तु है उसका यह जानने का कार्य नहीं है और जानने योग्य वस्तु है वह जानने वाले (ज्ञायक) का कार्य नहीं है।

अहा ! यहाँ ज्ञात:-ज्ञायकपने जानने में आया—ऐसा कहा है न। और 'जानने में आया वो तो वो ही है'' ऐसा भी कहा है न। अत: वह (ज्ञायक) जानने वाला है इसलिये उसमें दूसरा (परपदार्थ) जानने में आया है—ऐसा नहीं है।।३२२।।

('ज्ञायक भाव' गुजराती में से, पृष्ठ १०)

★ **प्रश्न :** परन्तु वह जाननहार है न। इसलिये वह जानने वाला है इसलिये—उसमें दूसरा (परपदार्थ) भी जानने में आया है न ?

समाधान : ना, क्योंकि जो जानने में आता है वह स्वयं ही है अथवा अपनी पर्याय ही जानने में आयी है। जाननहार की पर्याय जानने में आई है। रागादि हो तो हो परन्तु यहाँ राग सम्बन्धी का जो ज्ञान है वह ज्ञान तो अपने से प्रकट हुआ है अर्थात् वह राग है इसलिये यहाँ स्व-परप्रकाशक ज्ञान की पर्याय प्रकट हुई है ऐसा नहीं है।।३२३।।

('ज्ञायक भाव' गुजराती, पृष्ठ १०, ११ में से)

★ **प्रश्न :** 'दूसरा कोई नहीं है' ऐसा कहा है, तो दूसरा अर्थात् कौन ?

उत्तर : दूसरा अर्थात् कि वह राग नहीं है, राग का ज्ञान नहीं है, लेकिन वह ज्ञान का ज्ञान है। अहा ! व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है ऐसा (आगे १२वीं गाथा में) आयेगा। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि यह राग है, उसी प्रकार वह (जानने वाला) राग को जानता है ऐसा भी नहीं है। लेकिन वह तो राग सम्बन्धी का **अपना ज्ञान अपने को हुआ है उसको वह जानता है**, ऐसी बात है।।३२४।।

('ज्ञायक भाव' गुजराती, पृष्ठ १२ में से)

★ **प्रश्न :** ज्ञायक भीं आत्मा और ज्ञेय भी आत्मा ?

समाधान : ज्ञायक और ज्ञेय तरीके यहाँ तो पर्याय को लेना है। अभी तो उसकी पर्याय लेनी है क्योंकि जो जानने में आया है, वह पर्याय अपनी है और उसको वह जानता है परन्तु पर को जानता है ऐसा नहीं है। और "और जो ज्ञायकपने जानने में आया" ऐसा आया है न ? तो वह पर्याय है। अहा ! सूक्ष्म बात है, भैया ! यह अनन्तकाल की मूल चीज का अभ्यास ही नहीं है ! इसलिये बात सूक्ष्म लगती है।

अहा ! यहाँ 'वो ही है, अन्य कोई नहीं' ऐसा है न ? तो 'अन्य कोई नहीं' अर्थात् वह पर का, राग का ज्ञान नहीं है अर्थात् जानने वाला जानता है इसलिये जानने वाले ने पर को जाना है या पर को जानने वाला ज्ञान है—ऐसा नहीं है। अहा ! शब्द-शब्द मे गूढता है। क्योंकि यह तो समयसार है न ! और उसमें भी कुंदकुंदाचार्य ! अहा ! तीसरे नम्बर में आये न !

मंगलम् भगवान वीरो, मंगलम् गौतमो गणी, मंगलम् कुंद-कुंदार्यो।।३२५।।

('ज्ञायक भाव' गुजराती, पृष्ठ नं. १२ में से)

★ एक बार सुन, कि तेरी वर्तमान जो ज्ञान की एक समय की अवस्था है उसका स्वपरप्रकाशक स्वभाव होने से, भले तेरी नजर वहाँ न हो तो भी, उस पर्याय मे द्रव्य ही जानने में आता है, अरे रे ! यह बात कहाँ है ? अरे कहाँ जाना है और खुद कौन है ? उसका ख्याल ही नहीं है। अहा ! त्रिलोकनाथ ऐसा कहते हैं कि भगवान आत्मा ! प्रभु ! तू जितना बड़ा प्रभु है इतना तेरी एक समय की पर्याय में—अज्ञान हो तो भी पर्याय में जानने में आता है. है। क्योंकि ज्ञान की पर्याय का स्वपरप्रकाशक स्वभाव है। इसलिये उस पर्याय में स्व (आत्मा) प्रकाशित तो होता ही है, लेकिन तेरी

नजर वहाँ नहीं है। तेरी नजर दया की, व्रत पाले, भक्ति की और पूजा की—ऐसा जो राग है उसके ऊपर है। और उस नजर के कारण तेरे को राग ही जानने में आता है जो मिथ्याबुद्धि है। अर्थात् राग को जानने वाली जो ज्ञानपर्याय है वही पर्याय स्व को जानने वाली है लेकिन उसमें (स्व में) तेरी नजर नहीं होने के कारण तेरे को राग और पर्याय ही जानने में आती है, जो मिथ्याबुद्धि, मिथ्यादृष्टि है।

लेकिन जिसकी (ज्ञानी की) दृष्टि परद्रव्य और उसके भाव ऊपर से छूट गई है और पर्याय के भेद ऊपर से भी जिसका लक्ष छूट गया है और अन्य द्रव्य के भाव से भी लक्ष छूटा अर्थात् राग से लक्ष छूटा तो पर्याय से भी लक्ष छूट गया, ऐसी बात है बापू!।।३२६।।

('ज्ञायकभाव' गुजराती, पृष्ठ नं. २५ में से)

★ अरे! १७-१८ गाथा में तो ऐसा कहा है कि उसकी (तेरी) वर्तमान ज्ञानपर्याय में पूरा द्रव्य ही जानने में आ रहा है। सूक्ष्म बात है बापू! प्रभु! तेरी प्रभुता का पार नहीं है। जिसकी प्रभुता की पूर्णता का कथन करना भी कठिन पड़े, ऐसा तू सर्वोत्कृष्ट नाथ अन्दर में विराजमान है। तो यह ऐसा सर्वोत्कृष्ट नाथ एक समय की पर्याय में जो पड़ा है वह अज्ञानी के भी समीप में है। नज़र में है। क्योंकि पर्यायस्वभाव ही ऐसा है। क्या कहा? कि ज्ञान की एक समय की पर्याय का स्वभाव ही ऐसा है कि पूरा द्रव्य को ही वह जानती है। कहते हैं कि, एक समय की ज्ञान की वर्तमान खुली हुई जो पर्याय है उसमें वह द्रव्य ही जानने में आता है। लेकिन अज्ञानी की दृष्टि वहाँ नहीं है। अनादि से उसकी दृष्टि दया, दान, व्रत, काम, क्रोध के परिणाम या उसको जानने वाली एक समय की पर्याय ऊपर है। बस, वहीं वो खड़ा है इसलिये वो मिथ्यादृष्टि है, सत्यदृष्टि से विरुद्ध दृष्टि वाला है। परन्तु सत्य जो प्रभु आत्मा है, उसको ज्ञायकभाव कहो, सत्यार्थ कहो, भूतार्थ कहो, पूर्णानन्द का प्रभु कहो या सत्य साहिब कहो एक ही

है, तो उसके ऊपर अज्ञानी की नजर नहीं है। हालांकि वह है तो पर्याय में जानने में आये, ऐसी वस्तु, अर्थात् ज्ञान की पर्याय में जानने में तो वो ही आता है, ज्ञायकभाव ही जानने में आता है ऐसा परमात्मा प्रभु कहते हैं।।३२७।।

('ज्ञायकभाव' गुजराती, पृष्ठ २४ में से)

★ और कोई ऐसा भी कहते हैं—"पर्याय है, उसका ज्ञान करना चाहिए न ?" पर्याय को जानना चाहिये, पर्याय को विषय बनाना चाहिये, अन्यथा एकान्त हो जायेगा, पर्याय भी वस्तु है, अवस्तु नहीं है ऐसा शास्त्र में भी कहा है, कार्य तो पर्याय में होता है न ? पर्याय बिना कुछ कार्य होता है ? ऐसे पर्याय का पक्ष करके, परस्पर व्यवहार का पक्षरूप उपदेश करके मिथ्यात्व पुष्ट करते रहते हैं।।३२८।।

(श्री गुजराती प्रवचनरत्नाकर, भाग-१, पृष्ठ १४६ में से)

★ श्री समयसार कलश टीका, कलश २७१ कलशार्थ के ऊपर प्रवचन :—

'भावार्थ ऐसा है कि...' देखा ? कलश का अर्थ करने के पहले उसमें क्या कहना है वह स्पष्ट करने के लिये पहले से ही भावार्थ लिया। देखो, ऐसे शुरू किया है कि—'ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध के विषय में बहुत भ्रांति चल रही है'।

देखो ! परद्रव्य ज्ञेय है और आत्मा उसका ज्ञायक है ऐसा मानें वह भ्रांति है—ऐसा कहते हैं। भाई ! परज्ञेय है वह तो व्यवहार से ज्ञेय है, वास्तव में निश्चय से तो अपनी ज्ञान की दशा में, जो छह द्रव्य का ज्ञान होता है वो ही अपना ज्ञेय है, वो ही अपना ज्ञान है और स्वयं आत्मा ही ज्ञाता है।

यह तो पहले कहा न कि—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव (चारों ही)—उसका वही है ! अर्थात् क्या ? कि द्रव्य भी वो ही है, क्षेत्र भी वो ही है, काल भी वो ही है और भाव भी वो ही है; परन्तु द्रव्य भिन्न है, क्षेत्र भिन्न है, काल भिन्न है और भाव भिन्न है—ऐसा नहीं है।

अहाहा ! अनन्त गुण रूप जो वस्तु—द्रव्य है वो द्रव्य ही असंख्य प्रदेशी क्षेत्र है, वो ही त्रिकाल (काल) है और वो ही भाव है। आम में स्पर्श-रस-गंध-वर्ण (आम से) अलग हैं ऐसा नहीं है, परन्तु स्पर्श कहो तो भी वो ही है, रस कहो तो भी वो ही है, गंध कहो तो भी वो ही है और वर्ण कहो तो भी वो ही है। वैसे ही अनन्तगुण के पिंडस्वरूप शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा का जो द्रव्य है वो ही असंख्यप्रदेशी क्षेत्र है। अहाहा ! जो द्रव्य है वो ही असंख्यप्रदेशी क्षेत्र है, और जो असंख्यप्रदेशी क्षेत्र है वो ही द्रव्य है। और जो असंख्यप्रदेशी क्षेत्र है वो ही त्रिकाल (काल) है और जो त्रिकाल है वो ही भाव है। इस प्रकार चारों का—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का भेद निकालकर निश्चय से सब अभेद है ऐसा वस्तु का वास्तविक स्वरूप कहा। समझ में आया कुछ ? बहुत सूक्ष्म, लेकिन सत्य तो सूक्ष्म ही होता है न ?

अहाहा ! दृष्टि का विषय तो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का एकरूप ऐसा चित्स्वभाव है दृष्टि के विषय में चार भेद नहीं हैं। द्रव्य है वो ही परमपारिणामिक भाव है, क्षेत्र है वो ही परम पारिणामिक भाव है, त्रिकाल वस्तु है वो ही परम पारिणामिक भाव है और अनन्त स्वभाव-भाव है वो भी परम पारिणामिक भाव है; इसलिये वे चारों एक ही वस्तु हैं, लेकिन वे चार शुद्ध चित्स्वरूप से भिन्न-भिन्न वस्तु हैं—ऐसा नहीं है। अहा ! ऐसी अभेद एक शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु है वो ही सम्यग्दर्शन का विषय है। भाई ! बाह्य निमित्त तो सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है, व्यवहार का राग भी नहीं और एक समय की प्रकट हुई निर्मल निर्विकारी पर्याय भी

सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। अहा ! सम्यग्दर्शन और उसका विषय ऐसी परम अद्‌भूत अलौकिक वस्तु है।

यहाँ कहते हैं—परद्रव्य ज्ञेय और भगवान आत्मा ज्ञायक—ऐसा ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है—ऐसी भ्रांति है अर्थात् ऐसा वास्तविक ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है नहीं। वास्तव में तो ज्ञान—जानपनेरूप शक्ति, ज्ञेय—जो जानने में आवे वह, और ज्ञाता—अनन्त गुणों के पिंडरूप वस्तु—ये सब एक वस्तु है ऐसा कहते हैं। देखो, क्या कहते हैं ? कि—

'ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध के विषय में बहुत भ्रांति चलती है, इसलिये कोई ऐसा समझेगा कि जीववस्तु ज्ञायक, पुद्‌गल से लेकर भिन्न रूप छह द्रव्य ज्ञेय हैं, परन्तु ऐसा तो नहीं है।'

देखो, यहाँ छह द्रव्य कहे उसमें अनन्त केवली भगवान आ गये, अनन्त सिद्ध आ गये, पंच परमेष्ठी आ गये और अनन्त निगोद के जीवों सहित सर्व संसारी जीव आ गये। तो आत्मा ज्ञायक है, और अरहंतादि पंच परमेष्ठी और अन्य जीव उसका ज्ञेय है ऐसा है नहीं, ऐसा कहते हैं। गजब बात है भाई ! यह तो ज्ञेय ज्ञायक का व्यवहार सम्बन्ध छुड़वाकर भेदज्ञान कराने की बात है। समझ में आता है कुछ... ?

सूक्ष्म बात है प्रभु ! कहते हैं—जाननस्वभावी भगवान आत्मा ज्ञायक है और अनन्त केवली, सिद्ध और संसारी जीव उसका ज्ञेय है—ऐसा है नहीं। और जीववस्तु ज्ञायक है और एक परमाणु से लेकर अचेतन महास्कंध पर्यंत के स्कंध और कर्म आदि उसका ज्ञेय है—ऐसा भी है नहीं। जैन तत्व बहुत सूक्ष्म है भाई ! यह व्यवहार रत्नत्रय का राग होता है न धर्मात्मा को ? यहाँ कहते हैं—आत्मा ज्ञायक है और व्यवहार रत्नत्रय का राग उसका ज्ञेय है—ऐसा है नहीं। समयसार की १२वीं गाथा में कहा है कि व्यवहार (राग) जाना हुआ प्रयोजनवान है, लेकिन

वहाँ उसको 'जाना हुआ' कहा, वो व्यवहार है क्योंकि वास्तव में तो वह अपनी ज्ञान की पर्याय को जानता है और वह पर्याय ही अपना ज्ञेय है। राग को ज्ञेय कहना वह तो व्यवहार है।

यह देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, नवतत्व की भेद वाली श्रद्धा का राग और पंच महाव्रत के परिणाम का राग कि जो छह द्रव्यों में आ जाता है वह, अपना स्वभाव तो नहीं है लेकिन वास्तव में वह अपना ज्ञेय भी नहीं है, परवस्तु है। यह शरीर और उसकी रोग, वार्धक्य आदि जो अनेक अवस्थायें होती हैं वे, और स्त्री-कुटुम्ब-परिवार, देव-गुरु-शास्त्र, धन-सम्पत्ति इत्यादि परद्रव्य, भगवान ज्ञायक में तो नहीं हैं, लेकिन वे परद्रव्य ज्ञेय हैं, प्रमेय हैं (भगवान ज्ञायक के) और भगवान आत्मा प्रमाता—प्रमाण करने वाला है ऐसा भी नहीं है। भाई, यह तो सब तरफ से पर से सिमट जाने की बात है। कठिन काम है बापा! क्योंकि अनन्तकाल में उसने किया ही नहीं है! लेकिन उसके बिना (भेदज्ञान बिना) भव का अन्त आवे—ऐसा नहीं है। समझ में आया कुछ?

अहाहा! कहते हैं—जीव वस्तु ज्ञायक और पुद्गल से लेकर भिन्न रूप छह द्रव्य उसका ज्ञेय—ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है, क्योंकि छह द्रव्य जिस ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं वह ज्ञान की पर्याय, उस ज्ञेय के कारण से नहीं हुई है। लेकिन स्व-पर को प्रकाशती हुई अपने से—अपनी सामर्थ्य से प्रकट हुई है। इसलिये अपनी ज्ञान की पर्याय ही अपना ज्ञेय है। ऐसी बहुत गम्भीर बात है!

अब कहते हैं—जैसा अभी कहने में आता है वैसा है—"अहम् अयं यः ज्ञानमात्रः भावः अस्मि" मैं जो कोई चेतनासर्वस्व ऐसी वस्तुस्वरूप हूं। "सः ज्ञेयः" वह मैं ज्ञेय रूप हूं।

अहाहा! देखा? क्या कहा? जानन-देखन रूप चेतना जिसका

सर्वस्व है ऐसा वस्तुस्वरूप मैं हूँ और वह मैं ज्ञेय रूप हूँ। मतलब कि इन छह द्रव्यों का ज्ञेयत्व मुझे है अर्थात् छह द्रव्य मेरा ज्ञेय है—ऐसा है नहीं। मेरी ज्ञान की पर्याय है वो ही मेरे में ज्ञेय है। अहा ! इन अन्तिम कलशों में बहुत सूक्ष्म गम्भीर बातें की हैं।

भगवान केवली लोकालोक को जानते हैं ऐसा नहीं है—ऐसा यहाँ कहते हैं।

तब कोई कहता है—क्या भगवान लोकालोक को नहीं जानते ? आत्मा ज्ञायक है तो छह द्रव्य उसका ज्ञेय है या नहीं ? केवल ज्ञान का छह द्रव्य ज्ञेय है या नहीं ? और कोई कहता है—निश्चय से नहीं है, व्यवहार से है।

अरे भाई ! "व्यवहार से है" इसका अर्थ क्या ? यही कि, ऐसा है नहीं। अपने में—अपनी ज्ञान पर्याय में—लोकालोक का ज्ञान अपने कारण से होता है, वह ज्ञान पर्याय अपना ज्ञेय है, लेकिन लोकालोक ज्ञेय नहीं है। बहुत सूक्ष्म बात है ! यह तो धीरज वाले का काम है भाई ! यह कोई एकदम जल्दबाजी से मिल जाय ऐसी वस्तु नही है।

अहाहा... ! कहते हैं—मैं जो कोई चेतना सर्वस्व ऐसी वस्तुस्वरूप हूँ "सः ज्ञेयः न एव" वह मैं ज्ञेयरूप हूँ, लेकिन ऐसा ज्ञेयरूप नहीं हूँ; कैसा ज्ञेयरूप नहीं हूँ ? "ज्ञेयज्ञानमात्रः" अपने जीव से भिन्न छह द्रव्यो के समूह को जानने मात्र। भावार्थ ऐसा है कि—मैं ज्ञायक और समस्त छह द्रव्यों मेरा ज्ञेय—ऐसा तो नहीं है।

देखो यह क्या कहा ? कि चैतन्यमात्र भगवान ज्ञायक से भिन्न, छह द्रव्यों का ज्ञान मात्र मैं नहीं हूँ, मैं तो अपनी ज्ञान पर्याय को ज्ञेय बनाकर जानने वाला हूँ। लो, अब व्यवहार—दया, दान व्रत आदि का राग ज्ञेय और आत्मा ज्ञायक—ऐसा भी जहाँ नहीं है तो व्यवहार करते-करते

निश्चय हो जाएगा वो बात कहाँ रही प्रभु ? लो, ऐसा अर्थ ! लेकिन ऐसा अर्थ कैसे निकालें ?

बापू ! तू व्यापार में जमा-नाम का अर्थ कैसे निकालता है ? उसकी रुचि है न ? इसलिये वहाँ तो एकदम कह देता है कि इसके पास इतना और इसके पास इतना (लेने का) बाकी है। उसमें आदत हो गई है। दूसरे गाँव में उधारी वसूल करने जाय और पचास हजार या लाख रुपया ले आय तो हर्ष करता है और मानता है कि मैं इतना पैसा ले आया। परन्तु बापू ! ये पैसा तेरा कहाँ है ? और क्या तू इसे ला सकता है ? लाना तो दूर रहा यहाँ तो कहते हैं कि ये पैसा आया वह मेरा ज्ञेय है और मैं ज्ञायक—ऐसा भी नहीं है। अहाहा ! जानने वाली पर्याय मेरी है इसलिये मैं ही ज्ञेय हूँ, मैं ही ज्ञान हूँ और मैं ही ज्ञायक हूँ, ज्ञायक ऐसे मुझमें पर का ज्ञेयपना है ही नहीं।

तत्व दृष्टि बहुत सूक्ष्म है भाई ! अरे ! अनन्तकाल से इसने पर का—निमित्त का, राग का और पर्याय का अभ्यास किया है, इन्हें अपना ज्ञेय माना है, परन्तु ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय सभी मैं एक हूँ—ऐसा अंतर्मुख होकर अभेद का अभ्यास नहीं किया। परन्तु बापू ! जन्म-मरण से रहित होने की चीज तो अन्त: पुरुषार्थ से ही प्राप्त होती है।

यह शास्त्र है सो ज्ञेय है और उसको जानने वाला मैं यह ज्ञायक हूँ यहाँ कहते हैं ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है; क्योंकि मेरी ज्ञान पर्याय में जैसा शास्त्र है वैसा ही ज्ञान हुआ है, तो भी वह ज्ञान, ज्ञेय के—शास्त्र के कारण नहीं हुआ परन्तु मेरी ज्ञान की पर्याय स्वयं स्वत: निज सामर्थ्य से ही उस रूप—जाननेरूप परिणमित हुई है। उसे पर से—शास्त्र से क्या सम्बन्ध है ? इसे पर के साथ ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध भी नहीं है। (तो फिर शास्त्र से ज्ञान हुआ यह बात तो कितनी दूर ही रही)।

प्रश्न : परन्तु पर के साथ ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध कहने में आया है न ?

उत्तर : यह सम्बन्ध तो व्यवहार से कहा है। निश्चय से तो छहों द्रव्य का ज्ञान मेरी पर्याय में मेरे से हुआ है। छह द्रव्यों की मौजूदगी के कारण से नहीं हुआ है, देखो, छह द्रव्य हैं, लेकिन छह द्रव्यों की मौजूदगी के कारण से मेरा ज्ञान नहीं हुआ है परन्तु मेरी पर्याय की ताकत से यह ज्ञान हुआ है। भाई ! यह तो भगवान की वाणी में से निकला हुआ अकेला अमृत है। अहो ! दिगम्बर संतों ने जगत् के सामने ऐसी बात कहकर परमामृत पिलाया है। ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं है।

अहा ! कहते हैं जो छह द्रव्य हैं उसका जो ज्ञान हुआ है वह ज्ञान मेरा ज्ञेय है, छह द्रव्य मेरे ज्ञेय नहीं हैं। छह द्रव्यों के जानने मात्र मैं नहीं हूँ।

प्रश्न : ज्ञान की पर्याय (पर) ज्ञेय के कारण हुई है न; मतलब कि ज्ञेय है तो ज्ञान हुआ है न ?

समाधान : नहीं, ऐसा नहीं है, यह ज्ञान तो अपनी पर्याय की सामर्थ्य से ही हुआ है और इसलिए अपनी पर्याय ही अपना ज्ञेय है। बारहवीं गाथा में व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान कहा है, परन्तु इसका अर्थ ऐसा है कि उस-उस प्रकार की ज्ञान की पर्याय स्वयं अपने से होती है। व्यवहार का जो राग है, ऐसा ही उसका ज्ञान अपनी पर्याय में अपने से ही उत्पन्न होता है। ज्ञान का ऐसा ही कोई स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है, इसको पर की कोई अपेक्षा नहीं है। इसलिए अपनी पर्याय ही अपना ज्ञेय है, परन्तु वह व्यवहार राग ज्ञेय नहीं है। यह तो धैर्यवान पुरुष का काम है बापू ! भगवान की वाणी को समझने के लिये भी धीरज चाहिए। जल्दबाजी से कहीं आम नहीं पकते।

अपनी ज्ञान पर्याय में छह द्रव्य जानने में आते हैं, परन्तु वे छह द्रव्य हैं इसलिए यहाँ ज्ञान हुआ है—ऐसा नहीं है। अपनी ज्ञान पर्याय ही स्वतः ऐसी प्रगट हुई है और वह पर्याय ही अपना ज्ञेय है। देखो कलश में है कि नहीं ? कि "अपने जीव से भिन्न छह द्रव्यों के समूह को जानने मात्र" मैं नहीं हूँ। क्या कहा ये ? कि छह द्रव्यों को जानने मात्र मैं नहीं हूँ, मतलब कि मेरी पर्याय को जानने मात्र मैं हूँ, क्योंकि मेरा सर्वस्व मेरे में ही है।

इसके भावार्थ में ऐसा कहा है कि—भावार्थ इस प्रकार है कि मैं ज्ञायक और समस्त छह द्रव्य मेरे ज्ञेय—ऐसा तो नहीं है। अहाहा ! भगवान पंच परमेष्ठी मेरे तो नहीं हैं परन्तु वो मेरे ज्ञेय हैं ऐसा भी नहीं है। क्योंकि यहाँ (अपनी पर्याय में) पंच परमेष्ठी सम्बन्धी जो ज्ञान हुआ है वह उनसे नहीं हुआ है परन्तु पर्याय की तत्कालीन योग्यता से-सामर्थ्य से हुआ है। इसलिए अपनी पर्याय ही अपना वास्तविक ज्ञेय है। इस प्रकार बाहर में से दृष्टि को अन्दर में समेट लिया है। फिर अपने में से ज्ञेय-ज्ञान-ज्ञाता के तीन भेद भी निकाल देंगे। यहाँ तो प्रथम परज्ञेय है और मैं ज्ञायक हूँ—ऐसी भ्रांति मिटाई है। फिर ज्ञाता ही ज्ञाता है, ज्ञाता ही ज्ञान है और ज्ञाता ही ज्ञेय है—ऐसा कहेंगे। अहो ! सन्तों ने मार्ग एकदम खोल दिया है। वाह संतों वाह ! आहाहा... कहते हैं—"मैं ज्ञायक हूँ और समस्त छह द्रव्य मेरे ज्ञेय हैं—ऐसा तो नहीं है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और परमाणु से लेकर महास्कन्ध, तथा कर्म आदि मेरे ज्ञेय हैं और मैं ज्ञायक हूँ—ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। अहा ! कर्म मेरे हैं, मुझमें हैं ऐसा तो नहीं, परन्तु कर्म मेरा ज्ञेय है और मैं ज्ञायक हूँ ऐसा भी नहीं है। अज्ञानी पुकार करते हैं कि कर्म से ऐसा होता है और कर्म से वैसा होता है, पर अरे ! सुन तो सही नाथ ! कर्म तो तुझे छूता भी नहीं है। वास्तव में तेरे ज्ञान की सामर्थ्य ही ऐसी है कि उसमें पर की अपेक्षा ही नहीं है।

अहाहा... ! "छह द्रव्य मेरे ज्ञेय—ऐसा तो नहीं, तो कैसा है ? ऐसा है—'ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ज्ञेयः" ज्ञान अर्थात् जाननपने रूप शक्ति, ज्ञेय अर्थात् जनाने योग्य शक्ति, ज्ञाता अर्थात् अनेक शक्ति रूप विराजमान वस्तुमात्र—ऐसे तीन भेद मेरा स्वरूप मात्र है, ऐसा ज्ञेयरूप हूँ।"

क्या कहते हैं ? कि जाननपने की शक्तिरूप मैं, जनाने योग्य शक्ति रूप भी मैं और अनन्त शक्ति रूप वस्तु अर्थात् ज्ञाता भी मैं हूँ। अहाहा ! अनन्तगुणनिधान प्रभु आत्मा में एक जाननपने रूप शक्ति है और एक ज्ञेयशक्ति-प्रमेयशक्ति भी है, इसके द्रव्य-गुण-पर्याय में ज्ञान के समान ज्ञेयशक्तिका-प्रमेयशक्ति का व्यापकपना है। इसलिये जो प्रमेय—ज्ञेय पर्याय है वह भी मैं ज्ञान भी मैं और अनन्त शक्ति का धाम ज्ञाता भी मैं हूँ।

अहो ! बहुत सरस बात है भाई ! तुझे पर के सामने कहीं देखना ही नहीं है। भगवान सर्वज्ञदेव के सामने भी तुझे नहीं देखना क्योंकि समवशरण में विराजमान भगवान सर्वज्ञदेव तेरे ज्ञेय है और तू ज्ञायक है—ऐसा नहीं है। भगवान सम्बन्धी या उनकी वाणी सम्बन्धी तुझे जो ज्ञान पर्याय में हुआ है, उस ज्ञेय को (ज्ञान दशा को) तू जानता है। इसलिए ज्ञेय भी तू स्वयं, ज्ञान भी तू स्वयं और अनन्त गुणधाम ज्ञाता भी तू स्वयं ही है। अरे ! तू बाहर में भटक रहा है, तुझे कहाँ जाना है प्रभु ? आता है न—"भटके द्वार-द्वार लोकनके, कूकर आश धरी" दस बजे भोजन का समय हो, दाल-भात-शाक की गंध आती है तब वहाँ कुत्ता आकर खड़ा रहता है; अभी कुछ मिलेगा ऐसी आशा धरकर बिचारा घर-घर भटकता है। इसी प्रकार मेरी ज्ञान की पर्याय किसी पर में से—निमित्त में से आएगी ऐसा अभिप्राय करके यह भिखारी पामर बनकर जहाँ तहाँ भटकता है। पर भाई ! पर-पदार्थ में से तेरा ज्ञान आवे, यह बात तो दूर रही, पर पदार्थ तेरा ज्ञेय बने—ऐसा भी नहीं है, क्योंकि ज्ञेय-ज्ञान और ज्ञाता तू ही है। इसलिए पर की आशा छोड़ दे।

आनन्दघनजी ने कहा है—"आशा औरन की क्या कीजे, ज्ञानसुधारस पीजै।"

अहा ! पर की आशा छोड़कर पर का लक्ष्य छोड़कर अन्तर के लक्ष्य से ज्ञानरूपी सुधारस पीओ ने प्रभु !

अज्ञानी कहता है—मेरा गुरु है, मेरा भगवान है, मेरा देव है, मेरा मन्दिर है, परन्तु भाई ! ये तो सब प्रत्यक्ष भिन्न वस्तुएं तेरी कहाँ से होवें ? ये सब मेरे हैं, मेरा भला करने वाले हैं, ये बात तो दूर रहो, ये तेरे ज्ञेय होवें—ऐसा भी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि ज्ञेय भी तू स्वयं है, ज्ञान भी तू स्वयं है और ज्ञाता भी स्वयं ही है। अहाहा... ! कहते हैं—ज्ञेय भी मैं, ज्ञान भी मैं और ज्ञाता भी मैं—ऐसी चेतना सर्वस्व वस्तु मैं हूँ। यह मार्ग बहुत सूक्ष्म और गम्भीर है भाई ! यह समझ में नहीं आता, इसलिए लोग क्रियाकाण्ड में फँस जाते हैं और उसी का निरूपण करते हैं परन्तु ये सब मिथ्याभाव और मिथ्या प्ररूपणा है। भाई ! इससे मिथ्यात्व ही पुष्ट होगा, धर्म नहीं। अरे ! लोग कुगुरुओं के द्वारा लुटे जा रहे हैं। तब कोई पूछता है कि—यह कैसे मालूम होवे कि यह भावलिंगी साधु है या द्रव्यलिंगी साधु है ? अरे भाई ! यदि तुझे अपने (हित के) लिये निर्णय करना है तो सुन, जहाँ प्ररूपणा ही बिलकुल विपरीत हो वहाँ ये मिथ्यात्व है—ऐसी खबर पड ही जाती है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम परज्ञेयरूप से तेरे ज्ञान में ज्ञात होते हैं, कोई उसे धर्म का कारण माने-मनावे इससे धर्म होगा ऐसी प्ररूपणा करे—यह सब स्थूल मिथ्यात्व है। यह तुझे कठिन लगेगा, पर कहा था न कि व्यवहार का निषेध करते हैं वह तेरा निषेध करने के लिये नहीं करते, क्योंकि तू ऐसा (व्यवहार रूप) है ही नहीं, तो फिर तेरा निषेध कहाँ हुआ प्रभु ! तू ज्ञेय-ज्ञान-ज्ञाता स्वरूप आत्मा है न भगवान ! तो इसमें तेरा अनादर कहाँ आया ? उल्टा इसमें तो तेरा स्व का आदर आया है।

अहा ! अपनी पर्याय में जो व्यवहार का (शुभ भाव का) ज्ञान है, वह व्यवहार ज्ञेय है और आत्मा ज्ञान है—ऐसा भी जहाँ नहीं है, वहाँ व्यवहार से लाभ होता है—यह बात कहाँ रही ? भगवान ! तू स्वरूप से ऐसा है ही नहीं। राग आवे, होय यह अलग बात है पर इससे तुझे लाभ होगा—ऐसा वस्तुस्वरूप ही नहीं है।

ऐसे तो छहों द्रव्य अनादिसे हैं, प्रत्येक द्रव्य सत्‌रूप है, असत्‌रूप नहीं। क्या कहा ? 'ब्रह्म सत्यं, जगत मिथ्या' ऐसा नहीं है। अपनी शुद्ध एक ज्ञायक वस्तु की अपेक्षा से तो जगत् मिथ्या-अवस्तु भले हो, परन्तु अपनी-अपनी अपेक्षा से तो छहों द्रव्य अनादि से सत्—विद्यमान हैं। आहाहा... एक-एक द्रव्य अनन्त गुणों से भरा हुआ स्वयं सिद्ध सत् है। परन्तु यह मेरा ज्ञेय है, यह बात कहना मुझे खटकती है क्योंकि वह मेरा वास्तविक ज्ञेय नहीं है। जहाँ ऐसा है, वहाँ यह पदार्थ मेरा है और मुझे हितकारी है, यह बात कहाँ रही ? भाई ! यह तेरे हित की बात है। अपने को समझ मे आ जाय ऐसी बात है, किसी को पूछना ना पडे।

अहाहा ! यहाँ कहते हैं—एक जानपने रूप शक्ति, दूसरी जनाने योग्य शक्ति और तीसरी अनेक शक्ति से विराजमान वस्तु—ऐसे तीन भेद मेरा स्वरूप मात्र है। मतलब कि ये तीनों स्वरूप मैं ही हूँ; ज्ञेय भी मैं ज्ञान भी मैं और ज्ञाता भी मैं हूँ। ये तीनों स्वरूप मैं ही हूँ। परज्ञेय मै हूँ—ऐसा नहीं है। देव-गुरु-शास्त्र और देव-गुरु-शास्त्र के प्रति श्रद्धा-विनय-भक्ति का जो विकल्प उठता है, वह मैं हूँ—ऐसा नहीं है, क्योंकि य सब पर-ज्ञेय हैं। प्रभु ! अपनी अन्तर की चीज तो देख। क्या चीज है !! वीतराग... वीतराग... वीतराग... अकेला वीतराग विज्ञान !!

प्रश्न : परन्तु देव-गुरु-शास्त्र तो शरणदाता कहे हैं ?

उत्तर : हाँ कहे हैं, व्यवहार से कहे हैं, पर निश्चय से ये सर्व बाह्य निमित्त तेरे ज्ञेय भी नहीं हैं। अहा ! अनन्त तीर्थंकर, अनन्त केवली, अनन्त सिद्ध, अनन्त आचार्य-उपाध्याय-साधु वो तुझे लाभदायक हैं—ऐसा तो नहीं है, वे सब तेरी वस्तु तो नहीं हैं, लेकिन वे तेरा वास्तविक ज्ञेय हैं ऐसा भी नहीं है। धवल में पाठ आता है न—

णमो लोए सव्व त्रिकालवर्नी अरिहंनाणं
णमो लोए सव्व त्रिकालवर्नी सिद्धाणं,
णमो लोए सव्व त्रिकालवर्नी आइरियाणं,
णमो लोए सव्व त्रिकालवर्नी उवज्झायाणं,
णमो लोए सव्व त्रिकालवर्नी साहूणं।

अहा ! पहले जो हो गये और भविष्य में जो होंगे, वे अरिहंतादि भी अभी वंदन में आ गए। यद्यपि व्यक्तिगत रूप से नहीं आये, पर समूह में सब आ गये। यहाँ कहते हैं कि त्रिकालवर्ती पंच परमेष्ठी ज्ञेय हैं और तू ज्ञायक है—ऐसा नहीं है। तो कैसा है ? कि तत्सम्बन्धी तुझे जो ज्ञान हुआ है, वह ज्ञान पर्याय ही तुझे ज्ञेय हुई है, प्रमेय नामक गुण तेरे में है, इसलिए तेरा ज्ञान उसे प्रमाण करके उस प्रमेय को (तेरी ज्ञान पर्याय को) जानता है। परन्तु पर-द्रव्यरूप प्रमेय को तू जानता है—यह बात सत्यार्थ नहीं है।

अरे ! इसे यह समझने की फुरसत कहाँ है ? एक तो धन्धे के कारण फुरसत नहीं मिलती और बाकी का समय पंचेन्द्रियों के भोगों में चला जाता है। कदाचित् फुरसत मिलती है तो क्रियाकाण्ड में अटक जाता है। अरे ! पर से अपनी मान प्रतिष्ठा बढ़े इसकी दरकार में इसके लिए

सम्पूर्ण वस्तु गायब हो गई है। पर भाई ! तुझे यह अवसर मिला है, यदि फुरसत निकालकर यह बात न समझा तो तू कौवे-कुत्ते आदि के भव में तिर्यंच योनि में कहीं खो जायेगा।

अहाहा ! ज्ञेय-ज्ञान-ज्ञाता ऐसे तीन भेद मेरा स्वरूप मात्र है। अर्थात् तीनों रूप एक ही वस्तु मैं हूँ। परज्ञेय से क्या काम है ? पर ज्ञेय के साथ मुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है। भाई ! तुझे ऐसा निर्णय करना पड़ेगा। हों ! यह आखरी कलश है न ! इसलिए यहाँ एकदम अभेद की बात कही है। भाई ! यह तो सम्पूर्ण शास्त्र का सार अर्थात् निचोड है। निचोड़ !

भाई ! ये जो अनन्त ज्ञेय हैं, उन्हें जानने की शक्ति तेरी है या ज्ञेय की है ? जानने की शक्ति तेरी है, तो इसमें परज्ञेय कहाँ आया ? यह तो बापू अपनी ज्ञान की शक्ति में पर ज्ञेय का ज्ञान अपने ही कारण से अपना ज्ञेय होकर आया है। अहा ! अपना ज्ञान ही अपना ज्ञेय होकर अपने को जानता है तथा अनन्त शक्ति का पिण्ड-ज्ञाता भी वह स्वयं ही है। इस प्रकार तीनों मिलकर वस्तु तो एक ही है। देखो, भाषा ऐसी ली है न कि, "ज्ञान ज्ञेय ज्ञातृ मद्वस्तुमात्रः" अर्थात् तीन भेद स्वरूप वस्तुमात्र मैं हूँ, उसमें ही मेरा सर्वस्व है। ऐसा वस्तुस्वरूप है और यह भगवान की वाणी में आया है।

यहाँ का विरोध करने के लिए कितने ही पण्डित कहते हैं कि जो एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता न माने वह दिगंबर जैन नहीं है। लेकिन भगवान ! इसमें तो तेरा स्वयं का ही विरोध होता है। भाई ! तुझे खबर नहीं, पर इसमें तेरा बड़ा नुकसान है। ऐसे (तत्व विरोध के) परिणाम का फल बहुत बुरा है भाई ! तूने अनन्तकाल से जो घोर दुःख सहे वह ऐसे ही परिणाम का फल है। तू दुःखी हो, क्या यह अच्छा है ? (इसलिए तत्वदृष्टि कर।)

अज्ञानी कहते हैं कि जो परद्रव्य का कर्ता न माने, वह दिगंबर जैन

नहीं। जबकि यहाँ दिगंबर आचार्य कहते हैं कि जो अपने को पर का जानने वाला भी माने वह दिगम्बर जैन नहीं। बहुत फेर है भाई ! परन्तु मार्ग तो ऐसा है प्रभु ! तू स्वभाव से ही भगवान स्वरूप है, तेरी शक्ति में अन्य की जरूरत नहीं है, तुझे जानने में कि पर को जानने में पर की जरूरत नहीं है परन्तु तुझे स्वयं को जानने में तेरी शक्ति की जरूरत है (और वह तो तुझमें है ही) अब इसमें विषय और कषाय का रस कहाँ रहा ? विषय कषाय का भाव तो परज्ञेय है, तुझे इससे कुछ सम्बन्ध नहीं। वह तेरे में तो नहीं, लेकिन तेरा ज्ञेय भी नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि मैं "ऐसा ज्ञेयस्वरूप हूँ" कैसा ज्ञेयस्वरूप हूँ ? कि ज्ञानशक्ति रूप मैं हूँ, ज्ञेय शक्ति रूप मैं हूँ और अनन्त गुणों की ज्ञाता शक्ति रूप भी मैं हूँ—ऐसा मैं ज्ञेयरूप हूँ, परन्तु परज्ञेय रूप मैं नहीं हूँ। अहो ! गजब बात है। केवली परमात्मा और उनके आढ़तिया दिगम्बर संतों के सिवा ऐसी बात कौन करे ? जगत को ठीक पडे या न पड़े समाज समतोल रहे या ना रहे वस्तुस्थिति तो यही है।

देखो, राजमल जी इसके भावार्थ में क्या कहते हैं ? "भावार्थ इस प्रकार है कि—मैं अपने स्वरूप को वेद्य-वेदक रूप से जानता हूँ, इसलिए मेरा नाम ज्ञान, मैं आप द्वारा जनाने योग्य हूँ, इसलिए मेरा नाम ज्ञेय, ऐसी दो शक्तियों से लेकर अनन्त शक्ति रूप हूँ, इसलिए मेरा नाम ज्ञाता। ऐसा नाम भेद है, वस्तु भेद नहीं है।"

क्या कहा ? वेद्य अर्थात् जानने लायक है वो और वेदक अर्थात् जानने वाला है वो मैं ही हूँ, इसलिए मेरा नाम ज्ञान है। अहाहा ! स्वज्ञेय को मैं जानता हूँ, इसलिए मैं ज्ञान हूँ। तथा मैं अपने स्वयं के द्वारा ही जनाने योग्य हूँ इसलिए मैं ज्ञेय हूँ। ऐसी बात है भाई ! शास्त्र से तो मेरा ज्ञान नहीं है परन्तु शास्त्र मेरा ज्ञेय है, ऐसा भी नहीं है।

प्रश्न : तो शास्त्र पढ़ना चाहिए या नहीं ?

उत्तर : स्व के लक्ष्य से (स्व लक्ष के लिए) शास्त्र पढ़ना, शास्त्र अभ्यास करना—यह बात आती है, परन्तु उस समय जो ज्ञान हुआ, वह शास्त्र का ज्ञान है—ऐसा नहीं है। ज्ञान तो ज्ञान का है, शास्त्र का नहीं है, और ज्ञेय भी ज्ञान स्वयं ही है। ऐसी सूक्ष्म बात है।

प्रश्न : पहले ज्ञान की पर्याय में ऐसा ज्ञान नहीं था, परन्तु अब ऐसी वाणी सुनने पर ऐसा ज्ञान हुआ न ?

उत्तर : ना, ऐसा नहीं है। वह ज्ञान की पर्याय ही तेरा ज्ञेय है, और उसमें से ही तेरा ज्ञान आया है, परन्तु परज्ञेय में से वाणी में से ज्ञान नहीं आया है। यह बात सूक्ष्म है, परन्तु जन्म-मरण के अन्त का मार्ग तो यही है प्रभु ! तुझे किसके सामने देखना है ? यह देव मेरा, गुरु मेरा और शास्त्र मेरा—ऐसा तो वस्तुस्वरूप में नहीं है, पर ये मेरे ज्ञेय हैं—ऐसा भी वस्तु स्वरूप में नहीं है। किसी को यह बात समझना कठिन लगे, इसलिए वह, यह तो निश्चय है, निश्चय है—ऐसे हँसी करके उड़ा दे, परन्तु भाई ! निश्चय अर्थात् सत्य, परम सत्य। समझ में आया कुछ ?

मैं अपने द्वारा ज्ञात होने योग्य हूँ, परन्तु पर के द्वारा जनाने योग्य नहीं हूँ। मेरा द्रव्य-गुण-पर्याय मेरे द्वारा जानने लायक है, इसलिए मैं ही मेरा ज्ञेय हूँ, परपदार्थ मेरा ज्ञेय नहीं है। ज्ञान भी मैं, ज्ञेय भी मैं और ज्ञाता भी मैं ही हूँ। यह परमार्थ सत्य है भाई ! कहा है न कि "नाम भेद है, वस्तु भेद नहीं है।" अपना ज्ञेय कोई जुदी चीज है, ज्ञान जुदी चीज है और ज्ञाता जुदी चीज है—ऐसा नहीं है, परन्तु जो ज्ञेय है वही ज्ञान है, और वही ज्ञाता है। तीनों ही वस्तुपने एक ही हैं। यह तो भाई ! वस्तु की स्वतंत्रता की परिपूर्णता की पराकाष्टा है।

देखो, कोई निन्दा करे तो नाराज होता है और प्रशंसा करे तो खुश होता है, परन्तु निंदा तो शब्द रूप जड़ का परिणाम है और प्रशंसा भी जड़ शब्द की पर्याय है। भाई ! ये निन्दा-प्रशंसा तो तेरी चीज नहीं है परन्तु ये तेरा ज्ञेय है और तू ज्ञायक है ऐसा भी नहीं है। जब ऐसा वस्तु स्वरूप है, तो फिर यह मेरा निंदक है और यह मेरा प्रशंसक है—यह बात कहाँ रही ? यह मेरी निंदा करता है और यह मेरी प्रशंसा करता है, वास्तव में ऐसा है ही नहीं।

अब कहते हैं—कैसा हूँ ? "ज्ञान ज्ञेय—कल्लोलवल्गन"—जीव ज्ञायक है, जीव ज्ञेयरूप है, ऐसा जो वचन भेद उससे भेद को प्राप्त होता हूँ। भावार्थ इस प्रकार है कि—वचन का भेद है, वस्तु का भेद नहीं।

देखो क्या कहा ? स्वयं ज्ञेय, स्वयं ज्ञान और स्वयं ही ज्ञाता—ऐसे तीन भेद वचन भेद से हैं, परन्तु वस्तु तो जैसी है वैसी है अर्थात् ज्ञेय भी मैं, ज्ञान भी मैं और ज्ञाता भी मैं, ऐसे तीनों मिलकर एक ही वस्तु मैं हूँ, परन्तु तीन वस्तु नहीं है। अहा ! स्ववस्तु में परवस्तु तो नहीं है, परन्तु स्ववस्तु में तीन भेद भी नहीं हैं। ऐसा मार्ग है, इसने अनन्तकाल में सुना भी नहीं है।

अहो ! समयसार में आई हुई, यह बात लोकोत्तर-अलौकिक है। देखो, यहाँ तीन बातें हैं—

(१) परद्रव्य मेरा है और मैं पर का हूँ—ऐसा तो नहीं है।

(२) परद्रव्य मेरे ज्ञेय हैं और मैं ज्ञायक हूँ—ऐसे भी नहीं है।

(३) मुझमें ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता—ऐसे वस्तुभेद भी नहीं हैं।

मैं ज्ञेय हूँ, मैं ज्ञान हूँ, मैं ज्ञाता हूँ—ऐसा जो भेद उपजे तो राग-विकल्प उत्पन्न होता है, परन्तु वस्तु और वस्तु की दृष्टि में ऐसा भेद

नहीं है, सब अभेद एक है।

अहाहा ! पर-पदार्थ मेरे ज्ञेय हैं और मैं ज्ञायक हूँ, ये तो वस्तु में है ही नहीं, परन्तु वस्तु में जो तीन भेद हैं, वे भी नामभेद हैं। दृष्टि के विषय में ये तीन भेद हैं ही नहीं। जैसी यह वस्तुस्थिति है, वैसी अज्ञानी के ख्याल में नहीं आती, इसलिए उसकी धारणा से शास्त्र में अलग बात आती है, तो उसमें उसे विरोध भासित होता है। किसी को इससे विरोध हो तो हो, परन्तु यह तेरा ही विरोध है, दूसरे का विरोध दूसरा कौन करे ? दूसरी चीज में तेरा विरोध कहाँ जाता है कि तू दूसरे का विरोध करे ?

यहाँ कहते हैं—जीव ही ज्ञेयरूप है, जीव ही ज्ञायक है और जीव ही ज्ञाता है, ऐसे वचनभेद से भेद को पाता हूँ, अर्थात् ये तो कल्लोल अर्थात् वचन का भेद है, परन्तु वस्तु में भेद नहीं है। मैं ही ज्ञेय, मैं ही ज्ञान और मैं ही ज्ञाता—ऐसा वचन भेद कथनमात्र भेद है बाकी वस्तु तो अभेद ही है।।३२९।।

(श्री समयसार कलश टीका, कलश २७१ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री का प्रवचन ता. २९.९.७७, गुजराती अध्यात्म प्रवचन रत्नत्रय, पृष्ठ १६६)

समयसार कलश : २७१

'ज्ञानमात्रभाव स्वयं ही ज्ञान है, स्वयं ही अपना ज्ञेय है और स्वयं ही अपना ज्ञाता है'—ऐसे अर्थरूप काव्य कहते हैं।

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्
ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः।।२७१।।

श्लोकार्थ :—[यः अयं ज्ञानमात्रः भावः अहम् अस्मि सः ज्ञेयज्ञानमात्रः एव न ज्ञेयः] जो यह ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ, वह ज्ञेयों का ज्ञानमात्र ही नहीं जानना चाहिए **(ज्ञेय-ज्ञानकल्लोल-वल्गन्)** (परन्तु) ज्ञेयों के आकार से होने वाले ज्ञान की कल्लोलों के रूप में परिणमित होता हुआ वह, **(ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृमत्-वस्तुमात्रः ज्ञेयः)** ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातामय वस्तुमात्र जानना चाहिए। (अर्थात् स्वयं ही ज्ञान, स्वयं ही ज्ञेय और स्वयं ही ज्ञाता—इस प्रकार ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातारूप तीनों भावसहित वस्तुमात्र जानना चाहिए।

भावार्थ :—ज्ञानमात्रभाव जाननक्रियारूप होने से ज्ञानस्वरूप है। और वह स्वयं ही निम्न प्रकार से ज्ञेयरूप है।

बाह्य ज्ञेय ज्ञान से भिन्न हैं, वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते; ज्ञेयों के आकार की झलक ज्ञान में पड़ने पर ज्ञान ज्ञेयाकाररूप दिखाई देता है, परन्तु वे ज्ञान की ही तरंगें हैं। वे ज्ञानतरंगें ही ज्ञान के द्वारा ज्ञात होती है—इस प्रकार स्वयं ही स्वतः जनाने योग्य होने से ज्ञानमात्रभाव ही

ज्ञेयरूप है। और स्वयं ही अपना जाननेवाला होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञाता है।

इस प्रकार ज्ञानमात्रभाव ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता—इन तीनों भावों से युक्त सामान्य-विशेष स्वरूप वस्तु है। 'ऐसा ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ' इस प्रकार अनुभव करने वाला पुरुष—ऐसा अनुभव करता है।।२७१।।

कलश २७१ के श्लोकार्थ पर प्रवचन

'यः अयं ज्ञानमात्रः भावः अहम् अस्मि सः ज्ञेय-ज्ञानमात्रः एव न ज्ञेयः' जो यह ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ, वह ज्ञेयों का ज्ञानमात्र ही नहीं जानना...।

देखो, क्या कहते हैं? जो यह ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ, वह छह द्रव्यों को जानने मात्र ही नहीं जानता। क्या कहा? लोक में जितने द्रव्य हैं—अनन्त सिद्ध और अनन्तानंत निगोद के जीव सहित जीव, अनन्तानंत पुद्गल, देह, मन, वाणी, कर्म इत्यादि और धर्म, अधर्म, आकाश, काल इस प्रकार छह द्रव्य उनके द्रव्य, गुण, पर्यायें—वह मेरे ज्ञेय और मैं उसका ज्ञायक—ऐसा नहीं जानना—ऐसा कहते हैं; उसका कर्त्तापना तो कहीं दूर रहा, यहाँ तो कहते हैं—कि उसका (छह द्रव्यों का) जाननहारा मैं हूँ—ऐसा नहीं जानना। गजब की बात है भाई! परद्रव्यों के साथ ज्ञेयज्ञायकपने का सम्बन्ध भी निश्चय से नहीं है, व्यवहार मात्र से ऐसा सम्बन्ध है। समझ में आया कुछ...? जैन तत्त्वज्ञान बहुत सूक्ष्म है भाई! यह व्यवहार रत्नत्रय का राग होता है न धर्मात्मा को? इधर कहते हैं—भगवान आत्मा ज्ञायक और व्यवहार रत्नत्रय का राग उसका ज्ञेय—ऐसा वास्तव में है नहीं। बारहवीं गाथा में व्यवहार 'जाना हुआ' प्रयोजनवान कहा—यह तो व्यवहार की बात है। निश्चय से तो स्वपर को प्रकाशने वाली अपनी ज्ञान की दशा ही अपना ज्ञेय

है। रागादि परवस्तु—परद्रव्यों को उसका ज्ञेय कहना यह व्यवहार से है, निश्चय से पर के साथ उसको (मुझको) ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध भी नहीं है। तो फिर पर के साथ मुझे अपनेपने का—स्वामित्व का और कर्त्तापने का सम्बन्ध होने की बात तो बहुत ही दूर रह गई। समझ में आया कुछ... ?

अहाहा... ! कहते हैं—जो यह ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ, वह ज्ञेयों का ज्ञानमात्र ही नहीं जानना। तब किस प्रकार है ? वह कहते हैं—**'ज्ञेय-ज्ञान-कल्लोलवल्गन्'** (वरन्) ज्ञेयों के आकार से होने वाले ज्ञान की कल्लोलों के रूप में (तरंगरूप में) परिणमता हुआ वह, **'ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृमत्-वस्तुमात्रः ज्ञेयः'** ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातामय वस्तुमात्र जानना। (अर्थात् स्वयं ही ज्ञान, स्वयं ही ज्ञेय और स्वयं ही ज्ञाता—ऐसा ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातारूप तीन भावोंसहित वस्तुमात्र जानना।) 'ज्ञेयों के आकार से होने वाले ज्ञान की कल्लोलों केरूप में परिणमता हुआ'—यह व्यवहार से कहा है, वास्तव में तो ज्ञेयों का—छह द्रव्यों का जैसा स्वरूप है, उसको जानने के विशेषरूप परिणमना वह ज्ञान की अपनी दशा है। और वह (दशा) ज्ञान के स्वयं के सामर्थ्य से है। **'ज्ञेयों के आकाररूप होता हुआ ज्ञान' यह तो कथनमात्र है। सचमुच ज्ञान ज्ञानाकार ही है। ज्ञेयाकार है ही नहीं।** समझ में आया कुछ... ? अहाहा... ! यहाँ कहते हैं—यह ज्ञान की पर्याय और मेरा द्रव्य-गुण (द्रव्य-गुण-पर्याय) तीनों मिलकर मैं ज्ञेय हूँ। ज्ञान मैं, ज्ञाता मैं और ज्ञेय यह लोकालोक ऐसा किसने कहा ? परमार्थ से ऐसा तो है नहीं, (फिर भी) ऐसा कहना यह तो व्यवहार है। अहाहा... ! धर्मी के अन्तर की खुमारी तो देखो ! कहते हैं—जगत में मैं एक ही हूँ। जगत में दूसरी चीज हो तो हो, परमार्थ से उसके साथ मेरा जानने तक का सम्बन्ध नहीं है। ऐसी बात है, समझ में आया कुछ... ?

अहाहा... ! यहाँ क्या कहते हैं ? कि परज्ञेय (परपदार्थों-देव-गुरु-शास्त्र, पंचपरमेष्ठी और व्यवहार रत्नत्रय आदि ज्ञेय) में ज्ञान, और मैं ज्ञाता—ऐसा सम्बन्ध होना तो दूर रहो; पर मैं ज्ञेय, मैं ज्ञान और मैं ज्ञाता—ऐसे तीन भेदरूप भी मैं नहीं हूँ। ये तीनों मैं एक ही हूँ। देखो, यह स्वानुभव की दशा ! ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय ऐसे भेदों से भेदरूप नहीं होता हुआ ऐसा अभेद चिन्मात्र मैं आत्मा हूँ। मैं ज्ञेय हूँ, मैं ज्ञान हूँ, मैं ज्ञाता हूँ ऐसे तीन भेद पैदा होवे, वह तो राग—विकल्प है, लेकिन वस्तु और वस्तु की दृष्टि में ऐसे भेद हैं नहीं, सब अभेद एक हैं।

भाई ! तुझमें तेरा होनापना (अस्तित्व) कैसा है, उसकी तुझे खबर नहीं ! तीन लोक के द्रव्यों—द्रव्य-गुण-पर्यायें त्रिकालवर्ती जो अनंतानंत हैं उन सभी को जाननहारी तेरी ज्ञान की दशा वह सचमुच तेरा ज्ञेय है। वह दशा अकेली नहीं लेकिन तेरा द्रव्य-गुण-पर्याय वो सभी ज्ञेय हैं। अहाहा... ! वह समस्त का (अपना) ज्ञान, वह ज्ञान; वह समस्त (स्वयं) ज्ञेय और स्वयं ज्ञाता—यह तीनों वस्तु एक ही हैं, तीन भेद नहीं हैं। ऐसी सूक्ष्म बात है। ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय तीन भावों सहित वस्तुमात्र एक-अभेद है।

कलश २७१ के भावार्थ पर प्रवचन

अहाहा... ! बहुत सरस भावार्थ है। वस्तु के मर्म का मक्खन है। कहते हैं—अपने द्रव्य पर दृष्टि देते ही स्वयं ही ज्ञाता, स्वयं ही ज्ञान और स्वयं ही ज्ञेय है—ऐसी अनुभूति होती है। छह द्रव्य ज्ञेय, मैं ज्ञान और मैं ज्ञाता ऐसी अनुभूति नहीं होती, क्योंकि परमार्थ से पर के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है ही नहीं—ऐसी बात है।

कहते हैं—'ज्ञानमात्र भाव जाननक्रियारूप होने से ज्ञानस्वरूप है।'

देखो, क्या कहा ? कि जगत के जो ज्ञेय हैं, उनको जाननेरूप जो जाननक्रिया वह ज्ञानस्वरूप है, ज्ञेयस्वरूप नहीं है। ज्ञान की पर्याय में छह द्रव्य जानने में आते हैं, सो वास्तव में छह द्रव्य जानने में नहीं आते, परन्तु छह द्रव्य सम्बन्धी अपना जो ज्ञान है वह जानने में आता है और वह वास्तव में आत्मा का ज्ञेय है। परज्ञेय जानने में आता है ऐसा कहना यह तो व्यवहार है। ज्ञेय सम्बन्धी अपने ज्ञान की पर्याय जाननरूप जो हुई वह अपना ज्ञेय है, परन्तु परज्ञेय अपना नहीं, क्योंकि अपने में अपनी ज्ञानपर्याय का अस्तित्व है (पर का नहीं)।

अहाहा ..! छह द्रव्य को जाननेवाली ज्ञान की पर्याय अपनी है, उसको छह द्रव्य का ज्ञान कहना वह व्यवहार है; ज्ञेय-ज्ञान ज्ञेय का नहीं है। अपितु ज्ञान का ज्ञान है, जाननक्रियारूप भाव ज्ञानस्वरूप है। पण्डित जयचंदजी यही स्पष्ट करते हैं—

'और वह स्वयं ही निम्न प्रकार ज्ञेयरूप है। बाह्य ज्ञेय ज्ञान से भिन्न हैं, वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते, ज्ञेयों के आकार की झलक ज्ञान में पड़ने से ज्ञान ज्ञेयाकाररूप दिखाई देता है; परन्तु यह ज्ञान की ही कल्लोलें (तरंगें) हैं। वे ज्ञान कल्लोलें ही—ज्ञानतरंगें ही ज्ञान के द्वारा ज्ञात होती हैं।'

अहाहा...! देखो, बाह्य ज्ञेयों—रागादिक से लेकर छहों द्रव्य अपने आत्मा से (अपने द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों से) भिन्न हैं। यदि वे भिन्न न हों तो एक हो जायें, परन्तु ऐसा कभी बनता ही नहीं है, ऐसा है ही नहीं।

राग का ज्ञान हो तो भी राग कहीं ज्ञान की पर्याय में आता नहीं है। केवली को लोकालोक का ज्ञान हुआ तो लोकालोक कहीं ज्ञान में घुस गया

नहीं है। घट को जाननेवाला घटरूप होता नहीं है। और घट को जाननेवाला वास्तव में घट को जानता है ऐसा भी नहीं है। स्वपर को जानने के ज्ञानरूप स्वयं आत्मा ही होता है। घट को जानने के ज्ञानरूप तो आत्मा होता है; इसलिए घट का ज्ञान नहीं, परन्तु आत्मा का ही ज्ञान है। अपने में तो अपने ज्ञानपरिणाम का अस्तित्व है ज्ञेय का नहीं। आत्मा का 'ज्ञ' स्वभाव है, और 'ज्ञ' स्वभावी आत्मा में जाननक्रिया होती है, वो स्वयं से होती हुई स्वयं अपनी क्रिया है, उसमें परज्ञेय का कुछ है ही नहीं है। इस प्रकार ज्ञेय सम्बन्धी अपने ज्ञान का जो परिणमन हुआ वह ज्ञेय स्वयं, ज्ञान स्वयं ही और स्वयं ही ज्ञाता है। समझ में आया कुछ... ?

ज्ञेयों के आकार की झलक ज्ञान में आने पर ज्ञान ज्ञेयाकार दिखता है, परन्तु यह ज्ञान की ही तरंगें हैं। देखो, ज्ञान ज्ञेयाकार है—ऐसा नहीं, यह तो ज्ञेय को जानने के प्रति ऐसे ज्ञानाकाररूप ज्ञान स्वयं ही हुआ है, ज्ञेय का उसमें कुछ भी नहीं है। ज्ञेय ज्ञान में घुसा है, आया है—ऐसा है ही नहीं। अर्थात् ज्ञान ज्ञेयरूप होता है—ऐसा है ही नहीं है, ज्ञान ज्ञानाकार ही है। यह ज्ञान की ही कल्लोलें हैं।

अहाहा... ! कैसा भेदज्ञान कराया है ! वीतराग मार्ग बहुत सूक्ष्म है भाई ! ज़रा धीरज रखकर सुन ! कहते हैं—आत्मा पर का कुछ करे और पर से आत्मा में कुछ होवे यह बात तो जाने दे, यह बात तो है ही नहीं, **लेकिन पर ज्ञान की पर्याय में जनाय, ज्ञान पर को जाने और परज्ञेय ज्ञान की पर्याय में आ जाएं—घुस जाएं ऐसा है नहीं।** वस्तु—द्रव्य एकज्ञायकभावपने है वह स्वयं ज्ञान की पर्यायपने जाननक्रियारूप होती है, वह अपनी स्वपर प्रकाशक की क्रिया है। उसमें पर जानने में आता है ऐसा कहना वह व्यवहार है,'बस ! पर जानने में नहीं आता है, अपनी जाननक्रिया जाननेरूप है वह जानने में आती है।

भगवान् ! तू इतना और ऐसा ही है। अन्यथा मानेगा तो तेरे स्वभाव का घात होगा।

सर्वज्ञ परमेश्वर कहते हैं—लोकालोक जानने में आवे ऐसी तेरी पर्याय नहीं है, तेरी ज्ञानपर्याय को तू जाने—देखे—ऐसा तेरा स्वरूप है। लोकालोक को जानते हैं ऐसा कहना यह असद्भूत व्यवहार है, झूठा व्यवहार है।

तब सच्चा व्यवहार क्या है ? वह यह है; स्वयं जाणग—जाननहार जानने के भाववाला तत्त्व होने से लोकालोक के जितने ज्ञेय हैं उनको और अपने को जानने की क्रियारूप अपने में (अपने अस्तित्व में) अपने कारण से परिणमता है। वास्तव में तो यह जो ज्ञान की पर्याय है वह ज्ञेय है। ज्ञान की पर्याय का पर (पदार्थ) ज्ञेय है—ऐसा कहना वह व्यवहार है, ऐसी बात है।

ज्ञेयों के आकार अर्थात् ज्ञेयों के विशेष—उनकी ज्ञान में झलक आती है, अर्थात् उस सम्बन्धी अपना ज्ञान अपने में अपने से परिणमता है। **वह ज्ञान ज्ञेयाकार दिखता है—ऐसा कहा तो भी वह ज्ञेयाकार हुआ नहीं है। यह तो ज्ञानाकार-ज्ञान की ही तरंगें हैं।** अहाहा...! जाणन... जाणन... जाणन अपना स्वभाव है। उसमें परवस्तु का—परज्ञेय का प्रवेश नहीं है। फिर भी उसका जानना इधर (स्वयं में) होता है, वह सचमुच उसका (परज्ञेय का) जानना नहीं है। जानने की दशा जो अपनी है उसका जानना है। यह न्याय से तो बात है; उसको समझना तो होगा न! और दूसरा कोई थोड़ा समझा देंगे ?

देखो, दर्पण के दृष्टान्त से यह बात समझें :—

जिस प्रकार दर्पण के सामने कोयला, अग्नि आदि रखे हुए हैं, वह

दर्पण में दिखते हैं' लेकिन ये दर्पण से भिन्न चीज हैं न ? दर्पण में तो उन पदार्थों की झलक दिखती है, लेकिन क्या कोयला और अग्नि आदि दर्पण में है ? दर्पण में तो दर्पण की स्वच्छता का अस्तित्व है। यदि अग्नि आदि उसमें घुस जाये तो दर्पण अग्निमय हो जाये, उसको हाथ से स्पर्श करने से हाथ जल जाये, लेकिन ऐसा है नहीं। दर्पण दर्पण की स्वच्छता के परिणामरूप में स्वयं अपने से ही परिणमा है; कोयला और अग्नि का उसमें कुछ भी नहीं है। समझ में आया कुछ... ?

यह क्या कहा ? फिर से, एक ओर दर्पण है और उसके सामने एक ओर अग्नि और बर्फ है। अग्नि, अग्नि में लबक-झबक होती है और बर्फ, बर्फ में पिघलती जाती है। उस समय दर्पण में भी बस ऐसा ही दिखता है। तो क्या दर्पण में अग्नि और बर्फ है ? ना; अग्नि और बर्फ का होना तो बाहर अपने-अपने में है, दर्पण में उसका होना (अस्तित्व) नहीं है। दर्पण में वे घुसे नहीं हैं। दर्पण में तो दर्पण की उसरूप स्वच्छ दशा हुई है वही है। अग्नि और बर्फ सम्बन्धी दर्पण की स्वच्छता की दशा वह दर्पण का अपना परिणमन है। अग्नि और बर्फ का उसमें कुछ भी नहीं है; अग्नि और बर्फ ने उसमें कुछ भी किया नहीं है, वे तो भिन्न पदार्थ हैं।

उसी प्रकार भगवान आत्मा स्वच्छ चैतन्य दर्पण है। उसके ज्ञान में ज्ञेयों के आकार की झलक आते ही ज्ञान ज्ञेयाकार दिखता है। **सामने जैसा ज्ञेय है, उसी प्रकार की विशेषतारूप अपनी ज्ञान की दशा होने से मानो कि ज्ञान ज्ञेयाकाररूप हो गया हो ऐसा दिखता है; परन्तु ज्ञान ज्ञेयाकार हुआ ही नहीं है, ज्ञानाकार ही है। अर्थात् वे ज्ञेय की तरंगें नहीं हैं, लेकिन ज्ञान की ही तरंगें—कल्लोलें हैं, ज्ञान की ही दशा है; ज्ञेयों का उसमें कुछ भी नहीं है। समझ** में आया कुछ... ?

अहा ! ऐसे अपने अस्तित्व की महिमा जाने बिना भाई ! तू दया, दान, व्रत, तप कर करके सूख जाय, तो भी लेशमात्र भी धर्म होगा नहीं। अपने स्वरूप का माहात्म्य जाने बिना धर्म की क्रिया कभी भी हो सकती नहीं है।

छोटी उम्र की बात है। पालेज में पिताजी की दुकान थी। वो बन्द करके रात को, महाराज उपाश्रय मे आये हुए हों, वहाँ उनके पास जाते थे। वहाँ महाराज गाते थे :—

"भूधरजी तुमको भूलारे भटकता हूँ भववन में,
कुत्ते के भव में मैं बीनी खाया टुकडा,
वहाँ भूख के वेधा भडका रे..."

"(भूधरजी तमने भूल्यो रे भटकु छुं भववनमा,
कुतराना भवमां में वीणी खाधा कटका,
त्यां भूखना बेठया भडकारे")

अब उसमें तत्त्व की कुछ खबर नहीं, लेकिन सुनकर उस बख्त खुशी-खुशी हो जाते थे। लोक में भी उसी जगह ऐसा ही चल रहा है न ! स्वयं कौन और कैसा है उसकी खबर नहीं, करने लगे व्रत, तप, भक्ति, पूजा आदि क्योंकि उससे धर्म होगा, लेकिन उसमें धूल में भी धर्म नहीं होगा। मैं कौन हूँ उसकी खबर के बिना धर्म किस में होगा ? बापू ! **मैं ज्ञानस्वरूप हूँ ऐसा भूलकर राग के कर्त्तापने में लगा रहे यह तो पागलपना है। पूरी दुनिया ऐसी पागल है। समझ में आया कुछ !**

अहाहा... ! यहाँ कहते हैं—'यह ज्ञान तरंगें ही ज्ञान के द्वारा ज्ञात

होती हैं,' स्वयं के अस्तित्व में दया, दान आदि के भाव और शरीर, मन, वाणी इत्यादि परज्ञेयों का प्रवेश नहीं है। ये तो भिन्न पर हैं; इसलिए जानने की क्रिया ही ज्ञान के द्वारा, आत्मा के द्वारा जानने में आती है। दया के परिणाम होते हैं उसको जाननेवाली क्रिया आत्मा की है और **वह ज्ञानक्रिया ज्ञान का ज्ञेय है**, लेकिन **दया का परिणाम परमार्थ से आत्मा का नहीं है और परमार्थ से वह आत्मा का ज्ञेय भी नहीं है।**

अब किसी को ऐसा लगे कि यह तो कैसा धर्म है ? भूखे को भोजन देना, प्यासे को पानी देना, नग्न को कपड़ा देना और बीमारों की सेवा करना—ऐसी कोई बात हो तो समझ में आवे। अरे भाई ! ये तो सब राग की क्रिया है। बापू ! उस समय जड़ की क्रिया तो जड़ में होने योग्य हुई है, वह क्रिया तेरी नहीं और रागकी क्रिया भी तेरी नहीं है। अरे ! उस समय राग का ज्ञान हुआ वह ज्ञान राग का नहीं, राग उसमें घुसा नहीं है। जानने की क्रिया तेरे अस्तित्व में हुई है वह तेरी है और सचमुच वह तेरा ज्ञेय है रागादि परमार्थ से तेरा ज्ञेय नहीं है। समझ में आया कुछ... ?

अज्ञानी जीवों को इतना सब (दया, दान, आदि को) उलांघकर यहाँ (ज्ञानभाव में) आना बड़ा मेरुपर्वत उठाने जैसा लगता है, लेकिन इसमें तेरा हित है भाई !

अब कहते हैं—'इस प्रकार स्वयं ही स्वयं से जनाने योग्य होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञेयरूप है और स्वयं ही स्वयं का जाननहार होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञाता है—इस प्रकार ज्ञानमात्र, भाव ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता—इन तीनों भावों युक्त सामान्य-विशेष स्वरूप वस्तु है।'

देखो, यह सबका निचोड़ किया। जनानेयोग्य परपदार्थ पर में रह रहे

हैं और जाननहार जाननहार में रह रहा है। जाननहार स्वयं ज्ञानरूप होता हुआ अपने को जानता है। इस प्रकार आत्मा स्वयं ही जनानेयोग्य है; ज्ञानमात्र भाव ही स्वयं अपना ज्ञेय है। परपदार्थ को ज्ञेय कहना यह व्यवहार है बस।

और फिर स्वयं ही स्वयं का जाननहार होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञाता है। अहाहा...! पर के साथ परमार्थ से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। जो जानने में आती है वह भी अपनी दशा, जाननेवाला भी स्वयं और ज्ञान भी स्वयं ही। अहाहा...! ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय, तीनों एकरूप। अन्तर में दृष्टि देने से ऐसे तीन भेद आत्मा के हैं ऐसा भी रहता नहीं है। परवस्तु ज्ञेय और मैं ज्ञाता—वह तो कहीं बहुत दूर रह गया। मैं ही ज्ञेय, मैं ही ज्ञान और मैं ही ज्ञाता—ऐसे तीन भेद भी अन्तर्दृष्टि में समाते नहीं हैं, सब अभेद एकरूप अनुभवाता है। लो, इसका नाम धर्म है। जिसमें सामान्य-विशेष का, अभेदपना प्राप्त—सिद्ध हुआ, वही धर्म है।

अहाहा...! 'ऐसा ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ' ऐसा अनुभव करनेवाला पुरुष अनुभवता है। ज्ञाता भी मैं ज्ञान भी मैं और ज्ञेय भी मैं—ऐसे तीनों एक मैं हूँ—ऐसा जो ज्ञानमात्र भाव वही मैं हूँ ऐसा अनुभव करनेवाला पुरुष स्वयं को (अपने को) अनुभवता है। ऐसा अनुभव होना वही धर्म है। 'अनुभव'—अनु का अर्थ है अनुसरन करके, भव का अर्थ है भवन होना। आत्मा को—ज्ञानमात्रवस्तु को अनुसरन करके होना—परिणमना, वही अनुभव है और वही धर्म है। इसके सिवाय राग का अनुसरन करके होनेरूप जो अनेक क्रियाएँ हैं वह सब संसार है। वह सब अरण्यरोदन जैसा है।

अहाहा...! अनुभव करनेवाला पुरुष ऐसा अनुभव करता है कि

ज्ञाननहार भी मैं हूँ ज्ञान भी मैं हूँ और जनाने योग्य ज्ञेय भी मैं ही हूँ। इन तीनों के अभेद की दृष्टि होने से उसको स्वानुभव प्रकट हुआ है और उसमें उसको अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद का वेदन प्रकट हुआ होता है। इसको समकित और धर्म कहते है। समझ में आया कुछ...?

देखो, वहाँ सामान्य-विशेष दोनों एक साथ लिए हैं। क्योंकि प्रमाणज्ञान कराना है। प्रमाणज्ञान में वस्तु त्रिकाली सत उसकी शक्तियाँ त्रिकाली सत और उसकी वर्तमान पर्याय ये तीनों होकर वस्तु—आत्मा कही है। उसमें शरीर मन वाणी, कर्म और विकार इत्यादि नहीं आते हैं।।३३०।।

(श्री समयसार कलश २७१ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री का १८वी बार का प्रवचन, श्री गुजराती प्रवचनरत्नाकर, भाग ११ मे से)

★ **प्रश्न :** ज्ञान का स्वरूप क्या है?

उत्तर : जानना वो। (जानने में राग, द्वेष वो ज्ञान का स्वरूप नही है)। मै इसका (पर को) जानता हूँ। ऐसा बोलने में आता है परन्तु वास्तव में पर को नही लेकिन अपनी ज्ञान की पर्याय को जानता है।।३३१।।

(श्री गुजराती आत्मधर्म वर्ष १ अंक ६ वैशाख २०००
पृष्ठ नं. १०२)

★ **सर्वत्र ज्ञानका ही चमकना है।**

कोई जीव पर को भोग सकता नहीं है लेकिन कोई पर का वर्णन भी नहीं कर सकता; मात्र स्वयं ने पर का जो ज्ञान किया है उसका (अपने ज्ञान का) वर्णन कर सकता है, ज्ञानगुण के अलावा एक भी गुण का वर्णन नहीं हो सकता लेकिन जिस ज्ञान ने सुखगुण को नक्की किया है उस "सुखगुण के ज्ञान का" वर्णन कर सकता है। इस प्रकार से ज्ञान वास्तव

में परप्रकाशक नहीं है. लेकिन स्व-पर्याय को (ज्ञान अवस्था को) प्रकाशता है। इस प्रकार ज्ञान का ही सब ओर चमत्कार है। और ज्ञान वो ही आत्मा की विशिष्टता है।।३३२।।

(आत्मधर्म गुजराती. वर्ष १. अंक १०-११. भाद्रपद २०००, पर्यूषण अंक. पृष्ठ नं. १८०)

★ कुछ विद्वान कहते हैं—जो आत्मा को पर का कर्ता न माने वह दिगम्बर जैन नहीं है। अरे प्रभु ! यह तू क्या कहता है ? ये दिगम्बराचार्य क्या कहते हैं ? यह तो देख। अहाहा... ! तू कर्त्ता तो नहीं परन्तु वास्तव में तो पर का जाननेवाला भी नहीं है। जाननेवाली पर्याय जाणक को-जाणनार को जानती हुई सत्पने उत्पन्न होती है।।३३३।।

(गुजराती अध्यात्म प्रवचन रत्नत्रय. पृष्ठ १२६ में से)

★ अज्ञानी कहते हैं कि—जो परद्रव्य का कर्त्ता न माने वह दिगम्बर नहीं। जबकि यहाँ दिगम्बर आचार्य कहते हैं कि जो **अपने को परका जाननेवाला भी माने वह दिगम्बर जैन नहीं है**। बहुत फरक है भाई ! परन्तु मार्ग तो ऐसा है प्रभु ! तू स्वभाव से ही भगवान स्वरूप है, तेरी शक्ति में अन्य की जरूरत नहीं है। तेरे को जानने में या परको जानने में परकी जरूरत नहीं है परन्तु तुझे स्वयं को जानने में तेरी शक्ति की जरूरत है (और वह तो तुझमें है ही), अब इसमें विषय और कषाय का रस कहाँ रहा ? विषय कषाय का भाव तो परज्ञेय है, तेरा इससे कुछ सम्बन्ध नहीं है। वह तेरे में तो नहीं है लेकिन तेरा ज्ञेय भी नहीं है।।३३४।।

(गुजराती अध्यात्म प्रवचन रत्नत्रय, पृष्ठ नं. १७६)

★ क्या कहते हैं ? कि विशेष को देखनेवाली पर्यायार्थिक चक्षु बन्द कर

दे। अहाहा... ! पर को देखने का बन्द कर दे यह बात तो एक तरफ रही (-वो बात है ही नहीं) क्योंकि स्वयं के सिवाय दूसरे जो पदार्थ हैं चाहे फिर वह तीन लोक के नाथ भगवान हों तो भी, उसको देखनेवाली जो दृष्टि है वह कोई पर्यायार्थिक दृष्टि या द्रव्यार्थिक दृष्टि नहीं है। मात्र अपने में दो प्रकार हैं। एक सामान्यपना—कायम रहने वाला और दूसरा—विशेषपना—पलटने वाला; और उसको देखने वाली दो आँखें हैं। अब उस विशेष को देखनेवाली आँख को बिल्कुल (सर्वथा) बंद करके, खोली हुई द्रव्यार्थिक आँख के द्वारा देख, ऐसा कहते हैं। बहुत गजब बात है। थोड़े शब्दों में बहुत भरा है। अहो ! बहुत ऊँची बात है।।३३५।।

(गुजराती अध्यात्म प्रवचन रत्नत्रय, पृष्ठ १३५ में से)

★ यहाँ कहते हैं कि जब आत्मा को हमने ज्ञायक कहा—और वह ज्ञायक ज्ञायकपने जानने में आया तब—जाननहार को तो जाना लेकिन अब वह "जाननहार है" ऐसा कहने में आता है तो वह पर को भी जानता है ऐसा इसमें आया ने ? भाई ! वह पर को जानता है ऐसा भले कहने में आवे—तो भी वास्तव में तो जो पर है उसको वह जानता है—ऐसा नहीं है। अर्थात् पर है, रागादि होता है—उसको जो जानता है वो रागादि के कारण से जानता है—ऐसा नहीं है। परन्तु इस ज्ञान की पर्याय का स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य ही ऐसा है कि स्वयं स्वयं को जानता है। अर्थात् ज्ञायक (जाननहार पर्याय) ज्ञायक को (जाननहार पर्याय को) जानता है। यहाँ पर्याय की बात है। हों। क्योंकि द्रव्य को तो वह जानता ही है। अहा ! गजब बात है।।३३६।।

(श्री ज्ञायकभाव पुस्तक में से पृष्ठ ४९)

★ वस्तुस्वरूप चिदानंद प्रभु आत्मा ज्ञायकपने तो जानने में आया, लक्ष में आया दृष्टि में आया परन्तु उसे जाननेवाला—स्वपर प्रकाशक कहते

हैं, तो 'वह पर को जानने वाला है' ऐसा भी उसमें आया। अर्थात् स्व को तो जाना, लेकिन अब पर को जानना भी उसमें आया तो कहते हैं कि—**पर को जानना ये उसमें नहीं आया**। परन्तु पर सम्बन्धी का ज्ञान कि जो अपने को अपने से हुआ है ऐसे ज्ञायक को ज्ञान ने जाना है। इसलिए पर्याय ने ज्ञान को जाना है, इस जाननहार की पर्याय को उसने जाना है। समझ में आया कुछ ? बहुत कठिन काम है बापू ! क्योंकि वीतराग सर्वज्ञ का मार्ग ही ऐसा है।।३३७।।

(श्री ज्ञायक भाव पुस्तक में से पृष्ठ ४९-५०)

★ यहाँ कहते हैं कि 'ज्ञेयाकार अवस्था में'... ज्ञेय को-राग को जानने की अवस्था में भी ज्ञायकपने जो जानने में आया है वह ज्ञायक की पर्यायपने जानने में आया है लेकिन राग की पर्याय तरीके जानने में नहीं आया है। तो कहते हैं कि 'ज्ञेयकृत अशुद्धता उसको नहीं है' मतलब ? कि शरीर की क्रिया और राग होता है उस समय उस प्रकार का ज्ञान स्वयं परिणमता है और उसको (ज्ञान को) जानता है, फिर भी वह ज्ञेयकृत अशुद्धता—पराधीनता ज्ञान के परिणमन को नहीं है। अब कहते हैं कि यह ज्ञान का परिणमन जो हुआ है उस ज्ञेयाकार अवस्था में ज्ञायकपने जो जानने में आया'—मतलब कि उसमें वह जाननहार ही जानने में आया है ! (जाणनारो जणायो छे) परन्तु जनाय ऐसी चीज जानने में नहीं आती है ! जो जनाती है—वो चीज जानने में नहीं आई है। परन्तु **वह जाननहार ही वहाँ जानने में आया है**। ऐसी गूढ़ अलौकिक बात है भाई।।३३८।।

(श्री ज्ञायक भाव पुस्तक में से पृष्ठ ५२)

★ अहा ! जिसने अनन्त सिद्धों को अपनी पर्याय में स्थापित किया है और जिसको ज्ञान का—ज्ञायक का ज्ञान हुआ है उसका ज्ञान राग को और शरीर को भी जानता है परन्तु इससे उसे ज्ञेयकृत-प्रमेयकृत

अशुद्धता—नहीं हुई। क्योंकि वह तो ज्ञायक की पर्याय को ही जानता है। अहा ! राग को जानने के काल में राग के आकार का जो ज्ञान हुआ है वह राग के कारण से (राग के आकार रूप) नहीं हुआ है। परन्तु उस समय ज्ञान पर्याय का ही अपना ज्ञानाकार होने का स्वभाव होने से इस प्रकार हुआ है। **इसलिए, उस समय राग जानने में नहीं आया** परन्तु जाननहार की पर्याय को उसने जाना है! समझ में आया कुछ... ?।।३३९।।

(श्री ज्ञायक भाव पुस्तक में से पृष्ठ ५३)

★ यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा को जब उसने सर्वज्ञपने स्थापित किया और जब उसको सर्वज्ञ स्वभाव का भान हुआ तब उसने स्व को—जाननहार को—तो जाना। परन्तु (क्या) उस समय उसने पर को जाना है ? भाई ! उस समय भी उसने जाननहार की पर्याय को ही जाना है, जाननहार की पर्याय तरीके ही वह जानने में आया है। परन्तु राग की पर्याय तरीके जानने में आया है—अथवा राग की पर्याय है इसलिए उसको जाना है—ऐसा नहीं है। भगवान की, परमात्मा की वाणी और मुनियों की वाणी में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि मुनियों आढतिया होकर सर्वज्ञ की वाणी को ही कहते हैं। लेकिन भाई ! इन बातों को तूने सुना नहीं है।।३४०।।

(श्री ज्ञायक भाव पुस्तक में से पृष्ठ ५४)

★ वह (आत्मा) अपनी पर्याय का जाननेवाला है। इसलिए केवली लोकालोक को जानते हैं—ऐसा भी नहीं है। परन्तु केवली अपनी पर्याय को जानते हैं। इसलिए पर्याय उनका कार्य है और कर्त्ता उनका ज्ञानस्वरूप है। अथवा पर्याय है—इस कारण से लोकालोक है और इसलिए यहाँ ज्ञान—केवलज्ञान हुआ है—ऐसा नहीं है।।३४१।।

(श्री ज्ञायकभाव पुस्तक में से पृष्ठ ५८)

★ यहाँ कहते हैं कि 'अन्य कोई नहीं है' वैसे ही ज्ञायक का समझना—इसका क्या मतलब है ? कि जाननहार भगवान आत्मा स्व को जानते ही, जिस पर्याय में स्व को जाना उसी पर्याय में पर को भी जाना। तो यह पर को जाननी हुई जो जानने की पर्याय हुई है वह अपने से ही हुई है। मतलब कि **वास्तव में तो उसने अपनी पर्याय को जाना है**। कारण कि उस पर्याय में कहीं ज्ञेय आया नहीं है। जैसे दीपक घट पट को प्रकाशता है तो कहीं दीपक के प्रकाश में घट पट आ नहीं गये हैं। दीपक के प्रकाश में वो घुसकर नहीं बैठ गये हैं। उसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्य दीपक-चंद्र-प्रभु-है—ऐसा जिसको राग से भिन्न होकर अन्दर में ज्ञान हुआ है अर्थात् आत्मा सर्वज्ञ स्वभावी है—ऐसा जहाँ भान हुआ, वहाँ अल्पज्ञ पर्याय में सर्वज्ञ स्वभाव का भान हुआ तो यह जो अल्पज्ञ पर्याय हुई वह सर्वज्ञ स्वभाव की है मतलब कि उसको जाननेवाली वह पर्याय ज्ञायक की पर्याय है। और वह पर्याय पर को जानती है तो भी वह ज्ञायक की पर्याय है। परन्तु वो पर की पर्याय है या पर के कारण हुई है—ऐसा नहीं है। अहा ! एक बार मध्यस्थ होकर सुने तो खबर पड़े। परन्तु आग्रह रखकर बैठा हो कि इससे ऐसा होता है—उससे वैसा होता है तो खबर नहीं पड़ेगी। अज्ञानी आग्रह रखकर बैठा है कि व्रत करने से संवर होता है और तपस्या करने से निर्जरा होती है लेकिन व्रत किसको कहना और निश्चयव्रत किसको कहना उसकी उसे खबर नहीं पड़ती।।३४२।।

(श्री ज्ञायकभाव पुस्तक में से पृष्ठ ६१-६२)

★ सभी अपने-अपने भावरूप से परिणमते हुए पदार्थ एक-दूसरे का कुछ नहीं कर सकते हैं। **ज्ञायक पर द्रव्य को जानता है ऐसा कहने में आता है वह मात्र उपचार से है**। निश्चय से तो ज्ञायक भी स्वयं, ज्ञान भी स्वयं, और ज्ञेय भी स्वयं ही है। सूक्ष्म बात है भाई ! पर को जानते समय भी वह अपनी ज्ञान की पर्याय को ही जानता है। अहाहा... !

ज्ञान की पर्याय के सामर्थ्य के द्वारा ही स्व और पर जानने में आते हैं। परज्ञेयों के कारण से ज्ञान कभी भी नहीं होता है। लो, कहते हैं—निश्चय से ज्ञायक तो बस ज्ञायक ही है; अर्थात् ज्ञायक स्वयं को ही—अपने द्रव्य गुण-पर्याय को ही जानता हुआ ज्ञायक है। ऐसी बात है।।३४३।।

(श्री गुजराती प्रवचनरत्नाकर, भाग ९, पृष्ठ ३४१ अंतिम पैराग्राफ)

★ आचारांग आदि शब्दश्रुत वह ज्ञान है—ऐसा पहले व्यवहार से कहा, लेकिन अभी शुद्धात्मा ज्ञान है ऐसा निश्चय कहा। ऐसा क्यों कहा? क्योंकि **व्यवहार ज्ञान में शब्दश्रुत निमित्त है**, उसमें शब्दश्रुत जानने में आया लेकिन आत्मा जानने में नहीं आया; इसलिए उसे व्यवहार कहा। और सत्यार्थ ज्ञान में—निश्चय ज्ञान में भगवान आत्मा परिपूर्ण जानने में आया; इसलिए उसको निश्चय कहा। उसको भगवान आत्मा का आश्रय है ने? और भगवान आत्मा इसमें पूरा जानने में आता है ने? इसलिए वह निश्चय है, यथार्थ है। अहो! आचार्य देव ने अमृत पिलाया है। भाई! इसमें तो शास्त्र-ज्ञान का मद—अभिमान उतर जाये—ऐसी बात है। शास्त्र-ज्ञान—शब्दश्रुतज्ञान तो विकल्प है बापू! **यह तो वास्तव में बंध का कारण है भाई**!।।३४४।।

(श्री गुजराती प्रवचनरत्नाकर, भाग ८, पृष्ठ २७१, मध्यम पैराग्राफ)

★ **प्रश्न** : सम्यग्दृष्टि को खंडज्ञान और अखंडज्ञान दोनों एक साथ होते हैं?

उत्तर : सम्यग्दृष्टि को अखंड की दृष्टि है और खण्ड-खण्ड ज्ञान ज्ञेयरूप है। एक ज्ञान पर्याय में दो भाग हैं। जितना स्वलक्षी ज्ञान है वह सुखरूप है जितना परलक्षी परसत्तावलंबी ज्ञान है वह दुःखरूप है। परतरफ का श्रुत का ज्ञान इन्द्रियज्ञान है, परज्ञेय है, परद्रव्य है। अहाहा! देव गुरु तो परद्रव्य हैं लेकिन इन्द्रियज्ञान भी परद्रव्य है। आत्मा का ज्ञान

वही वास्तविक ज्ञान है।।३४५।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १३४, बोल नं. ४८१)

★ **प्रश्न** : ज्ञेय को जानने से राग-द्वेष होता है या इष्ट अनिष्ट बुद्धि करने से राग-द्वेष होता है?

उत्तर : परज्ञेय को जानने गया (पर के सन्मुख होना) वही राग है। वास्तव में पर को जानने के लिए जाना नहीं पड़ता।।३४६।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १३५, बोल नं. ४८४)

★ पर की ओर झुकी हुई ज्ञान की पर्याय में भी वास्तव में तो ज्ञायक ही जानने में आ रहा है। यह बात आचार्य देव ने गाथा १७-१८ (समयसार) में कही है। ज्ञान की पर्याय का स्वपरप्रकाशकपने का स्वभाव है। इसलिए वर्तमान ज्ञान पर्याय में जो यह वस्तु त्रिकाल परम पारणामिक भाव से स्थित है वह जानने में आती है। अज्ञानी को भी वह त्रिकाली द्रव्य ज्ञान में जानने में आता है। लेकिन उसकी नजर उसके ऊपर नहीं है। दृष्टि का फर्क है बापा! ध्रुव की दृष्टि करने के बदले वह अपनी नजर पर्याय ऊपर, राग ऊपर, निमित्त ऊपर और बाहर के पदार्थों के ऊपर रखता है इसलिए उसे अन्दर का चैतन्य-निधान देखने को नहीं मिलता है।।३४७।।

(अध्यात्म प्रवचन रत्नत्रय, पृष्ठ ९७, दूसरा पैराग्राफ)

★ तो भी ज्ञेय पदार्थों के कारण से ज्ञान परिणमित हुआ है—ऐसा नहीं है। ज्ञेयकृत अशुद्धता उसे नहीं है। पर के कारण से ज्ञान ज्ञेयाकाररूप होता है—ऐसा नहीं है। परन्तु अपने परिणमन की योग्यता से अपना ज्ञानाकार अपने से हुआ है।।३४८।।

(श्री गुजराती प्रवचनरत्नाकर, भाग-१, पृष्ठ ९७,
गाथा ६ की टीका ऊपर का प्रवचन)

★ ज्ञायकभाव के लक्ष से जो ज्ञान का परिणमन हुआ उसमें स्व का ज्ञान

हुआ और जो ज्ञेय हैं, उनका ज्ञान हुआ, वह अपने कारण से हुआ है। जो ज्ञेयाकार अवस्था में ज्ञायकपने जानने में आया वह अपने स्वरूप को जानने की अवस्था में भी दीपक की तरह कर्ताकर्म का अनन्यपना होने से ज्ञायक ही है। स्वयम् जाननेवाला इसलिए स्वयम् कर्ता और स्वयम् को ही जाना इसलिए स्वयम् ही कर्म। ज्ञेय को जाना ही नहीं है परन्तु ज्ञेयाकार हुए स्वयम् के ज्ञान को जाना है। अहाहा... ! वस्तु तो सत्, सहज और सरल है, लेकिन इसका अभ्यास नहीं है इसलिए कठिन पड़ती है, क्या हो ?।।३४९।।

(श्री प्रवचन रत्नाकर, भाग-१, गाथा-६ की टीका ऊपर का प्रवचन, पृष्ठ ९८ पैराग्राफ २)

★ ज्ञायक ज्ञानरूप परिणमता है, वह ज्ञेयाकार रूप परिणमता है ऐसा है ही नहीं है। यह ज्ञायकरूपी दीपक दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा इत्यादि परिणाम जो ज्ञेय हैं उनको जानने के काल में भी ज्ञानरूप रहकर ही जानता है। अन्य ज्ञेयरूप नहीं होता। ज्ञेयों का ज्ञान वह तो ज्ञान की अवस्था है, ज्ञेय की नहीं। ज्ञान की पर्याय ज्ञेय को जाननपने हुई इसलिए उसे ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है। साक्षात् तीर्थंकर भगवान सामने हों और उस प्रकार के जानने के आकाररूप ज्ञान का परिणमन होवे तो वह ज्ञेय के कारण हुआ है—ऐसा नहीं है। उस समय ज्ञान का परिणमन स्वतंत्र अपने से ही है, पर के कारण नहीं हुआ है। भगवान को जानने के काल में भी भगवान जानने में आये हैं ऐसा नहीं है। परन्तु वास्तव में तत् सम्बन्धी अपना ज्ञान जानने में आया है। आत्मा जाननहार है—वह जानता है, तो वह पर को जानता है कि नहीं ? तो कहते हैं कि पर को जानने के काल में भी स्व का परिणमन—ज्ञान का परिणमन अपने से हुआ है, पर के कारण नहीं। यह शास्त्र के शब्द जो ज्ञेय है उस ज्ञेय के आकाररूप ज्ञान होता है परन्तु वह ज्ञेय है इसलिए यहाँ ज्ञान का

परिणमन हुआ है ऐसा तीन काल में नहीं है। उस समय ज्ञान के परिणमन की लायकात से अर्थात् ज्ञेय का ज्ञान होने की अपनी लायकात से ज्ञान हुआ है।

ज्ञान ज्ञेय के आकार रूप परिणमता है वह ज्ञान की पर्याय की अपनी लायकात से परिणमता है। ज्ञेय है इसलिए परिणमता है—ऐसा नहीं है।।३५०।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर भाग-१, पृष्ठ ९८, गाथा ६ की टीका ऊपर का प्रवचन)

★ जैसे दर्पण होय उसके सामने जैसी चीज कोयला, श्रीफल, वगैरहा होय वैसी चीज वहाँ दिखे—इस रूप दर्पण परिणमा है। यह दर्पण की अवस्था है। अन्दर दिखता है वो कोयला या श्रीफल नहीं है। ये तो दर्पण की अवस्था दिखती है। वैसे ही ज्ञान की पर्याय में शरीरादि ज्ञेय दिखाई देते हैं वहाँ वह ज्ञान की पर्याय—अपनी है, वह शरीरादि पर के कारण से हुई है—ऐसा नहीं है; क्योंकि जैसा ज्ञेय ज्ञान में प्रतिभासित हुआ वैसे ही ज्ञायक का ही अनुभव करने पर ज्ञायक ही है। जाननहार जाननहारपने ही रहा है ज्ञेयपने हुआ ही नहीं है। ज्ञेय पदार्थ का जो ज्ञान हुआ वह ज्ञान अपना अपने से ही है ज्ञेय से नहीं है।।३५१।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-१, पृष्ठ १०२, पैराग्राफ ३)

★ "यह मैं जाननहार हूँ सो मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं है।" ज्ञेय पदार्थ का ज्ञान हुआ वहाँ जाननहार सो मैं हूँ, ज्ञेय वो मैं नहीं हूँ ऐसा अपने को अपना अभेदरूप अनुभव हुआ ! तब इस जाननरूप क्रिया का कर्ता स्वयं ही है और जिसको जाना वह कर्म भी स्वयं ही है। ज्ञान की पर्याय ने त्रिकाली द्रव्य को जाना तब ज्ञेय को भी साथ में जाना ? तो ज्ञेय को नहीं, स्वयं की पर्याय को स्वयं ने जाना है। जानन क्रिया का कर्ता भी स्वयं और

जानने रूप कर्म भी स्वयं ऐसे एक ज्ञायकपने मात्र स्वयं शुद्ध है। यह 'शुद्ध' जानने में आया पर्याय में इस प्रकार इसे शुद्ध कहने में आता है। जाने बिना शुद्ध किसको कहना?।।३५२।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-१, गाथा-६, पृष्ठ १०२, पैराग्राफ ४)

★ राग द्वारा ज्ञान का अनुभव वास्तव में तो सामान्य का विशेष है, फिर भी अज्ञानी मानता है कि यह राग का विशेष है। ये दृष्टि का फेर है। समयसार गाथा १७-१८ में आता है कि—आबाल गोपाल सबको राग, शरीर, वाणी जिस समय दिखायी देते हैं उसी समय वास्तव में ज्ञान की पर्याय जानने में आती है, लेकिन ऐसा नहीं मानना, और मुझे यह जानने में आया, राग जानने में आया यह मान्यता विपरीत है। इसी प्रकार ज्ञान पर्याय है तो सामान्य का विशेष, लेकिन ज्ञेय द्वारा ज्ञान होने पर (ज्ञेयाकार ज्ञान होने पर) अज्ञानी को भ्रम हो जाता है कि यह ज्ञेय का विशेष है, ज्ञेय का ज्ञान है। वास्तव में तो जो यह ज्ञान पर्याय है वो सामान्य ज्ञान का ही ज्ञान-विशेष है, परज्ञेय का ज्ञान नहीं है। परज्ञेय से भी नहीं है।।३५३।।

(श्री प्रवचन रत्नाकर, भाग-१, गाथा-१५, पृष्ठ २६५, पैराग्राफ ३)

★ "जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबाल गोपाल सबको सदाकाल स्वयं ही अनुभव में आता होने पर भी" देखो क्या कहते हैं? आबाल-गोपाल सबको अर्थात् छोटे से लेकर बड़े सभी जीवों को जानने में तो सदाकाल (निरन्तर) अनुभूतिस्वरूप—ज्ञायकस्वरूप निज आत्मा ही आता है (अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा त्रिकाली का विशेषण है। ज्ञायकभाव को यहाँ अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा कहा है!) आबाल-गोपाल सबको जाननक्रिया द्वारा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा ही जानने में आ रहा है। जाननक्रिया द्वारा सबको जाननहार ही जानने में आता है। (अज्ञानी को भी समय-समय ज्ञान की पर्याय में अपना ज्ञानमय आत्मा जो

उर्ध्वपने जानने में आ रहा है। जानपना निज आत्मा का है, फिर भी यह है सो मैं ही हूँ ऐसा अज्ञानी को नहीं होता ! अज्ञानी पर की रुचि के कारण, ज्ञान में अपना ज्ञायक भाव जानने में आने पर भी उसका तिरोभाव करता है। और ज्ञान में वास्तव में जो जानने में नहीं आते ऐसे रागादि परज्ञेयों का आविर्भाव करता है)।।३५४।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, पृष्ठ ३३, गाथा १७-१८, पैराग्राफ २)

★ अहाहा... ! ऐसे तो सदाकाल सबको स्वयं ही अर्थात् कि आत्मा ही जानने में आता है। (अज्ञानी कहते हैं कि आत्मा कहाँ जानने में आता है ? और यहाँ ज्ञानी कहते हैं कि सब आत्माओं को अपना आत्मा ही जानने में आता है। लेकिन अज्ञानी इसका स्वीकार नहीं करता है।) पुण्य, पाप आदि जो विकल्प हैं वह अचेतन और पर हैं इसलिए उर्ध्वपने ज्ञान की पर्याय में वो जानने में नहीं आते परन्तु जाननहार ही जानने में आता है। (जाणनार ज जणाय छे)।।३५५।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, पृष्ठ ३३, गाथा १७-१८, पैराग्राफ ३)

★ इस प्रकार सबको स्वयं ही (आत्मा ही) अनुभव में आने पर भी अनादि बंध के वश अर्थात् अनादि बंध के कारण ऐसा नहीं परन्तु अनादि बंध के (खुद) वश होता है इसलिए; यह जाननहार-जाननहार-जाननहार वो तो मैं ही हूँ ऐसा नहीं मानता हुआ, राग मैं हूँ ऐसा मानता है। अनादि बंध के वश—मतलब कर्म के कारण—ऐसा नहीं है।

यह एक सिद्धान्त है कि कर्म है इसलिए विकार होता है ऐसा नहीं है। अनादि बंध है उसके वश आत्मा होता है इसलिए विकार होता है। मतलब कि सबको जानन-जानन-जानन भाव कि जो जानने में आता है,

शरीर को, राग को, जानने पर भी जाननहार ही जानने में आता है—लेकिन यह अनुभूतिस्वरूप आत्मा मैं हूँ, यह जाननहार वह तो मैं ही हूँ, ऐसा अज्ञानी को (विश्वास) नहीं होता हुआ—बंध के वश पड़ा है। आत्मा के वश होना चाहिए उसके बदले कर्म के वश हो गया है।।३५६।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, गाथा १७-१८,
पृष्ठ ३३, पैराग्राफ ४)

★ इस प्रकार परपदार्थ और रागादि उनको अपने मानता है, परन्तु राग से भिन्न अनुभवरूप अपनी चीज जुदी है ऐसा भान नहीं होने से यह जाननहार जानने में आता है वो मैं ही हूँ ऐसा नहीं मानता है।।३५७।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, गाथा १७-१८,
पृष्ठ ३४, पैराग्राफ १)

★ भगवान आत्मा ज्ञायक ज्योति ध्रुव वस्तु है यह तो ज्ञायक स्वभाव रूप से परमपारिणामिक भाव रूप मे स्वभाव भावरूप से ही त्रिकाल है। राग के साथ द्रव्य एकरूप नहीं हुआ है; परन्तु जाननहार जिसमे जानने में आता है वह ज्ञान पर्याय लम्बाकार अन्दर में जाती नहीं है। जाननहार सदा ही स्वयं जानने में आ रहा है—ऐसी ज्ञान की पर्याय प्रकट होने पर भी यह अन्दर जाननहार वह मैं हूँ अर्थात् इस ज्ञान की पर्याय में जानने में आता है (जानने में आ रहा है) वो मैं हूँ—इस प्रकार अन्दर में न जाकर, कर्म के राग के वश पडा हुआ बाहर में जो राग दिखता है वो मैं हूँ—ऐसा मानता है। आहा ! आचार्य देव ने सादी भाषा में मूल बात रख दी है। त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर और गणधरों की वाणी की गम्भीरता की क्या बात !!! पंचम काल के संतों ने इतने में तो सम्यक्दर्शन प्राप्त करने की कला और मिथ्यादर्शन कैसे प्रकट हो जाता है, उसकी बात की

है।।३५८।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, गाथा १७-१८,
पृष्ठ ३४, पैराग्राफ ३)

★ यहाँ कहते हैं कि यह जाननहार... जाननहार... जाननहार—यह जो जानन क्रिया के द्वारा जानने में आता है वह मैं हूँ—ऐसे अन्दर में न जाकर—ज्ञान में प्रतिभासता है जो राग उसके वश होकर राग वो मैं हूँ—ऐसा अज्ञानी ने माना है। इसलिए इस अनुभूति में जानने में आता है वो ज्ञायक मैं हूँ—ऐसा आत्मज्ञान उदय को प्राप्त नहीं होता।।३५९।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, गाथा १७-१८,
पृष्ठ ३५, पैराग्राफ ३)

★ मैं ज्ञायक हूँ। यह जाननहार है वही जानने में आता है। जानने मे आता है वह ज्ञायक वस्तु है—ऐसा ज्ञान नहीं होने पर जानने की पर्याय में जो अचेतन राग प्रतिभासता है वही मैं हूँ—ऐसा मानता है। दया, दान, भक्ति का विकल्प है वह जड़ है उसका ज्ञान में प्रतिभास होने पर यह मैं हूँ ऐसा मानने वाले को—इनसे रहित मैं आत्मा हूँ—ऐसा ज्ञान प्रकट नहीं होता। और इस आत्मज्ञान के अभाव में नहीं जाने हुए का श्रद्धान गधे के सींग के समान होता है। जैसे मानो कि 'गधे के सींग' परन्तु जहाँ गधे के सींग होते ही नहीं हैं तो किस प्रकार माने जायें? इसी प्रकार भगवान आत्मा जानने की पर्याय में जानने में आता है वह मैं हूँ—ऐसा नहीं मानकर राग मैं हूँ ऐसा मानता है उसे आत्मा का ज्ञान नहीं है। और इस आत्मा का ज्ञान नहीं होने से उसकी श्रद्धा भी 'गधे की सींग' के समान है।।३६०।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, गाथा १७-१८,
पृष्ठ ३६, पैराग्राफ २)

★ जो यह ज्ञान की पर्याय है, इसमें राग नहीं होने पर भी इसमें राग है ऐसा जिसने जाना और माना है तथा जो पर्याय ज्ञायक की है उसमें जो यह ज्ञायक जानने में आता है वह मैं हूँ ऐसा जानने के बदले जानने की पर्याय में जो राग प्रतिभासता है वह मैं हूँ ऐसा मानने वाला आत्मज्ञान बिना का मिथ्यादृष्टि है।।३६१।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, गाथा १७-१८, पृष्ठ ३६, पैराग्रफ २)

★ यहाँ कहते हैं कि जानने की पर्याय में जो जाननहार जानने में आता है वह मैं हूँ ऐसा अन्दर में जाने के बदले बाहर में जो परज्ञेयरूप राग प्रतिभासता है वह मैं हूँ इस प्रकार वश में होते हुए उस अज्ञानी मूढ़ जीव को आत्मज्ञान नहीं होता। इसलिए आत्मा को जाने बिना श्रद्धान किस प्रकार हो सकता है ? जो वस्तु ही ख्याल में नहीं आई है उसको (यह आत्मा इस प्रकार है) तो मानने में किस प्रकार आवे ? भाई ! यह तो संसार का नाश कैसे होवे—उसकी बात है। अहो ! यह समयसार अद्वितीय चक्षु है, अजोड़ आँख है। भरत क्षेत्र की केवलज्ञान की आँख है। जगत् का भाग्य है कि यह समयसार रह गया।।३६२।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, गाथा १७-१८, पृष्ठ ३६, पैराग्राफ ५)

★ यह जाननहार जानने में आता है (जाणनारो जणाय छे) ऐसे आत्मज्ञान के अभाव के कारण यह जाननहार ज्ञायक है वही मैं हूँ ऐसा श्रद्धान भी उदित नहीं होता है। उसको सम्यक्त्व भी नहीं होता है। राग में एकत्व बुद्धि के कारण नहीं जाने हुए भगवान ज्ञायक स्वरूप आत्मा का उसको श्रद्धान—सम्यक्दर्शन नहीं होता है। तब समस्त अन्य भावों के भेद से (भिन्नता से) आत्मा में निशंक स्थिर होने में असमर्थ है। राग से

भिन्न ऐसा आत्मज्ञान और श्रद्धान नहीं हुआ इसलिए जिसमें लीन होना है (स्थिर होना है) उसको तो जाना नहीं। इस कारण राग से भिन्न होकर आत्मा में स्थिर होने में असमर्थ होने से यह राग में ही लीन रहेगा। मिथ्यादृष्टि चाहे जितना शुभभाव रूप क्रियाकाण्ड करे, मुनिपणा धारण करे, और व्रत नियम पाले तो भी ये राग में ही ठहरेगा। आत्मज्ञान—श्रद्धान बिना ये सब राग की क्रिया में रमता है।।३६३।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, गाथा १७-१८, पृष्ठ ३७, पैराग्राफ २)

★ जैसे रूपी दर्पण की स्वपर के आकार को प्रतिभासनारी स्वच्छता ही है और उष्णता तथा ज्वाला अग्नि की है... क्या कहते हैं ? जब दर्पण के सामने अग्नि हो तब दर्पण में जो प्रतिबिम्ब (अग्नि जैसा आकार) दिखता है वह दर्पण की स्वच्छता की पर्याय है, लेकिन अग्नि की पर्याय नहीं है। जो बाह्य में ज्वाला और उष्णता है वह अग्नि की है परन्तु दर्पण में जो प्रतिबिम्ब दिखाई देता है वह तो दर्पण की—स्व-पर के आकार के स्वरूप को प्रतिभासनारी स्वच्छता ही है।

उसी प्रकार अरूपी आत्मा की तो स्व और पर को जाननेवाली (प्रतिभासनारी) ज्ञातृता (ज्ञातापना) ही है। और कर्म तथा नोकर्म पुद्गल के हैं। क्या कहते हैं ? राग, दया, दान, पुण्य-पाप आदि जो विकल्प उसके आकाररूप अर्थात् ज्ञेयाकार रूप ज्ञान हुआ यह तो ज्ञान की पर्याय है, परन्तु राग की पर्याय नहीं है। जैसे अग्नि की पर्याय अग्नि में रहती है, लेकिन उसका आकार (प्रतिबिम्ब) जो दर्पण में दिखाई देता है वह अग्नि की पर्याय नहीं है लेकिन यह तो दर्पण की स्वच्छता की आकृति की पर्याय है। उसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है। यह ज्ञेयाकार स्व का ज्ञान करते हैं और दया, दान, व्रत आदि विकल्प का ज्ञान करते हैं। जो यह पर

का ज्ञान होता है वह अपनी पर्याय में होता है। यह पर का ज्ञान पर में तो नहीं होता परन्तु पर के कारण भी नहीं होता। अपने ज्ञान की स्वच्छत्व शक्ति के कारण होता है।।३६४।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, गाथा १९, पृष्ठ ५४, पैराग्राफ २)

★ स्व का ज्ञान होना और पर-राग का ज्ञान होना यह तो अपनी ज्ञानपरिणति का स्वपरप्रकाशक स्वभाव है। राग है तो राग का ज्ञान हुआ है—ऐसा नहीं है। परन्तु उस समय अपनी ज्ञान की पर्याय स्वयं राग के ज्ञेयाकार रुप परिणमती हुई ज्ञानाकार रूप हुई है। वह अपने से हुई है, अपने में हुई है। पर से (ज्ञेय से) नहीं। अरूपी आत्मा की तो स्वयं को और पर को जाननेवाली ज्ञातृता है। यह ज्ञातृता अपनी है, अपने से सहज है, राग से नहीं, और राग की भी नहीं। यह राग है तो वह ज्ञातृता (जानपना) है—ऐसा नहीं है। वस्तु का सहज स्वरूप ही ऐसा है। अहो ! आचार्य देव ने मीठी मधुर भाषा में वस्तु भिन्न करके बताई है।।३६५।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२ गाथा १९, पृष्ठ ५४, पैराग्राफ ३)

★ अपनी ज्ञान की पर्याय अपने को जानती है और राग को जानती है। राग है नो जानती है—ऐसा नहीं है; परन्तु उस समय अपनी ज्ञान पर्याय ही ऐसी स्वपरप्रकाशक प्रकट होती है।।३६६।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, गाथा १९ पृष्ठ ५५, पैराग्राफ १)

★ स्व-पर का प्रतिभास होना यह अपना सहज सामर्थ्य है। पर है तो पर का प्रकाश होता है—ऐसा नहीं है। आत्मा की तो स्व-पर को प्रकाशनारी ज्ञातृता है।।३६७।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, गाथा १९, पृष्ठ ५५, पैराग्राफ २)

★ चैतन्य बिम्ब विराजमान है ने अन्दर। उसमें—सामने की जो चीज है उस प्रकार के (ज्ञेय के) ज्ञानरूप परिणमना, उसको जानना यह तो

पर्याय का उस क्षण का धर्म है। वास्तव में तो ये ज्ञेय सम्बन्धी अपनी जो ज्ञान की परिणति उसको ये जानता है। ये सब (अज्ञानी) कहते हैं कि देव गुरु की भक्ति करो उसमें से मार्ग मिल जायेगा। यहाँ कहते हैं कि भक्ति यह राग है। ये राग जो होता है उसी समय का ज्ञान स्व और पर को जानता हुआ परिणमे ऐसी पर्याय की ताकत से वह राग को जान रहा है। राग को जान रहा है—यह भी व्यवहार से है। निश्चय से तो राग सम्बन्धी ज्ञान और आत्मा सम्बन्धी ज्ञान को जान रहा है। मूल बात—प्रथम दशा समझ में आवे नहीं तो फिर चारित्र और व्रत कहाँ से आवे ? मूल इकाई बिना शून्य किस काम के ?।।३६८।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, गाथा १९, पृष्ठ ५६, पैराग्राफ ३)

★ ज्ञान का निश्चय से स्वप्रकाशक स्वभाव होने से, ज्ञायक इसमें जानने में ही आ रहा है। परन्तु अज्ञानी की दृष्टि ज्ञायक के ऊपर नहीं है। पर्यायबुद्धि से पुण्य-पाप का करना और साता-असाता रूप सुख-दुःख को भोगना यही जीव है—ऐसा अज्ञानी मानते हैं।।३६९।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-३, गाथा ३९ से ४३,
पृष्ठ १३, पैराग्राफ १)

★ वास्तव में तो सर्वज्ञपना वो आत्मज्ञपना है। केवलज्ञान की पर्याय का स्वभाव ही इतना और ऐसा है कि वह स्व और पर को सम्पूर्ण प्रकाशे ! लोकालोक है तो पर्याय में उसका ज्ञान होता है ऐसा नहीं है। पर्याय का यह सहज ही स्वभाव है कि वह समस्त विश्व को जाने। स्वपरप्रकाशकपने का सामर्थ्य स्वयं से ही प्रकट हुआ है। अरिहंत देव विश्व को साक्षात् देखते हैं अर्थात् कि अपनी पर्याय में पूर्णता को देखते हैं। जैसे रात्रि के समय सरोवर के पानी में तारा, चंद्र वगैरहा दिखते हैं (प्रतिमासते हैं) वह वास्तव में तो पानी की ही अवस्था दिखायी देती है।

इस प्रकार ज्ञान वास्तव में ज्ञान को ही सम्पूर्ण जान रहा है।।३७०।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-३, गाथा ४४, पृष्ठ २०, पैराग्राफ ३)

★ केवलज्ञान लोकालोक को जानता है ऐसा कहना यह तो असद्भूत व्यवहारनय का विषय है। वास्तव में तो अपनी पर्याय को ही जानते हैं। श्री समयसार कलश टीका कलश २७१ में आता है कि—'मैं ज्ञायक और समस्त छह द्रव्य मेरा ज्ञेय ऐसा तो नहीं है। तो कैसा है ? कि ज्ञाता स्वयं, ज्ञान स्वयं और ज्ञेय स्वयं ही है। यहाँ कहते हैं कि शब्द का ज्ञान शब्द के कारण नहीं हुआ है। शब्द की पर्याय का ज्ञान आत्मा में अपने कारण से हुआ है। और जो यह शब्द की पर्याय है वह आत्मा से होती है ऐसा नहीं है। क्योंकि आत्मा पुद्गल द्रव्य से भिन्न है। इस प्रकार शब्द की पर्याय ज्ञायक स्वभावी आत्मा में विद्यमान नहीं है। इसलिए आत्मा अशब्द है। अहो ! क्या गजब भेदज्ञान की बात है।।३७१।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-३, गाथा ४९, पृष्ठ ६५, पैराग्राफ ४)

★ 'शब्द का ज्ञान' यह तो निमित्त से कहा है। वास्तव में तो यह ज्ञान का ज्ञान है; लेकिन यह ज्ञान शब्द सम्बन्धी का है इतना बताने के लिए 'शब्द का ज्ञान' ऐसा कहा है। शब्द वह तो ज्ञेय है और शुद्ध आत्मा ज्ञायक है।।३७२।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-३, गाथा ४९, पृष्ठ ६६, पैराग्राफ ५)

★ यह स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब परिवार, धंधा व्यापार इत्यादि ज्ञान में दिखते हैं न ? कहते हैं कि वे ज्ञानस्वरूप में नहीं हैं। वास्तव में तो वे पदार्थ नहीं, अपितु उस समय उसकी अपनी ज्ञान की पर्याय जानने में आती है। परन्तु ये मानता है कि मुझे ये (पर) पदार्थ जानने में आते हैं। 'उसी समय यह मेरा ज्ञान जानने में आता है'—ऐसा माने तो ज्ञान की पर्याय द्रव्य के

ऊपर ढल जाती है (द्रव्यदृष्टि हो जाती है)।।३७३।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग १०, परिशिष्ट पृष्ठ ३५७, श्लोकार्थ २४७)

★ यहाँ अमृतचन्द्राचार्य महाराज उदाहरण देकर कहते हैं कि—प्रथम तो आत्मा को जानना। जानना अर्थात् स्वसंवेदन ज्ञान से उसको जानना। शास्त्र से जानना, धारणा से जानना या गुरु ने बताया है इसलिए जानना ऐसा नहीं। परन्तु शुद्ध ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा को पर्याय में ज्ञेय बनाने से, पर्याय में जो ज्ञान होता है उस स्वसंवेदन ज्ञान से आत्मा को जानना। तब आत्मा को जाना ऐसा कहा जाता है। ज्ञाताद्रव्य का पर्याय में ज्ञान होता है वहाँ द्रव्य पर्याय में आता नहीं है, बल्कि पर्याय में ज्ञाताद्रव्य का पूरा ज्ञान होता है। आत्मा को जानना इसका अर्थ ऐसा है कि एक समय की ज्ञान पर्याय में यह ज्ञेय पूर्ण अखण्ड ध्रुव शुद्ध प्रभु जैसा है वैसा परिपूर्ण जानने में आवे तब आत्मा को जाना ऐसा कहा जाता है। ऐसी बात है भाई ! दुनिया अनेक प्रकार से विचित्र है। उसके साथ मेल करने जायेगा तो मेल नहीं होगा।।३७४।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, गाथा १७-१८, पृष्ठ २७, पैराग्राफ अन्तिम)

★ भगवान की दिव्यध्वनि की संतों ने टीका की है। यहाँ टीका में प्रथम अर्थात् सबसे पहले 'आत्मा को जान' ऐसा लिया है। नौतत्व को जान, राग को जान यह बात यहाँ नहीं ली है। एक को जानता है वह सर्व को जानता है। ज्ञान की पर्याय में पूरा आत्मा ज्ञेयपने जानने में आवे और सबसे पहले यही करने का है।।३७५।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, गाथा १७-१८, पृष्ठ २७, पैराग्राफ १)

★ अभी, आत्मा और राग के बीच सांध है यह बात समझाते हैं। (मोक्ष अधिकार २९४ गाथा में संधि की बात है) यह बंध के वश होकर पर के साथ एकपने के निश्चय से—"**जाननहार—जाननहार जानने में आता है**" ऐसा नहीं जानता हुआ जाननहार की पर्याय वर्तमान कर्म सम्बन्ध के वश होकर (स्वतंत्रपने वश हुई) पर के साथ—राग और पुण्य के विकल्पों के साथ एकपने का अध्यास—निर्णय करता है। मैं राग ही हूँ ऐसा मानता है फिर भी एकपना होता नहीं है। राग और आत्मा के बीच में संधि है। (सांध है) राग का विकल्प और ज्ञानपर्याय इन दोनों के बीच में संधि है। जैसे बड़े पत्थर की खान होवे और उसमें पत्थर में पीली, लाल, सफेद रंग होती है। इन दोनों के बीच में संधि है इन पत्थरों को जुदा करना हो तो इस संधि में सुरंग डालने पर पत्थर उडकर अलग हो जायेगा। उसी प्रकार ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा और राग के बीच में संधि है। आहाहा. . ! वहाँ तो ऐसा कहा कि निःसंधि नही हुआ अर्थात दोनों एक नहीं हुए (दोनों के बीच में संधि होने पर भी दोनों एक नहीं हुए हैं।) लेकिन (दोनों के) एकपने के निश्चय से मूढ अज्ञानी उसे जो राग का विकल्प उठता है उसके वश होकर यही मैं हूँ, इस प्रकार परपदार्थ जो रागादि हैं उनको अपने मानता है, परन्तु राग से भिन्न अनुभव रूप अपनी वस्तु अलग है ऐसा भान नहीं होने से **यह जाननहार जानने में आता है वही मैं हूँ ऐसा नहीं मानता**।।३७६।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, गाथा १७-१८,
पृष्ठ ३४, पैराग्राफ १)

★ प्रवचनसार गाथा २०० में आता है कि ज्ञायकभाव कायम ज्ञायकपने ही रहा है। फिर भी अज्ञानी अन्य प्रकार से मैं यह राग हूँ, पुण्य हूँ—ऐसा अन्यथा अध्यवसाय करता है। भाई ! सूक्ष्म बात है। श्री जिनेन्द्र का मार्ग जुदा है। लोग तो बाहर में अकेले क्रियाकांड में—ये करना और वो करना

उसमें फँस गये हैं, रुक गये हैं। इसलिए कुछ हाथ नहीं आता। भगवान अमृतचंद्राचार्य टीकाकार कहते हैं कि प्रभु ! तू तो जाननहार स्वरूप सदा ही रहा है ने ? जाननहार ही जानने में आता है ने ? (जाणनार ज जणाय छे ने ?) आहाहा...! जाननहार ज्ञायक है वही जानने में आ रहा है—ऐसा नहीं मानता हुआ बंध के वश जो ज्ञान में पर रागादि प्रतिभासते हैं उनके साथ एकपने का निर्णय (अभिप्राय) करता हुआ मूढ जो अज्ञानी उसे ''**यह अनुभूति है वही मैं हूँ**''—ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता। सूक्ष्म बात है भाई ! यह टीका साधारण नहीं है। बहुत मर्म भरा हुआ है।।३७७।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-२, गाथा १७-१८,
पृष्ठ ३४, पैराग्राफ २)

★ अरे भाई ! तू दुःखी प्राणी अनादि का है। राग के-बंध के वश हुआ इसलिए दुखी है। यह निराकुल भगवान आनन्द का नाथ है। इसको पर्याय में—ज्ञान में जानने वाला मैं स्वयं ही हूँ, ऐसा नहीं जानता हुआ ज्ञान की पर्याय में पर के वश होता हुआ राग मैं हूँ—ऐसी मूढता उत्पन्न करता है। थोडे शब्दों में मिथ्यात्व कैसे हुआ और सम्यक्त्व कैसे होवे—उसकी बात की है।।३७८।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर भाग-२, गाथा १७-१८,
पृष्ठ ३५ पैराग्राफ १)

★ उसमें, पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बंद करके अकेले खोले हुए द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा जब अवलोकन करने में आता है, तब नारकपना, तिर्यञ्चपना, मनुष्यपना, देवपना और सिद्धपना—इन पर्यायों स्वरूप विशेषों में रहे हुए एक जीव सामान्य को ही देखने वाले और विशेषों को नहीं देखने वाले जीवों को ''वह सब जीवद्रव्य है'' ऐसा भासित होना

है।।३७९।।

(श्री अध्यात्म प्रवचनरत्नत्रय, प्रवचनसार गाथा ११४, पृष्ठ १२९, अन्तिम पैराग्राफ)

★ यहाँ कहते हैं... ''वास्तव में सर्ववस्तु सामान्य विशेषात्मक होने से वस्तु के स्वरूप को देखने वालों को अनुक्रम से (१) सामान्य और (२) विशेष को जानने वाले दो चक्षु हैं—(१) द्रव्यार्थिक और (२) पर्यायार्थिक पाठ में (गाथा में) तो इतना ही लिया है कि सामान्य-विशेष को अनुक्रम से देखो। लेकिन यहाँ टीका में एक साथ देखने की बात भी लेंगे।।३८०।।

(श्री अध्यात्म प्रवचन रत्नत्रय, पृष्ठ १३४, पैराग्राफ ४)

★ नो कहते हैं—'उसमें, पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बंद करके...' लो, यहाँ से शुरू किया है। द्रव्यार्थिक चक्षु को बंद करके—ऐसे शुरू नहीं किया। कहते हैं कि द्रव्य को देखने के लिए (द्रव्य दृष्टि के लिए)—पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बंद कर दे। गजब बात है भाई ! पर्याय है तो सही परन्तु उसको देखने वाली दृष्टि बंद कर दे—इस प्रकार बात शुरू की है। पहले यह तो कहा कि—सामान्य-विशेषात्मक वस्तु है, विशेष नहीं है ये बात कहाँ है ? परन्तु अभी विशेष को—देखने की आँख बंद करके... आहाहा...! है ? (पाठ में ?)

वो भी कथंचित बंद करके—ऐसा नहीं है। परन्तु 'पर्यायार्थिक चक्षु को—सर्वथा बंद करके अकेले खुले हुए द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा'...।।३८१।।

(श्री अध्यात्म प्रवचन रत्नत्रय, पृष्ठ १३४, पैराग्राफ ५)

★ अहाहा!... भाषा तो देखो! अवस्था को देखने वाली पर्यायार्थिक चक्षु बंद करके द्रव्य सामान्य को देखनेवाली-जाननेवाली द्रव्यार्थिक, चक्षु

के द्वारा देख; तभी तुझे अवस्था में सामान्य—सामान्य द्रव्य भगवान आत्मा जानने में आयेगा। अहाहा...! अवस्था को देखने वाली आँख बंद करके सामान्य को देखने पर देखने वाली विशेष पर्याय तो रहेगी, परन्तु पर्याय का देखने का विषय विशेष नहीं लेकिन सामान्य रहेगा। समझ में आया कुछ...?।।३८२।।

(श्री अध्यात्म प्रवचनरत्नत्रय, पेज १३५, पैराग्राफ १)

★ देखो, यहाँ ऐसा नहीं कहा कि परद्रव्य को—स्त्री-पुत्र-मित्र-धनादि को देखना बंद कर दे, क्योंकि जो स्वरूप में नहीं है उसकी बात किसलिए करें? यहाँ तो कहते हैं—प्रभु! तेरे स्वरूप में दो—सामान्य और विशेष हैं। तो अभी ये दो हैं, इनमें से विशेष को देखने की आँख सर्वथा बंद करके खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा देख। देखो। विशेष को देखने की आँख को कथंचित् खोलकर, और कथंचित् बंद करके अथवा उसको गौण करके—ऐसी भी बात नहीं ली है। अहो! यह तो तत्काल सम्यक्दर्शन-वस्तुदर्शन होने की बात है। पर्याय को देखना बंद कर दिया इसलिए द्रव्य को देखने वाला ज्ञान प्रकट हुआ—ऐसा कहते हैं। द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा द्रव्य को देखने वाला वह ज्ञान है तो पर्याय, लेकिन वह प्रकट हुआ ज्ञान है। अहो! क्या गम्भीर टीका है! भरत क्षेत्र में ऐसी बात अन्यत्र कहाँ है? अहो! यह तो तीन लोक के नाथ की दिव्यध्वनि का अमृत संतों ने पिलाया है।।३८३।।

(श्री अध्यात्म प्रवचनरत्नत्रय, पृष्ठ १३५, पैराग्राफ अन्तिम)

★ देखने वाला जो आत्मा है वो अपने सामान्य और विशेष को देखता है। परन्तु पर को नहीं। अहाहा...! खूब गम्भीर बात है! अपनी विशेष-पर्याय में जो पर ज्ञात होते हैं वो वास्तव में अपनी पर्याय (ही) जानने में आती है; इसीलिए सामान्य और विशेष को देखने वाले—ऐसे दो चक्षु

कहे हैं। परन्तु पर की बात नहीं ली है।।३८४।।

(श्री अध्यात्म प्रवचनरत्नत्रय, पृष्ठ १३८, पैराग्राफ १)

★ इसमें अनुक्रम से कहा ने ? मतलब कि प्रथम सामान्य को जानता है, फिर विशेष को जानता है; कारण कि सामान्य का यथार्थ ज्ञान होवे तो विशेष का यथार्थ ज्ञान होता है। यहाँ पर को जानने की बात ही नहीं ली है क्योंकि आत्मा जो पर को जानता है वो वास्तव में तो अपनी पर्याय में पर्याय को जानता है। लो, ऐसी सूक्ष्म बात ! पर को जानता है—ऐसा कहना ये तो असद्‌भूत व्यवहार है। वास्तव में त्रिकाल सामान्य आत्मा का जो विशेष है उस विशेष में विशेष को ही जानना है। पर को नहीं। यहाँ—विशेष के द्वारा पहले सामान्य को जानने के लिए कहा और फिर विशेष के द्वारा विशेष को जानने के लिए कहा; क्योंकि सामान्य को जानने पर (सामान्य को जानते ही) जो ज्ञान प्रकट होता है वही, जो अपना विशेष है उसको, वास्तविक यथार्थ जान सकता है।।३८५।।

(श्री अध्यात्म प्रवचनरत्नत्रय, पृष्ठ १३८, पैराग्राफ २)

★ कहते हैं कि सामान्य और विशेष को देखने वाली दो चक्षु हैं। तीन चक्षु नहीं कही हैं परन्तु अपना जो सामान्य स्वरूप है और अपना जो विशेष स्वरूप है—बस उसको जानने वाली दो चक्षु कही हैं। वहाँ जो विशेष में पर पदार्थ ज्ञात हो जाते हैं वह वास्तव में अपनी ही पर्याय है। अहो ! क्या गम्भीर टीका है ! और उसमें भी 'अनुक्रम से' शब्द है मतलब कि पहले सामान्य को देखता है और बाद में विशेष को देखता है। टीका में भी ऐसा ही लिया है।।३८६।।

(श्री अध्यात्म प्रवचनरत्नत्रय, पृष्ठ १३८, पैरा ३)

★ तो कहते हैं—'उसमें, पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बंद करके...

देखो अपनी पर्याय में जो विशेषता ज्ञात होती है वो अपनी पर्याय ही जानने में आती है, पर नहीं; इसलिए पर को जानने वाली चक्षु को बंद करके—ऐसा नहीं कहा परन्तु अपनी पर्याय को जानने वाली पर्यायार्थिक चक्षु सर्वथा बंद करके—ऐसा कहा।।३८७।।

(श्री अध्यात्म प्रवचनरत्नत्रय, पृष्ठ १३८, पैराग्राफ ४)

★ यहाँ तो कहते हैं—कि भगवान! तू पर को जानता ही नहीं है। भगवान केवली लोकालोक को जानते हैं—ऐसा कहना ये तो असद्भूत व्यवहार है भाई! पर के साथ आत्मा का क्या सम्बन्ध है? (कोई सम्बन्ध नहीं है) पर के और स्व के बीच में तो अत्यन्त अभाव का अभेद्य किला खडा है। परद्रव्य की पर्याय और स्वद्रव्य की पर्याय के बीच अत्यन्त अभाव रूप अभेद्य किला पड़ा है। अपनी एक समय की जो पर्याय है उसमें पर का प्रवेश कहाँ है? (नहीं है) यहाँ टीका में तो ऐसा लिया है कि आत्मा अपने विशेष को जानता है। पहले सामान्य को जानता है ऐसा कहकर बाद में विशेष को जानता है—ऐसा कहा है; (परन्तु) पर को जानना है—यह बात तो यहाँ ली ही नहीं है।।३८८।।

(श्री अध्यात्म प्रवचनरत्नत्रय, पृष्ठ १३९, पैराग्राफ १)

★ अहाहा...! भगवान! तू सामान्य-विशेष स्वरूप है। वहाँ तेरे विशेष मे पर का जानना ये कुछ है ही नहीं है। क्योंकि वहाँ तो ये अपनी पर्याय ही जानने में आती है।।३८९।।

(श्री अध्यात्म प्रवचनरत्नत्रय, पृष्ठ १३९, पैराग्राफ ३)

★ जहाँ पर्याय को देखना सर्वथा बंद किया वहाँ द्रव्य को देखने वाला ज्ञान प्रकट हो गया है—ऐसा कहते हैं। क्योंकि स्वयं जाननहार है ने? जाननहार की पर्याय में अन्धेरा हो जाय अर्थात् जानने का ही बंद हो

जावे—ऐसा तो कभी होता ही नहीं है।।३९०।।

(श्री अध्यात्म प्रवचनरत्नत्रय, पृष्ठ १४० पैराग्राफ १)

★ अहाहा... ! कहते हैं—कि पर्याय को देखने की आँख सर्वथा बंद कर दे... प्रभु ! ऐसा कहकर आपको क्या कहना है ? कि शुद्ध त्रिकाली आत्मद्रव्य को देखना है ने तुझे तो वह जानना पर्याय में आता है। (होता है) इसलिए कहते हैं कि अकेले खोले हुए द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा देख ! मतलब कि पर्याय को देखने वाला ज्ञान का अंश सर्वथा बंद होते ही अन्दर की ज्ञान की पर्याय कि जो अकेले द्रव्य को ही जानती है वह प्रकट हो गई है। तो उसके द्वारा द्रव्य को देख। अब ऐसी बात सुनने को मिले नहीं इसलिए एकांत है, एकांत है—ऐसा चिल्लाते हैं। लेकिन बापू ! भाई ! यह सम्यक् एकांत है। भाई ! ये तेरे घर की बात है।।३९१।।

(श्री अध्यात्म प्रवचनरत्नत्रय, पृष्ठ १४०, पैराग्राफ २)

★ गजब बात है भाई ! कहते हैं—सिद्ध को—सिद्ध पर्याय को देखने वाली पर्यायार्थिक चक्षु को बंद कर दे। अपने को तो वर्तमान में सिद्ध पर्याय नहीं है, लेकिन श्रद्धा में है कि मेरी सिद्ध पर्याय होने वाली है। तो कहते हैं कि सिद्धपर्याय को भी देखने वाली पर्यायार्थिक आँख को बंद कर दे। (पर्यायदृष्टि बंद कर दे)।

वंदित्तु सव्वसिद्धे ऐसा समयसार में है ने ? वहाँ सर्वसिद्धों को ज्ञान की पर्याय में स्थापित किया है। यहाँ कहते हैं—भगवान ! सर्वसिद्धों को जानने वाली जो पर्याय है उस पर्याय को देखने वाली पर्यायार्थिक चक्षु बंद कर दे। और अकेली खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा देख ! अहो ! यह तो संतों के हृदय की कोई अपार गहराई है !! क्या कहें ? जितना गहरा गम्भीर भासता है उतना भाषा में नहीं आता।।३९२।।

(श्री अध्यात्म प्रवचनरत्नत्रय, पृष्ठ १४०, पैराग्राफ ३)

★ **प्रश्न** : और तब ही पर्याय का सच्चा ज्ञान होता है ने?

उत्तर : ज्ञान तब सच्चा होता है—ये बात यहाँ नहीं है। लेकिन ज्ञान जो द्रव्य को देखता है (द्रव्य को जानता है) वह सच्चा है। पाँचों पर्यायों में रहता हुआ जो यह अखण्ड एकरूप तत्त्व है वह जीवद्रव्य स्वयं है। ऐसा देखने वाला ज्ञान सच्चा है। वजन यहाँ है कि 'वह सब जीवद्रव्य है'—ऐसा भासता है।।३९३।।

(श्री अध्यात्म प्रवचनरत्नत्रय, पृष्ठ १४२, अन्तिम पैराग्राफ)

★ भाई ! 'पर्यायों स्वरूप विशेषों में रहता हुआ'—मतलब कि पर के जानने में वह रहता है—ऐसा नहीं है परन्तु मात्र अपनी जो पाँच पर्याय हैं उनमें रहता है।।३९४।।

(श्री अध्यात्म प्रवचनरत्नत्रय, पृष्ठ १४३, पैराग्राफ ३)

★ अत: तूं शरीर को मत देख, आकृति को मत देख, पर को मत देख। अरे ! ये बाहर में तो तुझे कहाँ देखना है ? लेकिन ये सब जो तेरी पर्याय में जानने में आते हैं उस पर्याय को देखने वाली तेरी पर्याय चक्षु को बंद कर दे और खुले हुए ज्ञान के द्वारा द्रव्य को देख। जिससे तुझे अनन्त सुख का समुद्र भगवान का दर्शन होगा, तूं निहाल हो जायेगा। आहाहा... ! अद्भुत बात है !!।।३९५।।

(श्री अध्यात्म प्रवचनरत्नत्रय, पृष्ठ १४५, अंतिम पैराग्राफ)

★ बाहर का करना ये तो दूर रहो—ये तो है ही नहीं, परन्तु बाहर में देखना भी नहीं है। भगवान ! तू जो देखता है ये तो तेरी पर्याय है। सूक्ष्म बात है भाई !।।३९६।।

(श्री अध्यात्म प्रवचनरत्नत्रय, पृष्ठ १४८, पैराग्राफ २)

★ देखो, एक ओर ऐसा कहना कि त्रिकाली सामान्य वस्तु जो परमस्वभावभाव शुद्ध ज्ञायकभाव उसमें तो गति नहीं, गुणभेद भी नहीं और पर्याय भी नहीं है; और यहाँ कहा कि द्रव्य उन उन विशेषों के समय तन्मय है। ये कैसी बात?

समाधान : भाई ! परमस्वभावभाव शुद्धज्ञायकभाव त्रिकाली सामान्य वस्तु की दृष्टि कराने के लिए कहते हैं कि उसमें गति नहीं है, गुणभेद भी नहीं हैं ओर पर्याय भी नहीं है और यहाँ उन उन विशेषों के समय उनमें द्रव्य वर्त्त रहा है, वे विशेष उस समय उस द्रव्य के हैं—यह ज्ञान कराने के लिए कहते हैं कि उन उन विशेषों के काल में द्रव्य उनमें नन्मय है। जहाँ जो अपेक्षा हो उसे यथार्थ समझना चाहिए।।३९७।।

(श्री अध्यात्म प्रवचनरत्नत्रय, पृष्ठ १५१, पैराग्राफ ३)

★ अहाहा... !कहने हैं—द्रव्य श्रुत वह ज्ञान नहीं है, क्योंकि द्रव्यश्रुत अचेतन है; इसलिए ज्ञान और श्रुत में भिन्नता है, जुदाई है। क्या मनलब ? कि द्रव्यश्रुत से यहाँ (आत्मा में) ज्ञान होता है—ऐसा नहीं है। नो किस प्रकार है ? सुनने वाले श्रोता को अपने उपादान की योग्यता से ज्ञान होता है, और द्रव्यश्रुत तो उस समय निमित्त मात्र है। और द्रव्य श्रुत का ज्ञान वह परलक्षी ज्ञान है, स्वलक्षी नहीं है; इसलिए द्रव्य श्रुत का ज्ञान भी वास्तव में अचेतन है।।३९८।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग १०, पृष्ठ १८१, पैराग्राफ ५)

★ परमार्थ वचनिका में आता है कि जितना परसत्तावलंबी-ज्ञान है उस ज्ञान को वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं कहते हैं। द्रव्यश्रुत वाणी जो है सो जड़ है, वो आत्मा नहीं है और उसको सुनने से आत्मा (-ज्ञान) प्रकटता है—ऐसा भी नहीं है। परन्तु जो श्रुत विकल्प है उसका लक्ष छोड़कर

अन्दर मे ज्ञान का दरिया (समुद्र) आत्मा है उसका स्पर्श करके जो ज्ञान प्रकट होता है वो वास्तविक ज्ञान है। इसके सिवाय ग्यारह अंग और नौ पूर्व पढ जाये तो भी वो ज्ञान नहीं है।।३९९।।

(श्री प्रवचन रत्नाकर, भाग १०, पैराग्राफ ६, पृष्ठ १८१)

★ आहाहा... ! द्रव्यश्रुत वो ज्ञान नहीं है, आत्मा नहीं है; इससे आत्मा भिन्न है। और द्रव्यश्रुत का जो ज्ञान होता है उससे भी आत्मा भिन्न है। प्रवचनसार में आता है कि द्रव्यश्रुत को बाद करो तो अकेला ज्ञान रह जाता है। आहा... ! समयसार, प्रवचनसार, आदि शास्त्रों में गजब की रामवाण बातें हैं। बापू ! शब्दों का ज्ञान वो वास्तविक ज्ञान नहीं है—(आत्मज्ञान नहीं है)।।४००।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग १०, पैराग्राफ ७, पृष्ठ १८१)

★ देखो, आचारांग में १८००० पद हैं, और एक-एक पद में इक्यावन करोड़ जितने ज्यादा श्लोक हैं। उसका जो ज्ञान होता है वो शब्दज्ञान है। आहा ! जो ज्ञान अतीन्द्रिय नहीं है, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द नहीं है वह ज्ञान ज्ञान नहीं है। पाँच-पचास हजार श्लोक कंठस्थ हो जाये उससे क्या ? अन्दर भगवान ज्ञानस्वभाव का सागर है उसको स्पर्श करके जो नहीं होता उसे ज्ञान नहीं कहते।।४०१।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग १०, पृष्ठ १८२, पैराग्राफ १)

★ शब्द है वो कोई भावश्रुत नहीं है; शब्द तो जड़ अचेतन ही है, और शब्द का जो ज्ञान होता है वह भी जड अचेतन है। जो ज्ञान अन्दर चकचकाट चैतन्य ज्योतिस्वरूप भगवान आत्मा है उसके लक्ष से प्रकट होता है वह ज्ञान ही ज्ञान है, वह आत्मज्ञान है। भले शब्द श्रुतज्ञान न होय, लेकिन चैतन्य के स्वभाव झरने में से प्रकट होता है वह सम्यग्ज्ञान है। बाकी शब्द के आश्रय से—निमित्त से होने वाला ज्ञान अचेतन है।

परलक्षी ज्ञान वह वास्तविक ज्ञान नहीं है। ऐसी बात है।।४०२।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग १०, पृष्ठ १८४, पैराग्राफ १)

★ इसलिए ज्ञान और रूप में व्यतिरेक है, भिन्नता है। शास्त्र में ऐसा आता है कि भगवान के शरीर का प्रभामंडल ऐसा होता है कि उसे देखने वाले को सात भव का ज्ञान होता है। यह एक पुण्य प्रकृति का प्रकार है। उन भगवान के भामंडल के तेज से कहीं ज्ञान नहीं हुआ है। और उसको देखने से जो ज्ञान हुआ है वह ज्ञान नहीं है। (भव बिना के आत्मा को देखे जाने—वह ज्ञान है)—वस्तुस्थिति ऐसी है। रूप और ज्ञान जुदा है।।४०३।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग १०, पृष्ठ १८४, पैराग्राफ ३)

★ रंग वह ज्ञान नहीं है, और रंग के निमित्त से जो ज्ञान होता है वह भी वास्तव में ज्ञान नहीं है। सुन्दर स्वरूपवान चिद्रूप अन्दर भगवान आत्मा है, उसके आश्रय से ज्ञान होता है वह परमार्थ ज्ञान है।।४०४।।

(श्री प्रवचन रत्नाकर, भाग १०, पृष्ठ १८४, पैराग्राफ ५)

★ ज्ञान के साथ अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव अविनाभावी होता है। वह ज्ञान स्व के लक्ष से होता है। पर के—रंग के लक्ष से ज्ञान होता है वह ज्ञान (आत्मज्ञान) नहीं है, वह तो अचेतन है। इसलिए रंग जुदा है और ज्ञान जुदा है।।४०५।।

(श्री प्रवचन रत्नाकर, भाग १०, पृष्ठ १८४, पैराग्राफ ६)

★ ये कुछ लोगों की श्वास में दुर्गन्ध आती है ने! भगवान की श्वास सुगन्धित होती है। शरीर के परमाणुओं में सुगन्ध-सुगन्ध होती है। आहा! उसके निमित्त से जो गंध का ज्ञान होता है वह (यहाँ कहते हैं) ज्ञान नहीं है; गंध और ज्ञान में भिन्नता है। गंध वह ज्ञान नहीं है, और

*पर ज्ञेय के लक्ष से इन्द्रियज्ञान प्रगट होता है)

गंध का ज्ञान होना है वह भी ज्ञान नहीं है। आत्मज्ञान ही एक ज्ञान है।।४०६।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग १०, पृष्ठ १८५, पैराग्राफ २)

★ देखो, खट्टा, मीठा, इत्यादि भेदपने जो रस है, वह ज्ञान नहीं है; और उस रस का जो ज्ञान होना है वो भी ज्ञान नहीं है। रस तो बापू ! जड़ है, और जड का ज्ञान होना है वो भी जड है। भगवान आत्मा—चैतन्य ज्योतिस्वरूप प्रभु है। उसका ज्ञान होना है वही ज्ञान है। आहाहा... ! स्वसंवेदन ज्ञान ही ज्ञान है वही सम्यग्ज्ञान है और उसी को मोक्षमार्ग माना गया है। समझ में आया कुछ... ?।।४०७।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग १०, पृष्ठ १८५, पैराग्राफ ४)

★ शरीर के स्पर्श का ज्ञान होना है—वह ज्ञान नहीं है; उसके लक्ष से जो ज्ञान हुआ वह तो जड़ का ज्ञान है, वो कहाँ आत्मा का ज्ञान है ? भाई ! जिसके पाताल के गहरे तल में चैतन्य प्रभु परमात्मा विराजता है उस ध्रुव के आश्रय से ज्ञान होना है—वही... वास्तविक ज्ञान है। अहाहा... ! असंख्य प्रदेश में अनन्त गुणों का पिण्ड प्रभु आत्मा है। उसकी पर्याय अन्दर गहराई में ध्रुव की तरफ जाकर प्रकट होती है—वह ज्ञान है, वह धर्म है। ऐसी बात है।।४०८।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग १०, पृष्ठ १८५, पैराग्राफ ६)

★ **प्रश्न :** हाँ, लेकिन कितनी गहराई में ये ध्रुव है ?

उत्तर : आहाहा... ! अनन्त-अनन्त गहराईमय जिसका स्वरूप है—उसकी मर्यादा क्या ? द्रव्य तो बेहद अगाध स्वभाववान है, उसके स्वभाव की मर्यादा क्या ? आहाहा... ! ऐसा अपरिमित ध्रुव-दल अन्दर में है वहाँ पर्याय को ले जाना (केन्द्रित करना) उसका नाम सम्यक्‌ज्ञान है।

इन्द्रियों से प्रवर्त्तता हुआ ज्ञान कहीं ज्ञान नहीं है।।४०९।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग १०, पृष्ठ १८५, पैराग्राफ ७)

★ आठ कर्म जो हैं वह ज्ञान नहीं हैं, क्योंकि कर्म अचेतन हैं। कर्म के लक्ष वाला ज्ञान होता है वो भी ज्ञान नहीं है, कर्म का बंध, सत्ता, उदय, उदीरणा इत्यादि कर्म सम्बन्धी जो ज्ञान होता है वह ज्ञान नहीं है। कर्म सम्बन्धी ज्ञान होता है अपने में अपनी योग्यता से, कर्म तो उसमें निमित्त मात्र है; लेकिन वह ज्ञान आत्मा का ज्ञान नहीं है। आहाहा... ! भगवान आत्मा अन्दर अबद्ध-अस्पृष्ट है; स्वरूप से आत्मा अकर्म-अस्पर्श है। आहा ! ऐसे अकर्मस्वरूप प्रभु को अंतःस्पर्श करके प्रवर्त्ते उस ज्ञान को ज्ञान कहते हैं।।४१०।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-१०, पृष्ठ १८५, पैराग्राफ ९)

★ भाई ! कर्म है ऐसा शास्त्र कहे, और ऐसा तुझे ख्याल (ज्ञान में) आवे तो भी वह कर्म सम्बन्धी का ज्ञान है वह आत्मा का ज्ञान नहीं है। कर्म अचेतन है; इसलिए ज्ञान जुदा है और कर्म जुदा है।।४११।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-१०, पृष्ठ १८६, पैराग्राफ ५)

★ यहाँ कहते हैं—यह धर्मास्तिकाय ज्ञान नहीं है। और धर्मास्तिकाय है ऐसा ख्याल (ज्ञान में) आया तो वो ज्ञान भी ज्ञान नहीं है। धर्मास्तिकाय में ज्ञानस्वभाव भरा नहीं है; भगवान आत्मा अन्दर ज्ञानस्वभाव से भरपूर भरा है। आहा ! उसके आश्रय से जो ज्ञान प्रकट होता है वह सम्यक्ज्ञान है और वह ज्ञान मोक्ष का मार्ग है।।४१२।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-१०, पृष्ठ १८७, पैराग्राफ १)

★ यह आकाशद्रव्य है वह ज्ञान नहीं है। और उसका लक्ष होने से 'यह आकाश है' ऐसा जो ज्ञान होता है वह परलक्षी ज्ञान भी परमार्थ से ज्ञान

नहीं है। यहाँ तो स्वसंवेदन ज्ञान को ही परमार्थ ज्ञान कहा है। परलक्षी ज्ञान होता है वह भी पर की तरह ही अचेतन है। इसलिए ज्ञान और आकाश दोनों जुदा हैं। अर्थात् ज्ञान का (आत्मा का आकाश) नहीं है।।४१३।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-१०, पृष्ठ १८७, पैराग्राफ ७)

★ दूसरी तरह कहें तो गाथा १७-१८ में कुंदकुंदाचार्य तो ऐसा कहते हैं कि भले अज्ञानी की ज्ञानपर्याय हो उसमें आत्मा ही जानने में आता है। अज्ञानी की पर्याय का स्वभाव भी स्व-पर प्रकाशक होने से पर्याय में स्व ज्ञायक चिदानन्द भगवान पूर्ण जानने में आता है। ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है तो इस पर्याय में अकेले पर को जाने ऐसा हो ही नहीं सकता। ये पर्याय स्व को जाने और पर को जाने ऐसा ही इसका स्वभाव है; फिर भी अज्ञानी की दृष्टि एक ऊपर (ज्ञायक भाव के ऊपर) नहीं जाती। मैं एक को (ज्ञायक को) जानता हूँ ऐसे (दृष्टि) वहाँ नहीं जाती, मैं राग को और पर्याय को जानता हूँ इस प्रकार दृष्टि वहाँ मिथ्यात्व में ही रहती है।।४१४।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-१०, पृष्ठ ४५, पैराग्राफ ५)

★ सूक्ष्म बात है प्रभू! बालक से लेकर वृद्ध सभी को उसकी ज्ञान की पर्याय में सदाकाल स्वयं ही (आत्मा ही) अनुभव में आने पर भी अर्थात् ज्ञान की पर्याय का स्वभाव ही ऐसा है कि उस पर्याय में सदाकाल एक समय के विरह बिना त्रिकाली आनन्द का नाथ ही जानने में आता है। फिर भी इस पर्याय में आत्मा जानने में आ रहा है—ऐसे दृष्टि वहाँ नहीं जाती।।४१५।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-१०, पृष्ठ ४६, पैराग्राफ २)

★ त्रिकाली ज्ञानगुण उसका जैसे स्व-परप्रकाशक स्वभाव है वैसे ही

उसकी ज्ञान की वर्तमान प्रकट पर्याय का भी स्व-परप्रकाशक स्वभाव है। इसलिए उस पर्याय में समस्त जीवों को सदाकाल ज्ञायक जानने में आ रहा होने पर भी राग के वश हुए प्राणी उसे देख नहीं सकते। उसकी नजर (दृष्टि) पर्याय के ऊपर और राग के ऊपर है इसलिए इस ज्ञायक को ही मैं जानता हूँ इसे खो देता है। अनादि बंध के—राग के वश पड़ा हुआ राग को देखता है। लेकिन मुझे मेरी ज्ञान की पर्याय में यह ज्ञायक ही दिख रहा है (ज्ञायक ही जानने में आ रहा है) ऐसा देखता नहीं है। भले ने तू ना पाड़ (ना कह) कि मैं (मुझे—ज्ञायक को) नहीं जानता फिर भी प्रभु! तेरी पर्याय में तू अभी जानने में आ रहा है। हों! गजब बात की है न?।।४१६।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-१०, पृष्ठ ४६, पैराग्राफ ३)

★ यह जो जानने में आ रहा है (जाननहार) उसको जानता नहीं है। और पर को जानता हूँ ऐसी मिथ्याबुद्धि हो गई है। (अर्थात्) अकेला—पर-प्रकाशक हूँ ऐसी बुद्धि हो गई है जो कि मिथ्या है।।४१७।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-१०, पृष्ठ ४७, पैराग्राफ १)

★ आहा! एक बार तो ऐसा (अन्दर में) आया था कि (मानों) ज्ञान की पर्याय जो है एक ही वस्तु है। दूसरी कोई चीज ही नहीं है। एक (ज्ञान की) पर्याय का अस्तित्व ये सारे लोकालोक का अस्तित्व है। एक समय की जानने देखने की स्वपरप्रकाशक पर्याय उसमें आत्मद्रव्य उसके (अनंता) गुण उसकी तीनों काल की पर्यायें तथा छह द्रव्यों के द्रव्य-गुण-पर्याय सब एक समय में ज्ञात होते हैं। सम्पूर्ण जगत एक समय में जानने में आता है फिर भी एक समय की पर्याय में अपना द्रव्य, गुण या छह द्रव्य आते नहीं हैं।।४१८।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-१०, पृष्ठ ४७, पैराग्राफ ४)

★ हाँ, लेकिन इस पैसा को ज्ञेय (परज्ञेय) कर डालें तो?

इस पैसा को ज्ञेय (परज्ञेय) करे कहाँ से? अन्दर निज स्वरूप को ज्ञान में ज्ञेय किये बिना, निज ज्ञानानंद स्वरूप का अनुभव किये बिना पर पदार्थ को ज्ञेय (परज्ञेय) किस प्रकार करे? कर ही नहीं सकता।।४१९।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग-१०, पृष्ठ २०५, पैराग्राफ ५)

★ इन्द्रिय के द्वारा शास्त्र को सुने, और उसको ज्ञान होवे यह भी इन्द्रियों से हुआ ज्ञान है इसे आत्मा का ज्ञान—जानपना नहीं कहते हैं। आत्मा इन्द्रियों के द्वारा जानता है ऐसा नहीं कहते हैं। ये सुनने से ज्ञान होवे ऐसा आत्मा का स्वरूप ही नहीं है।।४२०।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंग ग्रहण बोल १ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ प्रथम शब्द ज्ञायक अर्थात् चैतन्य, चैतन्य-प्रकाश का पुंज, ज्ञायक-स्वरूप भगवान इन्द्रियों के द्वारा जानने वाला है ही नहीं है। भगवान परमात्मा जिनेन्द्र देव त्रिलोकनाथ ऐसा फरमाते हैं कि—जिसको (आत्मा को) इन्द्रिय द्वारा जानना होवे वह आत्मा ही नहीं है।

शास्त्रों को सुनकर जो ज्ञान होता है—वह होता है उसकी पर्याय के उपादान से। श्रवण से हुआ है ऐसा नहीं है। फिर भी ये इन्द्रिय द्वारा जो जानना (जानकारी का कार्य हुआ) वह आत्मा का कार्य नहीं है।।४२१।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंग ग्रहण के बोल १ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ **प्रश्न :** ज्ञानी को इन्द्रियज्ञान है ने?

उत्तर : ज्ञानी को इन्द्रियज्ञान अनात्मा है, इन्द्रियज्ञान वह आत्मा का ज्ञान नहीं है। ये परमार्थ ज्ञान नहीं है।

परमार्थ वचनिका में कहा है—ज्ञानी को परसत्तावलंबी ज्ञान बंध का कारण है।

समयसार गाथा ३१—

य इंद्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम्।
तं खलु जितेन्द्रियं ते भणंति ये निश्चिताः साधवः।।३१।।

अन्वयार्थ :—जो इन्द्रियों को जीतकर ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा को जानते हैं उनको, जो निश्चयनय में स्थित साधु हैं वे, वास्तव में जितेन्द्रिय कहते हैं।।४२२।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंग ग्रहण बोल १ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन्द्रियों के विषय—भगवान, भगवान की वाणी और उन सम्बन्धी होने वाला ज्ञान—इन तीनों का लक्ष छोड़कर, जो इनसे भिन्न भगवान ज्ञायक है—ग्राहक (जाणनारो, जाननहार जो त्रिकाली ज्ञाताद्रष्टा) है, इसको जो पकड़ता है, ग्रहता है, और जो अनुभवता है, उसे इन्द्रियजित कहकर समकिती जिन कहा है। क्योंकि आत्मा का स्वरूप जिनस्वरूप है।।४२३।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंग ग्रहण बोल १ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ यहाँ कहते हैं—जिनको जीतना है—ऐसी इन लिंगो (इन्द्रियों) द्वारा जानना होवे—तो ये जानना ही आत्मा का नहीं है। जिन से भिन्न होना

है—जिन को जीतना है, जीतना है अर्थात् उसके लक्ष को छोड़ना है। उसके द्वारा जानने का कार्य करे यह आत्मा का कार्य ही नहीं है।।४२४।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंग ग्रहण बोल १ के ऊपर
पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ शास्त्र का ज्ञान हुआ इन्द्रियों से; सुनकर, पढ़कर—ये शास्त्र का ज्ञान आत्मा का नहीं है। गजब बात है ने?

इन्द्रियों द्वारा जानता है—वह आत्मा नहीं है, ज्ञायक नहीं है क्योंकि ज्ञायकस्वरूप तो स्वयं ही है, और ये इन्द्रियों द्वारा जाने तो ज्ञायक ही कहाँ रहा?।।४२५।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंग ग्रहण, बोल १ के ऊपर
पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ सातवें और नौवें अधिकार में कहा है कि जैसे-जैसे शास्त्र का ज्ञान बढ़ता है, वैसे-वैसे ज्ञान विशेष होता है लेकिन यह परसम्बन्ध की अपेक्षा से बात है।

सामान्य से विशेष बलवान है ऐसा कहकर, कहा है कि जैसे-जैसे शास्त्र का विशेष ज्ञान होता है वह ज्ञान बलवान है, यह पर की अपेक्षा की बात है।

वहाँ सम्यक्दर्शन में ये ज्ञान बलवान और जोरदार होता है ऐसा नहीं है।।४२६।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंग ग्रहण बोल १ के ऊपर
पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ साक्षात् तीन लोक के नाथ समोशरण में विराजते हों वहाँ भी तू

अनंतबार गया है। आँख के द्वारा दर्शन किया, कान के द्वारा तीर्थंकर की वाणी सुनी वह सब इन्द्रियज्ञान है।

यह ज्ञान ज्ञायक का नहीं है। ऐसी गंभीर बातें हैं।।४२७।।
(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंग ग्रहण बोल १ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ जिसको अर्थात् इस आत्मा को, ग्राहक अर्थात् जाननहार है, इस जाननहार को जानना—लिंग अर्थात् इन्द्रियों (द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय) द्वारा नहीं होता है; क्योंकि भाव और द्रव्येन्द्रिय द्वारा जो जानता है वह खण्ड-खण्ड ज्ञान है।

ये आत्मज्ञान नहीं है, इसलिए ऐसा कहा कि, इन्द्रियों के द्वारा जिसको (आत्मा को) जानना नहीं होता, वो अलिंग ग्रहण है; इस प्रकार आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है; वज़न यहाँ है।।४२८।।
(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंग ग्रहण बोल १-२ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमयी है और इन्द्रिय ज्ञानमय नहीं हैं, यह अस्ति-नास्ति है। समझ में आया कुछ ?

ये पाँच इन्द्रियों द्वारा जो जानना होता है वह तो खण्ड-खण्ड ज्ञान है; और इस खण्ड-खण्ड ज्ञानरूप आत्मा नहीं है। खण्ड-खण्ड ज्ञान के द्वारा जाने वह आत्मा नहीं है। वह तो अनात्मा है।

आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमयी है। मन और इन्द्रियों का सम्बन्ध छोड़कर स्वयं अपने आत्मा के लक्ष से आत्मा को जाने; अखण्ड अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा जाने—तब उसको सम्यक्ज्ञान कहते हैं। कारण कि वह पर्याय

द्रव्य के साथ अभेद है।

सम्यक्ज्ञान होता है तब जन्म-मरण का अन्त आता है।।४२९।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण, बोल १-२ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ यह भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी है; यह अखण्ड अतीन्द्रिय ज्ञानमयी है। इन्द्रिय और मन से जानना यह खण्ड-खण्ड ज्ञान है। शास्त्र का इन्द्रिय और मन से जो जानना होता है—वह शास्त्रज्ञान होता तो पर्याय में है लेकिन वह ज्ञान अखण्ड नहीं है, खण्ड-खण्ड है। इसलिए यह खण्ड-खण्ड (ज्ञान) जानना (कार्य) आत्मा का नहीं है, ग्यारह अंग पढ़े और नौ पूर्व को जानने की लब्धि वो भी खण्ड-खण्ड ज्ञान है।।४३०।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण, बोल १-२ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ यह आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा जानने का कार्य करता है। स्वयं कैसे जानने में आता है वह दूसरे बोल में लेंगे।

इन्द्रियों से (पर को) जानने में लगा रहे वह तो दुःखी होने का पंथ है कारण कि उसमें आत्मा के ज्ञान का स्वाद आना चाहिए वह नहीं आता है।।४३१।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण बोल १-२ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ पढकर, सुनकर जो शास्त्र का ज्ञान होता है वह भी खण्ड-खण्ड है, अखण्ड नहीं है। परसत्तावलंबी ज्ञान है, वह बंध का कारण है इसलिए

आत्मा की शान्ति उसमें नहीं आती। वह आत्मज्ञान नहीं है।।४३२।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण बोल १-२ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि इन्द्रिय के आधार से—इन्द्रिय के अवलम्बन से जो ज्ञान होता है वह ज्ञान ही नहीं है। भगवान की सीधी वाणी सुनकर जो ज्ञान होता है वह भले वाणी से ना हो, होता है अपनी पर्याय में अपनी योग्यता से, फिर भी वह ज्ञान खण्ड-खण्ड है।

और प्रभु आत्मा तो अतीन्द्रिय ज्ञानमयी है, इन्द्रिय ज्ञान से भिन्न है। ऐसी बात है।।४३३।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण बोल १-२ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान से जानने का काम करे तब आस्रव का निरोध होता है। लेकिन दुनिया के रस वाले को अतीन्द्रिय ज्ञान का रस बैठना (समझना, अनुभवना) बहुत कठिन है कारण कि अज्ञानी को अनादि का इन्द्रिय ज्ञान का रस चढ़ा है। इसलिए (उसका निरोध होकर) अतीन्द्रिय ज्ञान प्रकट नहीं होता। जैसे शुभराग व्यभिचार है **वैसे ही इन्द्रियज्ञान भी व्यभिचार है**। अरे ! प्रभु ! तुझे क्या कहना है ? इसलिए इन्द्रियों (द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय) का लक्ष छोड़कर अतीन्द्रिय ज्ञान से जानने का कार्य कर; अतीन्द्रिय से काम ले अन्दर से।

अतीन्द्रिय (ज्ञान) से जाननेवाला उसे यहाँ अलिंगग्रहण कहने में आया है।।४३४।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण बोल १-२ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य को चुम्बता नहीं है; स्पर्शता नहीं है, छूता भी नहीं है।

इसलिए छुए बिना, स्पर्श किए बिना आत्मा को जो इन्द्रियों के निमित्त से ज्ञान होता है, इन्द्रियों को स्पर्श किए बिना और इन्द्रियों के निमित्त से ज्ञान होता है—वह ज्ञान आत्मा का नहीं है। वह आत्मज्ञान नहीं है। और इन्द्रियज्ञान द्वारा जानकर उसकी प्रतीति यह मिथ्या प्रतीति है।

जब आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान से जानना करे, इस ज्ञान में प्रतीति करे, उसको सम्यक्दर्शन कहते हैं।।४३५।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण बोल १-२ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ इन्द्रियों के द्वारा शास्त्र सुने, तीर्थंकर भगवान की साक्षात् वाणी सुनी और इसको ज्ञान हुआ—इस इन्द्रियज्ञान के द्वारा भी आत्मा जनाने लायक नहीं है (जानने में आने लायक नहीं है)।।४३६।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण बोल १-२ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ अहाहा... ! जितना यहाँ इन्द्रिय से ज्ञान होता है—उस इन्द्रियज्ञान से भगवान आत्मा जनाने लायक नहीं है। उसका स्वभाव ही ऐसा है कि इन्द्रियज्ञान से जनाने लायक, यह आत्मा नहीं है।।४३७।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण बोल १-२ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ 'मैं जानता हूँ—ऐसी जानकारी का अहंकार नहीं करना'—'यह मुझे आता है मैं समझता हूँ इसमें—बह मत जाना' अज्ञानी को जरा-सा भी

कुछ आ जाये—धारणा से याद रहे—वहाँ उसको अभिमान हो जाता है। कारण कि अज्ञानी को वस्तु के अगाध स्वरूप का ख्याल (अनुभव) नहीं है; इसलिए वह बुद्धि के क्षयोपशम आदि में संतोष मानकर अटक (रुक) जाता है।

अज्ञानी इन्द्रियज्ञान में मुझे कुछ आता है, मैं भी कुछ जानता हूँ—ऐसा मानकर रुक जाता है। और ज्ञानी को अपना रस होने से, इन्द्रियज्ञान में नहीं अटकता है।।४३८।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण बोल १-२ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ यहाँ कहते हैं कि ये जो इन्द्रिय से शास्त्रज्ञान हुआ; इस (शास्त्र की) जानकारी के भाव से आत्मा जानने में आवे—ऐसा नहीं है। इसको (इन्द्रियज्ञान को) छोड़कर, अन्दर में आवे तब आत्मा जानने में आवे ऐसा है।।४३९।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण बोल १-२ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ इन्द्रिय प्रत्यक्ष से जो ज्ञान हुआ—'यह मैंने भगवान को प्रत्यक्ष देखा', यह मैंने समोशरण देखा, मैंने भगवान की वाणी प्रत्यक्ष सुनी—ऐसे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान का आत्मा विषय ही नहीं है। इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होवे ऐसा जो ज्ञान उसका भी यह आत्मा विषय नहीं है।।४४०।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण बोल १-२ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ कल कहा था—कि भावेन्द्रिय, जड़इन्द्रिय और भगवान की वाणी, स्त्री-कुटुम्ब, देश ये सब इन्द्रियाँ—अर्थात् कि द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और

इन्द्रियों के विषय—इनको जीतना अर्थात् इनका आश्रय छोड़कर, और—अतीन्द्रिय ऐसे भगवान आत्मा का आश्रय लेना, तब उसको सम्यक्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है। इसका नाम इन्द्रियों को जीता है। समझ में आया कुछ ? ।।४४१।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण बोल १-२ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ अब उपयोग की बात है। जिसको लिंग के द्वारा, उपयोग नाम के लक्षण द्वारा ग्रहण अर्थात् ज्ञेय-पदार्थ का आलम्बन नहीं है; जानने-देखने का जो उपयोग है उसे आत्मा का आलम्बन है। आत्मा के अवलम्बन से जो कोई उपयोग होता है, उसको उपयोग कहने में आता है। इस उपयोग को ज्ञेय पदार्थ का आलम्बन नहीं है; अर्थात् जिस उपयोग में ज्ञेय पदार्थ निमित्त पड़े और उपयोग होवे, वह आत्मा का उपयोग नहीं है। ऐसी बात है।

श्रोता : आत्मा का उपयोग नहीं तो उपयोग किसका ?

समाधान : पर की तरफ झुकाव वाली दशा—परलक्ष वाली दशा—ये उपयोग आत्मा का नहीं है; परसत्तावलम्बी ज्ञान ये आत्मा का उपयोग नहीं है। आहा ! ऐसी बात है। ।४४२।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण बोल १-२ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ पर द्रव्य के आलम्बन वाला उपयोग—जीव का नहीं है। क्योंकि पर द्रव्य के उपयोग में लक्ष जाने से आनन्द नहीं आता है वहाँ तो आकुलता है। आहाहा... ! परसन्मुख ज्ञान होता है, वह होता है अपने से (अपनी योग्यता से) कहीं निमित्त से नहीं होता। परन्तु जिस ज्ञान को निमित्त का

आलम्बन है—वह उपयोग जीव का—आत्मा का नहीं है। आहाहा... ! ऐसी बात है।।४४३।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण बोल ७ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ बापू ! आत्मा का लक्षण उपयोग है; लक्ष्य द्रव्य-आत्मा है। अब इस उपयोग लक्षण के द्वारा—लक्ष्य को जाने। वह उपयोग है। परज्ञेय के—अवलम्बन से जो जानना होता है वह उपयोग जीव का—आत्मा का नहीं है। आहा ! गजब बात की है ने ? परसत्तावलंबी ज्ञान सम्यक्दृष्टि को भी होता है लेकिन वह ज्ञान स्वउपयोग नहीं है। वह ज्ञान आत्मा का उपयोग नहीं है। जिस उपयोग में निमित्त का आश्रय—आलम्बन आवे वह उपयोग आत्मा का नहीं है।।४४४।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण बोल ७ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ आहाहा... ! भगवान त्रिलोकनाथ, जिनेन्द्र देव ऐसा कहते हैं कि जो ज्ञान-दर्शन का उपयोग है, वह आत्मा का लक्षण है, अर्थात् कि वह आत्मा को जानता है; लेकिन ये लक्षण पर को जानने की तरफ झुका हो तो यह आत्मा का लक्षण नहीं है। आत्मा का उपयोग नहीं है।

श्रोता : तो फिर द्वादशांग ज्ञान आत्मा का नहीं है ?

समाधान : बारह अंग का परलक्षी ज्ञान यह आत्मा का ज्ञान नहीं है। स्व के आश्रय से होने वाला भावश्रुतज्ञान आत्मा का है।।४४५।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण बोल ७ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ द्रव्यश्रुत का जो ज्ञान है, वह तो शब्दज्ञान है। 'बंध अधिकार' में कहा है कि ज्ञान है आत्मा का लक्षण—और यह ज्ञान पर को जानने के लिए जावे—जिसका लक्षण है उसको जानने ना जावे और जिसका लक्षण नहीं है उसकी तरफ जावे उसे जाने—तो यह उपयोग—जानने-देखने का उपयोग वह आत्मा का उपयोग नहीं है। गजब बात है!।।४४६।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण बोल ७ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ आहा! दिगम्बर संतों सत्य बात, पर्याय में चारित्र-धर्म प्रगट करके कहते हैं कि जिस ज्ञानोपयोग में—जिस उपयोग में पर जिसका लक्षण नहीं है; पर जिसका लक्ष्य नहीं है—ऐसा ज्ञानोपयोग जीव का लक्षण है। और जीव उसका लक्ष्य है। इसके बदले पर के लक्ष में ये उपयोग झुके—इस उपयोग को आत्मा का उपयोग ही नहीं कहते। आहा! गजब बात की है ने! ऐसी बात है। यह तो अन्दर से आता हो तब ऐसी बात आती है ने। ये तो अन्दर की (अनुभव की) बातें हैं।।४४७।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण बोल ७ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ जिसको जानने-देखने के उपयोग में पर का अवलम्बन होवे—कहते हैं कि वो उपयोग नहीं है। आत्मा का उपयोग नहीं है। गजब बातें हैं। ये उपयोग पराधीन-पर को अवलम्बता है ने? और जिसके लक्षण का ये लक्ष्य ही नहीं है, लक्षण का लक्ष्य तो अन्दर चिदानन्द प्रभु पूर्ण है, उसके लक्ष से होने वाला उपयोग वह उपयोग आत्मा का है। और जिसका लक्षण नहीं है ऐसे निमित्त के अवलम्बन से जो उपयोग होता है—वह उपयोग उसका नहीं है। आहाहा...! ऐसी बातें हैं। अरे! यहाँ तो जन्म-मरण का अभाव करने की बातें हैं। चौरासी के अवतार होवें यह भाव उसका

(आत्मा का) नहीं है लेकिन पर के लक्ष से हुआ ज्ञान का उपयोग ये भी उसका (आत्मा का) नहीं है।।४४८।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण बोल ७ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ जो उपयोग स्व के लक्ष से—लक्ष्य के लक्ष से प्रकट होता है वह उपयोग मोक्ष का कारण है—पर के लक्ष से—निमित्त के लक्ष से जो उपयोग होता है वह बंध का कारण है। परसत्तावलंबी उपयोग ये बंध का कारण है। यह तो बापू ! अन्तर की बातें हैं। यह कोई वाद-विवाद से बैठे (समझ में आवे) ऐसा नहीं है। पंडिताई का इसमें कुछ काम नहीं है।।४४९।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण बोल ७ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ आहा ! उपयोग नाम के लक्षण द्वारा—किसका लक्षण है उपयोग ? आत्मा का लक्षण है। इसके द्वारा ग्रहण अर्थात् ज्ञेयपदार्थ का जिसको अवलम्बन नहीं है; इस उपयोग नाम के लक्षण को जो ज्ञेय—परपदार्थ हैं, चाहे तीर्थंकर हों या तीर्थंकर की वाणी हो या शास्त्र के पृष्ठ हों—इस उपयोग नाम के लक्षण द्वारा परज्ञेय का आलम्बन जिस उपयोग में नहीं है उसे अलिंगग्रहण कहने में आता है।

ज्ञेय के अवलम्बन से होता है—वह लिंग है और उससे अलिंगग्रहण ऐसा आत्मा ग्रहण नहीं हो सकता ! यह चमत्कारिक-आध्यात्मिक ग्रंथ है। इसकी वाणी में चमत्कृति है। वस्तु में (आत्मा में) जो चमत्कृति है उसे वाणी में खुला कर दिया है।।४५०।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण बोल ७ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ **प्रश्न** : समयसार पढ़ना हो तो स्व का अवलम्बन कैसे लेवे ?

उत्तर : अवलम्बन सीधा आत्मा का ही लेना—एक ही बात! इसमें से (समयसार में से) पढ़कर निकालना तो ये है (स्व का अवलम्बन लेना)।

शास्त्र पढ़कर, समझना तो यह है कि—स्वका लक्ष करना—वह उपयोग लक्षण है, और उससे आत्मा का कल्याण है। राग से तो कल्याण नहीं—शुभ-योग से तो मोक्षमार्ग नहीं—लेकिन परावलम्बी ज्ञान से भी मोक्षमार्ग नहीं है।

क्योंकि भगवान आत्मा मुक्तस्वरूप, अबंधस्वरूप कहो या मुक्तस्वरूप कहो एकार्थ है। इस मुक्तस्वरूप के आश्रय से—लक्ष से—जो उपयोग होता है वह मुक्ति का कारण है। पर्याय में मुक्ति का वह कारण है। समकिती को भी जितना परावलम्बी ज्ञान है उसे मोक्षमार्ग नहीं कहा है।।४५१।।

(श्री प्रवचनसार, गाथा १७२, अलिंगग्रहण बोल ७ के ऊपर पू. गुरुदेव श्री के प्रवचन में से)

★ निर्मल भेदज्ञानरूप प्रकाश से स्पष्ट भिन्न देखने में आता है ऐसा इस भिन्न आत्मा का एकपना ही सुलभ नहीं है। देखो! राग से भिन्न और परलक्षी ज्ञान से भी भिन्न और अपने से अभिन्न—ऐसा आत्मा का एकपना निर्मल भेदज्ञानरूपी प्रकाश से स्पष्ट भिन्न देखने में आता है। जीव ने परलक्षी ज्ञान भी अनन्त बार किया है। ग्यारह अंग और नौ पूर्व का ज्ञान है, वह भी परलक्षी ज्ञान है। उससे आत्मा का एकपना भिन्न नहीं दिखता। राग और पर का लक्ष छोड़कर स्वद्रव्य के ध्येय व लक्ष से जो भेदज्ञान होता है, उस भेदज्ञान से आत्मा का एकपना दिखाई देता है।

जैसे प्रकाश में ही वस्तु स्पष्ट दिखती है; उसी प्रकार भेदज्ञान प्रकाश में ही आत्मवस्तु स्पष्ट रूप से भिन्न दिखाई देती है। निर्मल भेदज्ञान—प्रकाश में आत्मा का एकपना स्पष्ट देखना—यह मुद्दे की बात है। भाई ! थोडी दया पालो, भक्ति करो, व्रत करो, आदि सब व्यर्थ है।।४५२।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पैरा ३, पृष्ठ ७५)

★ राग के विकल्प और परलक्षी ज्ञान ही मानों मेरी चीज हो, ऐसी मान्यता के कारण ज्ञायक प्रकाशमान चैतन्यज्योति ढँक गई है। अपने में अनात्मज्ञपना होने से अर्थात् अपनी आत्मा के ज्ञान का अभाव होने से अन्दर प्रकाशमान चैतन्य-चमत्कार वस्तु विराजमान है उसको कभी जाना भी नहीं है और अनुभवा भी नहीं है। अपने आत्मा का एकपना नहीं जानता होने से और आत्मा को जानने वाले संतों-ज्ञानियों की संगति-सेवा नहीं करने से, भिन्न आत्मा का एकत्व कभी सुना नहीं, परिचय में आया नहीं और इसलिये अनुभव में भी आया नहीं। आत्मज्ञ संतों ने राग से और परलक्षी ज्ञान से भिन्न आत्मा का एकत्व कहा; परन्तु वह इसने माना नहीं; इसलिये उनकी संगति-सेवा करी नहीं ऐसा कहा है। गुरु ने जैसा आत्मा का स्वरूप कहा वैसा इसने माना नहीं, परन्तु बाह्य प्रवृत्ति में जीव रुक गया। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति इत्यादि के शुभ राग में धर्म मानकर रुक गया।।४५३।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पैरा २, पृष्ठ ७५)

★ परन्तु अब यहाँ, सामान्यज्ञान के आविर्भाव और विशेषज्ञान के तिरोभाव से जब ज्ञान मात्र का अनुभव करने में आता है तब ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है। देखो ! राग-मिश्रित ज्ञेयाकार ज्ञान जो (पूर्व) में था उसकी रुचि छोड़कर (पर्यायबुद्धि छोड़कर) और ज्ञायक की रुचि का परिणमन करके सामान्य ज्ञान का पर्याय में अनुभव करना उसे सामान्य

ज्ञान का आविर्भाव व विशेष ज्ञान का तिरोभाव कहते हैं। यह पर्याय की बात है। ज्ञान की पर्याय में अकेले ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान का वेदन होना और शुभाशुभ ज्ञेयाकार ज्ञान का ढँक जाना—उसे सामान्य ज्ञान का आविर्भाव और विशेष ज्ञान का तिरोभाव कहते हैं। और इस प्रकार ज्ञानमात्र का अनुभव करने में आते ही ज्ञान आनन्दसहित पर्याय में अनुभव में आता है। यहाँ "सामान्य ज्ञान का आविर्भाव" अर्थात् त्रिकाली-भाव का आविर्भाव—यह बात नहीं है। सामान्य ज्ञान अर्थात् शुभाशुभ ज्ञेयाकार रहित अकेले ज्ञान का पर्याय में प्रगटपना। अकेले ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान का अनुभव—यह सामान्य ज्ञान का आविर्भाव है। ज्ञेयाकार रहित अकेला प्रगटज्ञान वह सामान्य ज्ञान है। इसका विषय त्रिकाली है।।४५४।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पैरा १, पृष्ठ २६२)

★ तो भी जो अज्ञानी हैं—ज्ञेयों में आसक्त हैं, उनको वह स्वाद में नहीं आता है। चैतन्यस्वरूप निज परमात्मा की जिनको रुचि नहीं है, ऐसे अज्ञानी जीव —राग कि जो पर ज्ञेय है (राग वह ज्ञान नहीं है) उसमें आसक्त हैं व्रत, तप, दया, दान, पूजा, भक्ति ऐसा जो व्यवहार रत्नत्रय का परिणाम है उसमें जो आसक्त हैं, शुभाशुभ विकल्पों को जानने में जो रुक गये हैं; ऐसे ज्ञेयलुब्ध जीवों को आत्मा के अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द का स्वाद नहीं आता। शुभराग की—पुण्यभाव की जिनको रुचि है उनको आत्मा के आनन्द का स्वाद नहीं आता।।४५५।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पैरा ३, पृष्ठ २६२)

★ आत्मा का स्वाद तो अनाकुल आनन्दमय है। बनारसीदास जी ने लिखा है :—

वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावे विश्राम।
रस स्वादत सुख उपजे, अनुभौ ताको नाम।।

वस्तु जो ज्ञायक रूप है उसको ज्ञान में लेकर अन्तर में ध्यान करता है उसके मन के विकल्प-राग विश्राम को प्राप्त हो जाते हैं, हट जाते हैं, समाप्त हो जाते हैं, मन शान्त हो जाता है, तब अतीन्द्रिय आनन्द के रस का स्वाद आता है। परिणाम अन्तर्निमग्न होने पर अनाकुल सुख का स्वाद आता है, उसे अनुभव अर्थात् जैनशासन कहते हैं।।४५६।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पैरा २, पृष्ठ २६३)

★ ज्ञेयों में आसक्त हैं, वे इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हैं। जो पदार्थ इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होते हैं, वे इन्द्रियों के विषय हैं। देव, गुरु, शास्त्र, साक्षात् भगवान और भगवान की वाणी 'वे' भी इन्द्रियों के विषय हैं। समयसार गाथा ३१ में आया है कि :—

"कर इन्द्रिय जय ज्ञानस्वभाव रु अधिक जाने आत्मा को"

पाँच द्रव्येन्द्रियाँ, भावेन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ—तीनों को इन्द्रियाँ कहा जाता है। इन तीनों को जीतकर अर्थात् इनकी ओर के झुकाव-रुचि को छोड़कर इनसे अधिक अर्थात् भिन्न अपने ज्ञानस्वभाव को—अतीन्द्रिय भगवान को अनुभवना—यही जैनशासन है। अपने स्वज्ञेय में लीनता रूप ऐसी यह अनुभूति-शुद्धोपयोगरूप परिणति ही जैनशासन है।

इससे विरुद्ध अज्ञानी को परिपूर्ण जो स्वज्ञेय है उसकी अरुचि है और इन्द्रियादि के खण्ड-खण्ड ज्ञेयाकारज्ञान की रुचि व प्रीति है। वे परज्ञेयों में आसक्त हैं—इससे उन्हें ज्ञान का स्वाद नहीं आने से राग का—आकुलता का स्वाद आता है। राग का स्वाद, राग का वेदन अनुभव में आना—यह जैनशासन से विरुद्ध है, इसलिए अधर्म है। शुभक्रिया करना और इसे करते-करते धर्म हो जायेगा—ऐसी मान्यता मिथ्याभाव

है। तथा शुभाशुभ राग से भिन्न अन्तर आनन्दकंद भगवान आत्मा को ज्ञेय बनाकर ज्ञायक के ज्ञान का वेदन करना—यह जिनशासन है, धर्म है।।४५७।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पैरा ३-४, पृष्ठ २६३)

★ अलुब्ध ज्ञानियों को तो जैसे नमक की डली से अन्य द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल नमक ही का अनुभव करने पर, सर्व ओर से एक क्षाररसपने को लिए क्षारपने स्वाद में आता है; उसी प्रकार आत्मा भी, *परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल आत्मा का ही अनुभव* करने में आता हुआ सर्व ओर से एक विज्ञानघनपने के कारण मात्र ज्ञानरूप से स्वाद में आता है। तथा जैसे नमक की डली में अन्य द्रव्य के संयोग का निषेध करके केवल नमक की डली का अनुभव करने में आवे तो सर्वत्र क्षारपने को लिए हुए ये क्षारपना स्वाद में आता है नमक की डली सीधी नमक के द्वारा स्वाद में आती है, यह यथार्थ है। उसी प्रकार अलुब्ध ज्ञानियों को अर्थात् जिनको इन्द्रियों के समस्त विषयों की, जो परज्ञेय हैं उनकी आसक्ति-रुचि छूट गई है ऐसे ज्ञानियों को अपने सिवाय अन्य समस्त परद्रव्य और परभावों का लक्ष छोड़कर एक ज्ञायकमात्र चिद्घन स्वरूप का अनुभव करने से सर्वतः एक विज्ञानघनपने के कारण वह ज्ञानरूप से स्वाद में आता है। अकेला ज्ञान सीधा ज्ञान के स्वाद में आता है। यह आनन्द का वेदन है, यह जैनशासन है। इसका नाम सम्यक्दर्शन और ज्ञान की अनुभूति है।।४५८।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पैरा १, पृष्ठ २६६)

★ एक ओर स्वद्रव्य है दूसरी ओर समस्त परद्रव्य हैं। 'एक ओर राम और दूसरी ओर ग्राम'। ग्राम अर्थात् (परद्रव्यों का) समूह। अपने सिवाय जितने परद्रव्य हैं, वे ग्राम में शामिल होते हैं। परज्ञेय—पंचन्द्रियों के

विषय—फिर वे साक्षात् भगवान, भगवान की वाणी, देव, गुरु, शास्त्र औरशुभाशुभ राग ये सब ग्राम में अर्थात् परद्रव्य के समूह में आ जाते हैं। इनकी ओर लक्ष्य जाने पर राग ही उत्पन्न होता है। समोशरण में साक्षात् भगवान विराजमान हों, उनका लक्ष्य करने पर भी राग ही उत्पन्न होता है। यह अधर्म है। यह कोई चैतन्य की गति नहीं है, यह तो विपरीत गति है। मोक्षपाहुड़ में कहा है कि 'परदव्वाओ दुग्गई'। अत: परद्रव्य से उदासीन होकर एक त्रिकाली ज्ञायक भाव, जो सर्वत: ज्ञानघन है, उस एक का ही अनुभव करने पर अकेले (शुद्ध) ज्ञान का स्वाद आता है। यह जैनदर्शन है। इन्द्रियों के विषयों में राग द्वारा जो ज्ञान का अनुभव (ज्ञेयाकार ज्ञान) वह आत्मा का स्वाद—अनुभव नहीं है; यह जैनशासन नहीं है। आत्मा में भेद के लक्ष्य से जो राग उत्पन्न होता है—उस राग का ज्ञान होता है ऐसा मानना यह अज्ञान है, मिथ्यादर्शन है। एक ज्ञान के द्वारा ज्ञान का वेदन ही सम्यक् है, यथार्थ है। अहो ! समयसार विश्व का एक अजोड़ चक्षु है। यह वाणी तो देखो। सीधी आत्मा की ओर ले जाती है।।४५९।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पैरा २, पृष्ठ २६६)

★ यहाँ आत्मा की अनुभूति को ही ज्ञान की अनुभूति कहा है। अज्ञानी जीव स्वज्ञेय को छोड़कर अनन्त परज्ञेयों में ही अर्थात् आत्मा के अतीन्द्रिय ज्ञान को छोड़कर, इन्द्रियज्ञान में ही लुब्ध हो रहे हैं। निज चैतन्यघन स्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं है, ऐसे अज्ञानी परवस्तु में—परज्ञेयों में लुब्ध हैं, उनकी दृष्टि और रुचि राग आदि पर है। वे इन्द्रियज्ञान के विषयों से और राग आदि से अनेकाकार हुए ज्ञान को ही स्वपने आस्वादते हैं। यह मिथ्यात्व है। देव-गुरु-शास्त्र परद्रव्य हैं, उनकी श्रद्धा का विकल्प राग है, यह राग मिथ्यात्व नहीं है, परन्तु राग से अनेकाकार-परज्ञेयाकार

हुआ जो ज्ञान उसको अपना मानना वह मिथ्यात्व है। राग मिथ्यात्व नहीं है परन्तु उसको धर्म मानना वह मिथ्यात्व है। अज्ञानी दया, दान, व्रत, भक्ति आदि राग के ज्ञान को ही ज्ञेयमात्र आस्वादते हैं। जिन्हें ज्ञेयाकार ज्ञान की दृष्टि और रुचि है, उन्हें ज्ञेयों से भिन्न ज्ञानमात्र का आस्वाद नहीं होता। उन्हें अन्तर्मुख दृष्टि के अभाव में राग का—आकुलता का ही स्वाद आता है।।४६०।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग १, अन्तिम पैरा, पृष्ठ २६७-२६८)

★ जैनशास्त्र पढ़ना, सुनना और उनको धारणा में रखना ये कोई सम्यक्ज्ञान नहीं है। जिनवाणी तो एक तरफ रही, यहाँ तो जिनवाणी सुनने पर जो ज्ञान (विकल्प) अन्दर में होता है, वह सम्यग्ज्ञान है ऐसा भी नहीं है। द्रव्यश्रुत का ज्ञान यह तो विकल्प है। परन्तु अन्दर भगवान चिदानन्द रसकन्द है उसको दृष्टि में लेकर एकमात्र ज्ञानमात्र का अनुभवन करना यह भावश्रुतज्ञान है, यह सम्यक्ज्ञान है, यह जैनशासन है। निज स्वरूप का अनुभवन वह आत्मज्ञान है। शुद्धज्ञानरूप स्वसंवेदन ज्ञान का (त्रिकाली का) स्वसंवेदन—अनुभवन यह भावश्रुतज्ञान रूप जिनशासन का अनुभवन है।।४६१।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पैरा ३, पृष्ठ २६८)

★ ज्ञान की पर्याय में परज्ञेय भले ही ज्ञात हों, परन्तु इस ज्ञान की पर्याय का सम्बन्ध किसके साथ है? यह ज्ञेय का ज्ञान है कि ज्ञाता का? तो कहते हैं कि सर्वश्रुत को जानने वाला ज्ञान ज्ञाता का है, आत्मा का है। उस ज्ञान की पर्याय का आत्मा के साथ तादात्म्य है। वह ज्ञान आत्मा को बताता है, इसलिये वह भेदरूप व्यवहार है। व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक है। अतः जो सर्वश्रुतज्ञान को जाने वह व्यवहार श्रुतकेवली

है।।४६२।।

(श्री प्रवचनरत्नाकर, भाग १, पैरा २, पृष्ठ १२८)

★ यहाँ उपयोग की बात चलती है। उपयोग चैतन्य का चिन्ह है। उपयोग आत्मा को अवलम्बता है। आत्मद्रव्य भी ज्ञेय है, गुण ज्ञेय है और पर्याय भी ज्ञेय है, उपयोग भी ज्ञेय है। उपयोग का स्वभाव जानने, देखने का है। वह परज्ञेयों को नहीं अवलम्बता है। क्योंकि परज्ञेयों में उपयोग नहीं है। जो जिसमें नहीं होता है, उसका अवलम्बन वह किस प्रकार ले ? परज्ञेयों में किसी में भी जानने-देखने का स्वभाव अर्थात् उपयोग नहीं है इसलिए उपयोग पर का अवलम्बन ले ऐसा उपयोग का स्वभाव नहीं है।।४६३।।

(श्री अलिंगग्रहण पुस्तक में से, पैरा ४, पृष्ठ ३४-३५)

★ आत्मा को परज्ञेयों का अवलम्बन तो है ही नहीं, परन्तु उसकी ज्ञान पर्याय जो उपयोग है उसको भी ज्ञेयों का अवलम्बन नहीं है। उपयोग का स्वभाव जानना—देखना है, वह ज्ञेयों के कारण नहीं जानता है। उपयोग का ऐसा स्वरूप है—ऐसे उस ज्ञेय को तू जान। उपयोग अकारणीय है ऐसा जान। उपयोग में परज्ञेय का अभाव है तो उसका अवलम्बन किस प्रकार हो सकता है ? नहीं हो सकता। परन्तु व्यवहार का कथन आता है वहाँ जीव अज्ञान के कारण भूल कर बैठता है।।४६४।।

(श्री अलिंगग्रहण पुस्तक में से, पैरा २, पृष्ठ ३७)

★ पर पदार्थ को ही मात्र लक्ष्य में लेकर, पर के अवलम्बन से प्रगट हुआ ज्ञान वह ज्ञान ही नहीं है। निमित्तों के अवलम्बन वाला, मन के अवलम्बन वाला, इन्द्रियों के अवलम्बन वाला, पंचपरमेष्ठी के अवलम्बन वाला, शास्त्र के अवलम्बन वाला—ऐसा अकेला परलक्षी

ज्ञान को ज्ञान ही नहीं कहा है। लेकिन उसको मिथ्याज्ञान कहा है; उसे यहाँ उपयोग में लिया ही नहीं है।।४६५।।

(श्री अलिंगग्रहण पुस्तक में से, पैरा २, पृष्ठ ३९)

★ जिस उपयोग को ज्ञेयपदार्थों का अवलम्बन नहीं है परन्तु अपने आत्मा का आलम्बन है ऐसा उपयोग लक्षण वाला तेरा आत्मा है। इस प्रकार अपने स्वज्ञेय को तू जान। इस तरह तेरे आत्मा को बाह्य पदार्थों के आलम्बन वाला ज्ञान नहीं है बल्कि स्वभाव के आलम्बन वाला ज्ञान है। ऐसे अपने आत्मरूप स्वज्ञेय को तू जान।।४६६।।

(श्री अलिंगग्रहण पुस्तक में से, पैरा ४, पृष्ठ ४०)

★ अब आठवें बोल में कहते हैं कि ज्ञान पर में से नहीं लाया जाता। जो ज्ञान का व्यापार ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध स्वभाव का अवलम्बन छोड़कर निमित्त का लक्ष करे उसे ज्ञान उपयोग ही नहीं कहते हैं। जिस प्रकार इन्द्रियों से जाने वह आत्मा नहीं कहलाता उसी प्रकार उपयोग पर का अवलम्बन ले उसे उपयोग नहीं कहा जाता।।४६७।।

(श्री अलिंगग्रहण पुस्तक में से, पैरा ४, पृष्ठ ४२)

★ **प्रश्न :** शास्त्र से आत्मा को जाना और बाद में परिणाम आत्मा में मग्न हो तो इन दोनों में आत्मा को जानने में क्या फेर है?

उत्तर : शास्त्र से जो ज्ञान किया वह तो साधारण धारणारूप जानपना है, और आत्मा में मग्न होकर अनुभव में तो आत्मा को प्रत्यक्ष वेदन से जानते हैं, इसलिये इन दोनों में बड़ा फेर है, अनन्त गुणा फेर है।।४६८।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १४, बोल ३७)

★ सर्व सिद्धांत का सार में सार तो बहिर्मुखता छोड़कर अन्तर्मुख होना ये है। श्री मद्‌जी ने कहा है ना—"उपजे मोह विकल्प से समस्त यह संसार, अंतर्मुख अवलोकतां विलय थतां नहीं वार।" ज्ञानी के एक वचन में अनंती गम्भीरता भरी है। अहो ! भाग्यशाली होगा उसे इस तत्व का रस आयेगा और तत्व के संस्कार गहरे उतरेंगे।।४६९।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १५, बोल ४२)

★ **प्रश्न :** पढ़ने, सुनने और मनन करने पर भी आत्मा का अनुभव क्यों नहीं होता ?

उत्तर : पढ़ना आदि तो सर्व बहिर्मुख है ना, आत्मवस्तु पूरी अंतर्मुख है। इसलिये इसको अंतर्मुख होना चाहिए। पर को जानने वाला उपयोग स्थूल है उसको सूक्ष्म करके अंतर्मुख करने का है। अन्दर गहराई में जाय तो अनुभव हो। ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक हूँ। ध्रुव हूँ। ऐसा अन्दर में संस्कार डाले तो आत्मा का लक्ष होकर अनुभव होवे ही।।४७०।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ २०, बोल ६६)

★ श्रुत की जो वाणी है वह अचेतन है, उसमें ज्ञान नहीं आता। इसलिये भगवान आत्मा और द्रव्य श्रुत भिन्न हैं, अर्थात् कि द्रव्य श्रुत से आत्मा को ज्ञान नहीं होता है। द्रव्य श्रुत का ज्ञान भी वास्तव में अचेतन है, क्योंकि वह परलक्षी ज्ञान है, स्वलक्षी ज्ञान नहीं है। द्रव्य श्रुत जड़ वाणी वो आत्मा नहीं है और उसको सुनने से जो ज्ञान होता है वह परलक्षी ज्ञान होने से वह ज्ञान नहीं है। स्वभाव को स्पर्श करके होने वाला ज्ञान वह ज्ञान है। द्रव्य श्रुत तो जड़ है। परन्तु उसके निमित्त से जो ज्ञान होता है वह परसत्तावलंबी ज्ञान होने से वह ज्ञान नहीं है। द्रव्य श्रुत के ज्ञान से आत्मा भिन्न है।।४७१।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ २४, बोल ७४)

★ ज्ञान के क्षयोपशम का वजन नहीं परन्तु अनुभूति का वज़न है इसलिये कहते हैं कि आत्मा के अनुलक्ष्य से आत्मा के स्वाद का अनुभव होना ये अनुभूति है और बारह अंग में भी अनुभूति का वर्णन किया है—अनुभूति करने के लिये कहा है। अनाकुल ज्ञान और अनाकुल आनन्द का अनुभव करना ऐसा बारह अंग में कहा है। शुद्ध आत्मा की दृष्टि करके स्थिरता करना ऐसा उसमें कहा है। बारह अंग से ज्यादा श्रुत ज्ञान नहीं होता। उसमें चारों अनुयोग का ज्ञान आ जाता है—ऐसे उत्कृष्ट बारह अंग का ज्ञान वह मोक्षमार्ग नहीं है। बारह अंग वाले को सम्यग्दर्शन होता ही है—सम्यग्दर्शन बिना बारह अंग का ज्ञान होता ही नहीं है। लेकिन वह क्षयोपशम ज्ञान, मोक्षमार्ग नहीं है परन्तु अनुभूति वह मोक्षमार्ग है। इतना ज्यादा उघाड़ हुआ इसलिये मोक्षमार्ग बढ़ गया ऐसा नहीं है।।४७२।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ २६, बोल ७९)

★ **प्रश्न** : ज्ञान का स्वभाव जानने का ही है तो अपने (आत्मा) को क्यों नहीं जानता ?

उत्तर : इसका स्वभाव अपने को जानने का है परन्तु अज्ञानी की दृष्टि पर ऊपर है। इसलिये स्वयं जानने में नहीं आता। पर में कहीं ना कहीं अधिकता पड़ी है इसलिये दूसरे को अपने से अधिक मानता होने से स्वयं (आत्मा) जानने में नहीं आता। अधिकपने का इसका वजन पर में जाता है इसलिये आत्मा जानने में नहीं आता।।४७३।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ ३०, बोल ९१)

★ १२ अंग के ज्ञान को भी स्थूल ज्ञान कहा है कि जो बारह अंग का ज्ञान लिखने पर भी लिख नहीं सकते, पढ़ने पर भी पढ़ नहीं सकते।

सुनकर भी कह नहीं सकते। फिर भी इस ज्ञान को स्थूल ज्ञान कहा है। जो ज्ञान राग को भिन्न करके, पर्याय को भगवान बनाता है उस ज्ञान को भगवती प्रज्ञा कहते हैं। सम्यग्ज्ञान कहते हैं। इस भगवती प्रज्ञा के द्वारा भव का अंत आता है।।४७४।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ ३३, बोल १०४)

★ सम्यग्दर्शन में क्षयोपशम ज्ञान है वह कैसा है—कि निर्विकार-स्वसंवेदन लक्षण वाला है, ऐसा कहकर इसमें कहते हैं कि शास्त्र ज्ञान है वो कार्य नहीं करेगा परन्तु निर्विकारी स्वसंवेदन ज्ञान है वह कार्य करता है। उसको यहाँ क्षयोपशम ज्ञान कहा है। सम्यग्दर्शन होने पर जो ज्ञान है वह क्षयोपशम ज्ञान है, भले क्षायक सम्यग्दर्शन हो तो भी ज्ञान तो क्षयोपशम ज्ञान है।।४७५।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ ३६, बोल ११९)

★ निश्चय मोक्षमार्ग है वह निर्विकल्प समाधि है। उससे उत्पन्न हुआ अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव जिसका लक्षण है ऐसा स्वसंवेदन ज्ञान वह ज्ञान है। शास्त्र ज्ञान वह ज्ञान नहीं है। परन्तु निर्विकल्प-स्वसंवेदन लक्षण वह ज्ञान है। सुखानुभूति मात्र लक्षण स्वसंवेदन ज्ञान से आत्मा जानने में आवे ऐसा है। इसके बिना ज्ञात हो ऐसा नहीं है। निर्विकारी स्वसंवेदन ज्ञान से जानने में आवे ऐसा है, परन्तु भगवान की वाणी से जानने में आवे ऐसा नहीं है। भगवान की भक्ति से जानने में आवे ऐसा नहीं है। आनन्द की अनुभूति के स्वसंवेदन ज्ञान से ज्ञात होऊँ ऐसा मैं हूँ। और सर्व आत्मायें भी उनके स्वसंवेदन ज्ञान से उनको जानने में आवें ऐसे हैं।।४७६।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ ३६, बोल १२०)

★ ज्ञान की दशा में अनुभूतिस्वरूप भगवान जानने में आता है फिर भी तू उसे क्यों नहीं जानता ? अरे रे !! ज्ञान की दशा में भगवान ज्ञात होने पर भी अनादि से विकल्प के वश होकर रहने से भगवान जानने में नहीं आता। ज्ञानरूपी दर्पण की स्वच्छता में भगवान आत्मा ज्ञात होने पर भी अपने को खबर क्यों नहीं पड़ती ? कि राग के विकल्प के वशीभूत होने से उसकी नजर में राग आता है। इसलिए भगवान जानने में आने पर भी जानने में नहीं आता। अज्ञानी अनादि से दया-दान आदि विकल्प के वशीभूत हो जाने से ज्ञान की वर्त्तमान दशा में अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा जानने में आ रहा है तो भी उसको जानने में नहीं आता।।४७७।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ ४०, बोल १३१)

★ जो कुछ शास्त्र का ज्ञान होता है उसमें शब्द निमित्त हैं इसलिए उस ज्ञान को शब्द श्रुतज्ञान कहते हैं परन्तु वह आत्मज्ञान नहीं है। **वास्तव में तो शब्दश्रुतज्ञान में ज्ञान का जो परिणमन है वह आत्मा का परिणमन ही नहीं है**, क्योंकि जैसे पुद्गल की ठंडी-गरम आदि अवस्था ज्ञान कराने में निमित्त है तो भी शीत-उष्णपने परिणमना वह ज्ञान का कार्य नहीं है, वह तो पुद्गल का कार्य है, उसी प्रकार नौ तत्व की श्रद्धा, शास्त्र का ज्ञान और व्यवहार चारित्र यह तीनों राग हैं ने, आत्मा का रागपने परिणमना अशक्य है।।४७८।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ ४३, बोल १४१)

★ जिस ज्ञान में शब्दश्रुत आधार है किन्तु आत्मा आधार नहीं है, वह शब्दश्रुतज्ञान है, उससे आत्मज्ञान नहीं होता है। शब्दश्रुत को जानने का जितना विकल्प है, वह ज्ञान परलक्षी है। वीतराग के शास्त्रों का ज्ञान है वह परलक्षी ज्ञान होने से परलक्षी ज्ञान का निषेध किया है।।४७९।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ ४३, बोल १४२)

★ जैसे भक्ति आदि बंध का कारण है वैसे ही शास्त्रज्ञान भी पुण्यबंध का कारण है। लेकिन उसमें से निकलकर ज्ञायक का अनुभव करना वह मोक्ष का कारण है। शास्त्र क्या कहते हैं? आचारांगादि में क्या कहा है?—कि आत्मा का अनुभव करो। पर से, राग से भिन्न वस्तुभूत ज्ञानमयी आत्मा का ज्ञान करना वह शास्त्र पढ़ने का गुण है किन्तु अभवी को उसका अभाव होने से वह अज्ञानी है, आत्मा शुद्ध ज्ञानमयी है कि जो शास्त्रज्ञान के विकल्प से भी रहित है। ऐसे आत्मा का जिसको ज्ञान नहीं है उसने शास्त्र पढ़े तो भी क्या?।।४८०।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ ४५, बोल १५०)

★ **प्रश्न :** सम्यग्दृष्टि का उपयोग पर में हो तब स्व प्रकाशक है?

उत्तर : सम्यग्दृष्टि का उपयोग पर में हो तब भी (ज्ञान) स्वप्रकाशक है परन्तु उपयोगरूप परप्रकाशक के समय उपयोगरूप स्वप्रकाशक नहीं होता है और जब उपयोगरूप स्वप्रकाशक होता है तब उपयोगरूप परप्रकाशक नहीं होता, तो भी ज्ञान का स्वभाव तो स्व-परप्रकाशक ही है।।४८१।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ ४७, बोल १५८)

★ **प्रश्न :** ज्ञान विभावरूप परिणमता है?

उत्तर : ज्ञान में विभावरूप परिणमन नहीं है। ज्ञान स्व-परप्रकाशक स्वभावी है तो भी जो ज्ञान स्व को नहीं प्रकाशे और अकेले पर को प्रकाशे वह ज्ञान का दोष है।।४८२।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ ५४, बोल १८४)

★ **प्रश्न :** मिथ्या श्रद्धा के कारण ज्ञान विपरीत कहा जाता है?

उत्तर : मिथ्या श्रद्धा के कारण ज्ञान को विपरीत कहना यह तो निमित्त से कथन हुआ। ज्ञान स्वप्रकाशक होने पर भी स्व को नहीं प्रकाशता वह ज्ञान का अपना दोष है।।४८३।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ ५४-५५, बोल १८५)

★ कागज पर (बना हुआ) दीपक घास को नहीं जलाता वैसे ही अकेले शास्त्र के ज्ञान से संसार नहीं जलता।।४८४।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ ५८, बोल २०५)

★ भगवान आत्मा ज्ञायक स्वरूप से विराजमान है उसको अतीन्द्रिय ज्ञान से जानना होता है परन्तु उसको इन्द्रियों द्वारा जानना नहीं होता है। इन्द्रियों द्वारा जानने का कार्य उसको नहीं होता है। उसको अर्थात् कि ज्ञायक आत्मा को लिंगों द्वारा अर्थात् पाँच इन्द्रियों द्वारा जानना नहीं होता। इन्द्रियों द्वारा जानने का कार्य करे वह आत्मा नहीं है, इन्द्रियाँ अनात्मा हैं, इसलिए उनके द्वारा जानने का कार्य करे वह ज्ञान ही अनात्मा है। शास्त्र सुने और उसके द्वारा जो ज्ञान हो, उस ज्ञान को आत्मा नहीं कहते। शास्त्र सुनने पर जो ख्याल में आये कि ऐसा कह रहे हैं—ऐसा जो जानपना हुआ वह इन्द्रियों द्वारा हुआ होने से उसको आत्मा नहीं कहते।।४८५।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ ६७, बोल २५५)

★ अतीन्द्रिय ज्ञानमयी आत्मा है, इन्द्रियज्ञानमयी नहीं है। इन्द्रियों से शास्त्र वाँचे, सुने, वह ज्ञान, अतीन्द्रियज्ञान नहीं है, वह आत्मज्ञान नहीं है, वह तो खण्ड-खण्ड ज्ञान है। ११ अंग और नव पूर्व का ज्ञान परसत्तावलंबी ज्ञान है। वह बंध का कारण है। यहाँ परमात्मा ऐसा फरमाते हैं कि प्रभु! एक बार तो सुन, आत्मा को अतीन्द्रिय ज्ञान से जानना होता है, इन्द्रियज्ञान से जानना हो वह आत्मा नहीं है।।४८६।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ ६७, बोल २५६)

★ इन्द्रियज्ञान का जिसको रस चढ़ा है उसे अतीन्द्रियज्ञान नहीं होता।।४८७।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ ६८, बोल २५७)

★ परमात्मा फरमाते हैं कि प्रभु ! तेरी ज्ञान की पर्याय में सदा स्वयं आत्मा स्वयं ही अनुभव में आता है। ज्ञान की प्रगट दशा में सर्व को भगवान आत्मा अनुभव में आता है।

अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा अनुभव में आने पर भी तू उसको देखता नहीं है। कारण ? कि पर्यायबुद्धि के वश हो जाने से परद्रव्यों के साथ एकत्वबुद्धि से स्वद्रव्य को देख नहीं सकता।।४८८।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ ९२-९३, बोल ३५२)

★ (परसन्मुख ज्ञान में हुए परलक्ष छुड़ाने के लिए और अपना स्वरूपअस्तित्व वेद्य-वेदकपने जानने योग्य है, इस न्याय से) ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्धी भी जीव को भ्रान्ति रह रही है कि छह द्रव्य वह ज्ञेय और आत्मा उनका ज्ञायक है। परन्तु जीव से भिन्न पुद्गल आदि छह द्रव्य वह ज्ञेय और आत्मा उनका ज्ञायक है ऐसा निश्चय से नहीं है। अरे ! राग वह ज्ञेय और आत्मा ज्ञायक, ऐसा भी (पर सन्मुखपने) नहीं है। परद्रव्यों से लाभ तो नहीं है। परन्तु परद्रव्य ज्ञेय और उनका तू ज्ञायक हो ऐसा भी वास्तव में नहीं है। मैं जाननहार हूँ; मैं ही जानने योग्य हूँ; मैं ही मेरे को जनाने' हूँ। अपने अस्तित्व में जो है वही स्वज्ञेय है ऐसा परमार्थ बताकर पर तरफ का लक्ष छुडाया है।।४८९।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १०३, बोल ३८३)

★ अपनी अपेक्षा से दूसरे द्रव्य असत् हैं। स्वयं ही सत् है। स्वयं ही अपना ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानरूप सत् है। इसलिए अपने सत् का ज्ञान

करना। अपने सत् का ज्ञान करने पर अतीन्द्रिय आनन्द की झलक आये बिना रहती ही नहीं है। और आनन्द नहीं आवे तो उसने अपने सत् का साँचा ज्ञान किया ही नहीं। मूल तो अन्तर में झुकना यह ही सर्व सिद्वान्त का सार है।।४९०।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १०४, बोल ३८४)

★ यह आत्मा है वह ज्ञायक अखण्ड स्वरूप है। उसमें राग, कर्म या शरीर तो उसके नहीं हैं परन्तु पर्याय में खण्ड-खण्ड ज्ञान है वह भी उसका नहीं है। जड़-इन्द्रिय तो उसके नहीं हैं परन्तु भाव-इन्द्रिय और भावमन भी उसके नहीं हैं। एक-एक विषय को जानने वाली ज्ञान की पर्याय है वह खण्ड-खण्ड ज्ञान है। यह पराधीनता है, परवशता है, यह दु:ख है।।४९१।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १०४, बोल ३८५)

★ यहाँ तो जो ज्ञान आत्मा के लक्ष से होता है उसे ही ज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान इन्द्रियों के लक्ष से होता है, शास्त्र के लक्ष से होता है उसको ज्ञान नहीं कहते। त्रिकाली ज्ञायक भगवान के आश्रय बिना ग्यारह अंग के ज्ञान को भी ज्ञान नहीं कहते। यह खण्ड-खण्ड ज्ञान है वह दु:ख का कारण है। चैतन्यज्ञानपिंड को ध्येय बनाकर जो ज्ञान होता है वह ज्ञान भले थोड़ा हो तो भी वह सम्यग्ज्ञान है। ऐसे सम्यग्ज्ञान बिना का खण्ड-खण्ड ज्ञान से हजारों लोगों को समझाना आता हो तो भी वह ज्ञान अज्ञान है। और वह खण्ड-खण्ड ज्ञान पराधीन होने से दु:ख है। परसत्तावलंबी ज्ञान को ज्ञान नहीं कहते।।४९२।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १०५, बोल ३८९)

★ अहो ! यह आत्म तत्व तो गहन है। इसको आँखें बंद करके, बाहर की पाँच इन्द्रियों का व्यापार बंद करके, मन के द्वारा विचार करे कि

अहो! यह आत्म वस्तु अचिंत्य है। ज्ञायक... ज्ञायक... ज्ञायक ही है—ऐसे विकल्प द्वारा निर्णय करे यह भी अभी परोक्ष निर्णय है। परोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष स्वानुभव नहीं हुआ इसलिए इसको परोक्ष कहा है। मन से बाहर का बोझा बहुत घटा देवे तब मन से अन्दर के विचार में रुके और फिर वहाँ से भी हटकर अन्दर स्वभाव की महिमा में रुके और आनन्द का अनुभव हो उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं। ऐसा वस्तु का स्वरूप है। और उसकी प्राप्ति का यह उपाय है। इसमें कहीं उलझन जैसा नहीं है। स्वभाव का आश्रय तो उलझन को टाल देता है। अभी लोग बाह्य क्रियाकांड में चढ़ गये हैं उनके पास तो मन से भी सच्चा निर्णय करने का समय नहीं है।।४९३।।

(श्री परमागमसार. पष्ठ १०७, बोल ३९५)

★ यह आत्मा प्रत्यक्ष है। जैसे सामने कोई चीज प्रत्यक्ष होती है ने? वैसे ही यह आत्मा प्रत्यक्ष है। उसको देख!! ऐसा आचार्यदेव फरमाते हैं। यह शरीर है, परिवार है, धन, मकान, वैभव है ऐसा तू देखता है, परन्तु ये सब तो तेरे से अत्यन्त भिन्न परद्रव्य हैं। उनसे भिन्न यह आत्मा-स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। उसको देख। तो तेरे मोह का तुरन्त नाश हो जायेगा।।४९४।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ ११२-११३, बोल ४१४)

★ भाई! तू सावधान रहना! (चेतकर रहना।) मुझे समझदारी है—इस समझ के गरमाव में—अभिमान में नहीं चढ़ना। विभाव के रस्ते तो अनादि से चढ़ा ही है। ग्यारह अंग के ज्ञान में, धारणा में तो सब आ गया था परन्तु शास्त्र के धारणा—ज्ञान की अधिकता की, किन्तु आत्मा की अधिकता नहीं की। धारणा ज्ञान आदि के अभिमान से बचाने

के लिए गुरु चाहिए। मस्तक पर टोकने वाला गुरु चाहिए।।४९५।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ ११५, बोल ४२१)

★ प्रभु ! मैं समझता हूँ ऐसी समझदारी के अभिमान से दूर रहना अच्छा है। बाह्य प्रसिद्धि के भाव से—बाह्य प्रसिद्धि के प्रसंगों से दूर भागने में आत्मार्थी को लाभ है। तुझे जानकारी है इस कारण लोग मान-सम्मान-सत्कार करें तो भी इन प्रसंगों से आत्मार्थी को दूर भागना अच्छा है। ये मान-सम्मान के प्रसंग नि:सार हैं, कुछ लाभ के नहीं हैं। एक आत्मस्वभाव ही सारभूत एवं हितकारी है। इसलिए समझदारी, जानकारी के अभिमान से दूर भागकर आत्मसन्मुख ही झुकने जैसा है।।४९६।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ ११५, बोल ४२२)

★ सदा अन्तरंग में चकचकाट ज्योति प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वत:सिद्ध तथा परमार्थसत् परम पदार्थ ऐसा भगवान ज्ञान स्वभाव है। उसके अवलम्बन से इन्द्रियों का जीतना होता है, उसे संत जितेन्द्रिय कहते हैं।।४९७।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ ११६, बोल ४२४)

★ **प्रश्न :** आत्मा परोक्ष है तो कैसे ज्ञात हो ?

उत्तर : आत्मा प्रत्यक्ष ही है। पर्याय अन्तर्मुख होवे तो आत्मा प्रत्यक्ष है ऐसा ज्ञात होता है। बहिर्मुख पर्याय वाले को आत्मा प्रत्यक्ष नहीं लगता है। प्रत्यक्ष दिखता नहीं है तो भी आत्मा प्रत्यक्ष ही है। उसके सन्मुख होकर देखे तो ज्ञात होता है।।४९८।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ ११८, बोल ४३२)

★ 'चलो सखि वहाँ जइये,
जहाँ अपना नहीं कोई,
शरीर भखे जनावरा,
मरे रोवे न कोई'

आहाहा ! संग से दूर हो जा ! संग में रुकने जैसा नहीं है। गिरी गुफा में अकेला चला जा ! यह मार्ग अकेले का है। स्वभाव के संग में आया उसे शास्त्र संग भी नहीं रुचता है। आहाहा ! अन्दर की बातें बहुत सूक्ष्म हैं भाई ! क्या कहें ?।।४९९।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ ११९, बोल ४३३)

★ परिणाम को परिणाम द्वारा देख ऐसे नहीं, परन्तु परिणाम द्वारा ध्रुव को देख। पर्याय से पर को तो ना देख, पर्याय को भी ना देख किन्तु भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु उसको पर्याय से देख। उसको तू देख। अपनी दृष्टि वहाँ लगा। छह महीना ऐसा अभ्यास कर। अंतर्मुख तत्व को अंतर्मुख पर्याय द्वारा देख। अन्दर में प्रभु परमेश्वर स्वयं विराजता है। उसको एक बार छह माह तो तपास कि यह क्या है ? अन्य चपलता और चंचलता को छोड़कर, अन्दर भगवान पूर्णानन्द का नाथ सिद्ध समान प्रभु है उसको छह माह तपास (खोज) !।।५००।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १२०, बोल ४३८)

★ **प्रश्न :** आत्मा का साक्षात्कार करना है परन्तु कैसे करें ? वह पुरुषार्थ शुरू नहीं होता।

उत्तर : चैतन्य स्वभाव की महिमा कोई अचिंत्य है ऐसी अन्दर से महिमा आवे तो स्वसन्मुख पुरुषार्थ शुरू होवे। वास्तव में तो जो पर्याय परलक्षी है उसे स्वलक्षी करना इसमें महान पुरुषार्थ है। भाषा भले थोड़ी

हो कि द्रव्य की ओर झुक, ध्रुव तरफ झुक—ऐसे भाषा सरल एवं संक्षिप्त हो तो भी इसमें पुरुषार्थ महान है। भले शास्त्र ज्ञान करे, धारणा-ज्ञान कर ले तो भी पर्याय को स्वलक्ष में झुकाना इसमें अनन्त पुरुषार्थ है। महान अपूर्व पुरुषार्थ है।।५०१।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १२२-१२३, बोल ४४६)

★ आत्मा को जानने के लिए परिणाम को सूक्ष्म कर, स्थूल परिणाम से द्रव्य जानने में नहीं आता। अज्ञानी को ग्यारह अंग का ज्ञान हो जाता है तो भी उसका उपयोग सूक्ष्म नहीं है, स्थूल है। आत्मा स्थूल परिणामों से जानने में नहीं आता है। सूक्ष्म ऐसे आत्मा को जानने के लिए उपयोग को सूक्ष्म करना पडता है।।५०२।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १२३-१२४, बोल ४४९)

★ भगवान की वाणी से नहीं, उसके निमित्त से होने वाले परलक्षी ज्ञान उससे भी नहीं, परन्तु स्वलक्षी जो भावश्रुतज्ञान उससे आत्मा जानने में आता है। जिस ज्ञान द्वारा आत्मा जानने में आता है वह भावश्रुतज्ञान पर की अपेक्षा बिना का है। श्रुत भी अतिरिक्त है (नकामा है) उसी तरह श्रुत से होने वाला ज्ञान भी अतिरिक्त है। मतलब कि उसकी अपेक्षा भावश्रुतज्ञान को नहीं है। ऐसे भावश्रुतज्ञान से आत्मा को जाने या केवलज्ञान से आत्मा को जाने लेकिन इस जानने में—अनुभवन में फरक नहीं है। इसलिए ज्ञान में श्रुत-उपाधिकृत भेद नहीं है। श्रुतज्ञान कहा इसलिए उसमें श्रुत-उपाधिकृत भेद है—ऐसा नहीं है।।५०३।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १२६, बोल ४५७)

★ भगवान की वाणी वह श्रुत है—शास्त्र है, शास्त्र पौद्गलिक है इसलिए वह ज्ञान नहीं, उपाधि है और इस श्रुत से होने वाला ज्ञान वह भी उपाधि है, क्योंकि वह श्रुत के लक्ष वाला ज्ञान परलक्षी ज्ञान है।

परलक्षी ज्ञान स्व को नहीं जान सकता है। इसलिए उसको भी श्रुत की तरह उपाधि कहा है। जैसे सत्-शास्त्र वह ज्ञान नहीं है, अतिरिक्त चीज है—उपाधि है वैसे ही इस श्रुत से होने वाला ज्ञान भी अतिरिक्त चीज है—उपाधि है। आहाहा ! क्या वीतराग की शैली है। परलक्षी ज्ञान को भी श्रुत की तरह उपाधि कहते हैं। स्वज्ञान रूप ज्ञप्ति क्रिया से आत्मा जानने में आता है। भगवान् की वाणी से आत्मा जानने में नहीं आता है।।५०४।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १२७, बोल ४६०)

★ **प्रश्न :** तत्व का स्वरूप बराबर ज्ञात होने पर भी जीव क्या कारण से अटका रहता है ?

उत्तर : तत्व को बराबर जानने पर भी परतरफ के भाव में गहरी-गहरी रुचि रह जाती है, परलक्षी ज्ञान में संतोष हो जाता है अथवा समझ के अभिमान में अटक जाता है। बाहर की प्रसिद्धि के भाव में अटक जाता है। अन्दर रहने का भाव नहीं है। इसलिए अटक जाता है अथवा शुभ परिणाम में मिठास रह जाती है। ऐसे विशेष प्रकार की पात्रता के बिना जीव अनेक प्रकार से अटक जाते हैं।।५०५।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १३२-१३३, बोल ४७७)

★ आत्मा का निर्विकल्प अनुभव करने का इच्छुक जीव प्रथम शुद्धनय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, परद्रव्य की ममता से रहित हूँ, ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण वस्तु हूँ—ऐसा निश्चय करता है। इस निर्णय में पाँच इन्द्रियों के विकल्प से दूर हुआ है और मन के विकल्प में आया है परन्तु यह मन के विकल्पों को भी छोड़ने को आया है। उससे आगे बढ़कर मन सम्बन्धी विकल्पों को शीघ्र ही छोड़कर निर्विकल्प होता है।।५०६।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १३५, बोल ४८५)

★ करोड़ों श्लोक धारणा में रखे, परन्तु अन्दर में गहरे-गहरे पर तरफ के झुकाव में कहीं न कहीं सुखबुद्धि पड़ी है। पर तरफ का ज्ञान है ये परसत्तावलंबी ज्ञान है उसमें प्रसन्न होता है कि बहुत से ज्यादा लोगों को समझा दूँ और लोग खुश हो जावें—ऐसी सुख की कल्पना रह जाती है। धारणा में यथार्थ जानपना होने पर भी अन्दर में अयथार्थ प्रयोजन है इसलिए सम्यग्दर्शन नहीं होता है।।५०७।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १३७, बोल ४९१)

★ दुनिया की बातों का जिसको रस है उसको यह बात बैठनी कठिन लगती है और जिसको इस बात का रस लग जाता है उसको अन्य में रस नहीं लगता है। ऐसे ही जिसको इन्द्रियज्ञान का रस चढा है उसको अतीन्द्रिय ज्ञान प्रगट नहीं होता है। जैसे राग वह व्यभिचार है वैसे ही इन्द्रियज्ञान का रस वो भी व्यभिचार है।।५०८।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १४०, बोल ५०३)

★ उपयोग नाम का लक्षण कहा; किसका लक्षण कहा ? कि जीव का, आत्मा का। अभी आत्मा का जो लक्षण है वह निमित्त के अवलम्बन से होवे वह लक्षण ही नहीं है। भाई ! यह तो धीरज से समझने की बात है। आत्मा का लक्षण उपयोग है, लक्ष्य आत्मद्रव्य है। अब इस उपयोग नाम के लक्षण द्वारा जो लक्षण लक्ष को जाने, ऐसे लक्षण में परज्ञेय को जानने का जो अवलम्बन होता है वह उपयोग जीव का नहीं है।।५०९।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १४४ बोल ५१५)

★ कितने ही लोग अभी शुभराग को मोक्षमार्ग मानते हैं। उनसे कहते हैं कि प्रभू ! तू कहाँ गया ? क्या करता है ? यहाँ तो परलक्ष वाला ज्ञान वह जीव का नहीं है, तो परलक्ष वाला राग है वह जीव को लाभ करे यह बात कहाँ रही ? अरे प्रभु ये क्या करता है ? सत्य सूनने को मिला नहीं है।

*ज्ञानी ऐसा मानता है कि—मैं नाक से नहीं सूंघता हूँ

अरे ! इसकी प्रभुता, इसकी चमत्कृति शक्तियाँ ! और चमत्कारिक इसकी पर्यायें !!! इनकी इसको खबर नहीं है। ऐसा जो भगवान आत्मा उसकी गहराई की क्या बात करना ! पाताल कुएँ में जैसे पानी गहराई में से निकलकर बाहर आता है वैसे ही लक्ष्य के कारण से (आत्मा के लक्ष से) जो ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञान के पाताल कुएँ में से आनन्द का फुव्वारा छूटता है।।५१०।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १४४-१४५, बोल ५१६)

★ जिस ज्ञान के साथ में आनन्द नहीं आवे वह ज्ञान ही नहीं है, परन्तु अज्ञान है।।५११।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १७३, बोल ६३०)

★ ज्ञान, जगत में सर्व जीवों को स्व-अनुभव से नक्की है। जब स्वाश्रयी ज्ञान के द्वारा—अंतर्मुख ज्ञान के द्वारा आत्मा को जाने तब आत्मा को यथार्थपने जाना है—ऐसा कहने में आता है। परलक्ष वाले ज्ञान को तथा ग्यारह अंग के शास्त्र ज्ञान को आत्मा का ज्ञान नहीं कहा है। जिसका लक्षण (स्वरूप) नक्की करना है उस लक्ष्यरूप आत्मा को ही अवलम्बन लेकर जाने वही ज्ञान है। निमित्त-राग-व्यवहार का अवलम्बन लेकर जाने वह ज्ञान नहीं है। आचार्यदेव को परवस्तु का जानपना प्रसिद्ध नहीं करना है। जो स्वलक्षणरूप ज्ञान के द्वारा आत्मा को जाने उसकी प्रसिद्धि सम्यक् है। देखो, इस प्रकार से भी अंतर्मुख होने की बात है।।५१२।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १७७, बोल ६४०)

★ जिसके द्वारा ज्ञात हो उसे लक्षण कहते हैं। ज्ञान के द्वारा आत्मा ज्ञात होता है, इसलिए ज्ञान द्वारा आत्मा का निर्णय होता है। पुण्य-पापादि, शरीर आदि ज्ञान के द्वारा नक्की करने योग्य नहीं हैं; परन्तु ज्ञान के द्वारा आत्मा नक्की करने योग्य है। ज्ञान लक्षण पुण्य-पाप का, कि देव-गुरु-

शास्त्र का नहीं है। यह ज्ञान तो लक्ष्य ऐसे आत्मा का लक्षण है; ज्ञान है वहाँ उसके साथ अनन्त गुण हैं। ज्ञान जिसका लक्षण है ऐसे नक्की करने पर अनन्त गुण वाला आत्मा नक्की हो जाता है, ये ही साध्य है।।५१३।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १७६, बोल ६४१)

★ ज्ञानद्वार में स्वरूप शक्ति को जानना। लक्षण ज्ञान और लक्ष्य आत्मा अपने ज्ञान में भासता है तब सहज आनन्दधारा बहती है वह अनुभव है।।५१४।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १९४, बोल ७१०)

★ छद्मस्थ का उपयोग एक तरफ होता है। उपयोग पुण्य-पाप की ओर है तब स्व-अनुभव में नहीं है। स्वानुभूति ज्ञान की पर्याय है। सम्यग्दर्शन को उपयोगरूप स्वानुभूति के साथ विषम व्याप्ति है। सम्यग्दर्शन होने पर भी ज्ञान स्व में उपयोगरूप होवे अथवा ना होवे। इसलिए सम्यग्दर्शन और स्वज्ञान के व्यापार में विषम व्याप्ति है। स्वज्ञान लब्ध रूप तो होता है परन्तु सदा उपयोगरूप नहीं होता है।।५१५।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १९५, बोल ७१४)

★ **प्रश्न :** निर्विकल्प दशा के काल में स्व-परप्रकाशक स्वभाव को कोई बाधा आती है?

उत्तर : निर्विकल्पना के काल में ज्ञान ज्ञान को जानता है और आनन्द को भी जानता है इसलिए वहाँ भी स्व-परप्रकाशकपना है। आनन्द को जानना वह ज्ञान की अपेक्षा से पर है। निर्विकल्प दशा में स्वज्ञेय एक ही आया ऐसा नहीं है। ज्ञान के साथ आनन्द का ख्याल आता है। स्वयं ज्ञान को जानता है वह स्व और आनन्द को पर तरीके जानता है। इस प्रकार स्व-परप्रकाशक स्वभाव वहाँ भी रहता है।।५१६।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ १९६, बोल ७१५)

★ **प्रश्न :** स्व-परप्रकाशक स्वभाव में दो-पना आता है या एकपना ?

उत्तर : शक्ति एक है, एक पर्याय में अखण्डपना है, दो-पना नहीं है। स्व-परप्रकाशक का सामर्थ्यपना एक है। भेद करके दो-पना कहा जाता है।।५१७।।

(श्री परमागमसार, पृष्ठ २४०, बोल ८७०)

★ अनादि मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान के कारण इन्द्रियों से ही जानता हूँ—ऐसा अज्ञानी मानता है। इसीलिए इन्द्रियों की प्रीति नहीं छूटती है। मेरा स्वभाव अनादि अनन्त ज्ञान स्वभाव है—उसकी दृष्टि नहीं होने के कारण मैं इन्द्रियों के द्वारा जानता हूँ, मेरा ज्ञान मेरे से होता है—ऐसा नहीं जानता, (नहीं मानता)। इन्द्रियों के द्वारा जानता हूँ ऐसा मानकर इन्द्रियों की प्रीति करता है। स्वभाव की प्रीति नहीं करता। इन्द्रिय, मन मेरे अंग हैं—यही मैं हूँ—ऐसा मानकर अज्ञानी जीव इन्द्रियों की रुचि नहीं छोड़ता और अतीन्द्रिय स्वभाव की रुचि नहीं करता।।५१८।।

(श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक, अधिकार तीसरा, पू. गुरुदेव श्री का प्रवचन, श्री सद्गुरु प्रवचन-प्रसाद नं. ३२ में से, पृष्ठ २२८)

★ ज्ञान की स्व-परप्रकाशक पर्याय नृत्य के समीप नहीं जाती है। नृत्य के सामने देखती नहीं है। नृत्य के सामने देखने का अर्थ क्या है ? पर तो पर में परिणमता है। **अपने ज्ञान में प्रवर्तती हुई पर्याय अपने को जानती है**—ऐसा नहीं मानकर मैं पर को देखता हूँ (जानता हूँ)—ऐसी मान्यता मिथ्या है। (मिथ्यात्व है)। अज्ञानी कहता है कि मैंने स्त्री, आँख, हाथ, चेष्टा वगैरहा को देखा परन्तु वास्तव में वह ज्ञान की—स्व-परप्रकाशक पर्याय ही खिली है (ज्ञात हुई है) वह भी परपदार्थ हैं इसलिए नहीं, पर के कारण नहीं, पर के सामने देखा इसलिए नहीं। मेरी

ज्ञानपर्याय मेरे से प्रकट होती है—ऐसा मानना चाहिए।।५१९।।

(श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक, अधिकार तीसरा, पू. गुरुदेव श्री का प्रवचन, श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. ३२ में से पृष्ठ २२९)

★ वह ज्ञान रूप को नहीं जानता है। जड पदार्थ ज्ञान में नहीं आते हैं, ज्ञान अजीव की पर्याय में नहीं जाता है, अरूपी ज्ञान रूपी पर्याय को स्पर्शता नहीं है। यह रूपी नृत्य तो पर में है। उस पर्याय सम्बन्धी का और स्वपर्याय सम्बन्धी का ज्ञान पर की अर्थात् नृत्य पर्याय की नास्तिपने प्रवर्तता हुआ स्व के सद्भाव रूप से और पर के अभावरूप से परिणमता है। फिर भी पर के कारण परिणमता है—ऐसा मानना वह अपनी प्राणहिंसा है। अपनी वर्तमान (ज्ञान) पर्याय स्वभाव रूप परिणमती हुई नृत्य को स्पर्शती नहीं है, नृत्य के सामने देखती (भी) नहीं है। भगवान ! तेरा ज्ञानस्वभाव तेरी सत्ता में, तेरे अस्तित्व में प्रवर्तित हुआ है, तेरे अस्तित्व को छोडकर (आत्मा को जानना छोड़कर) दूर नहीं गया है। तेरा ज्ञानस्वभाव नृत्य के अभावपने वर्त्तता हुआ अपने सद्भावरूप परिणमता है। रूपी पर्याय यहाँ आत्मा में आवे तो आत्मा रूपी हो जावे, आत्मा का ज्ञान अरूपी है। अपने अस्तित्व में अपने सामर्थ्य से जानता है। इस—वस्तुस्थिति की अज्ञानी को खबर नहीं है। अपने में रहकर अपना ज्ञान होता है—वैसा नहीं मानकर 'मैंने यह नृत्य देखा' ऐसा मानता है—ऐसी विपरीत, मिथ्या-मान्यता में हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह ये पाँचों पाप आ जाते हैं। मैं अनादि अनन्त ज्ञानवान हूँ इसमें से प्रवर्त्तती ज्ञानपर्याय के सामर्थ्य को जो नहीं मानता है और **पर को मैं जानता हूँ ऐसा मानता है—वह अपने अस्तित्व का नाश करता है।** वह जीव नृत्य को वास्तव में नहीं जानता है, यदि वास्तव में नृत्य को

जाने तो नृत्य ज्ञान में आ जावे, तो ज्ञान रूपी हो जाये।।५२०।।

(श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक, अधिकार तीसरा, पू. गुरुदेव श्री का प्रवचन, श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. ३२, पृष्ठ २२९-२३०)

★ 'मैंने राग-स्वर सुना'—ऐसा वह (अज्ञानी) कहता है। राग-शब्द जड़ है, निंदा और प्रशंसा के शब्द जड़ हैं इसलिए राग को (शब्द को) नहीं सुना है परन्तु उस समय की स्व-परप्रकाशक शक्ति-सामर्थ्य को जाना है। शब्द को छुए बिना, शब्द के सामने देखे बिना अपने सामर्थ्य से जानता है। वह स्वर अथवा राग ज्ञान में आवे तो ज्ञान जड़ हो जाये और ज्ञान स्वर में जाये तो ज्ञान और स्वर एक हो जाये। ज्ञान स्वर को जाने तो ज्ञान का अस्तित्व ही नहीं रहता है। स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य अपना है—वह निश्चय से है। पर को जानता हूँ ऐसा कहना—वह व्यवहार है। 'ये निंदा सुनी', 'मेरा यश गान हो रहा है—उसको मैं सुनता हूँ'—ऐसा अज्ञानी कहता है। उस समय तेरा अस्तित्व है या नहीं ? कि उन्हीं के (निंदा प्रशंसा के) अस्तित्व को तू सुनता है ? अरे ! प्रभु ! तू तेरी ज्ञानपर्याय को (ही) जान रहा है, अनादि अनन्त ज्ञानस्वरूप है, उसकी ज्ञानपर्याय का प्रवर्त्तन हो रहा है (उसमें जाननहार आत्मा जानने में आ रहा है)—वैसा नहीं मानकर—**पर को मैं जानता हूँ—ऐसा मानना वो अधर्म है।।५२१।।**

(श्री मोक्षमार्ग प्रगशक, तीसरा अधिकार, पू. गुरुदेव श्री का प्रवचन, श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. ३२, पृष्ठ २३०)

★ पंडित जी ने कैसी शैली से विषय रखा है !! वस्तु ज्ञानस्वरूप है। स्व के सामर्थ्य को नहीं मानता हुआ 'मैंने शब्द सुना'—ऐसा मानना सो मिथ्या—अभिप्राय है। 'मैंने फूल सूँघा—ऐसा मानता है।—फूल तो जड़ है, अजीव-मूर्त्त है—उसकी पर्याय मूर्त्त है। आत्मा का ज्ञान मूर्त्त को

नहीं सूंघता है। मूर्त के सन्मुख होकर नहीं जानता है; परन्तु अमूर्त (आत्मा) के सन्मुख रहकर अपने को जानता है। लेकिन अपने ज्ञान-स्वभाव की सामर्थ्य को नहीं जानता हुआ—**पर को मैं जानता हूं—ऐसी (विपरीत) मान्यता के कारण पर की रुचि नहीं छोड़ता।**।५२२।।

(श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक, तीसरा अधिकार, पू. गुरुदेव श्री का प्रवचन, श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. ३२, पृष्ठ २३०)

★ अज्ञानी को अपने अस्तित्व की खबर नहीं है। पर के अस्तित्व की खबर नहीं है और स्व-पर भिन्नता की खबर नहीं है। उसको भेदज्ञान बिना धर्म नहीं होता है। 'मैंने दूधपाक, श्रीखंड, रसगुल्ला, गुलाब जामुन को जाना'—ऐसा कहता है। तो तू पर में गया है ? पर में प्रवर्त्ता है ? तेरे में पर आते हैं ? तूने स्वाद को नहीं जाना। तेरे में तेरे स्व-परप्रकाशक ज्ञानस्वभाव को जाना है। पर को जाना—वह तो उपचार का कथन है। ज्ञान का ज्ञान है (ज्ञान ज्ञान का है)। ज्ञान में अपने को जानने का स्वभाव है। तथा स्वाद को जाना—ऐसा कहना वह उपचार है। फिर भी अज्ञानी उपचार को यथार्थ मान लेता है। वो पर चीजों के प्रतिभास के समय तुझे तेरी पर्याय जानने में आती है।—ऐसा नहीं मानकर **मैं पर को जानता हूं—ऐसा मानकर अवास्तविकता (अयथार्थपना, मिथ्या अभिप्राय) उत्पन्न करता है**।।५२३।।

(श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक, तीसरा अधिकार, पू. गुरुदेव श्री का प्रवचन, श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. ३२, पृष्ठ २३१)

★ पर को मैंने जाना—ऐसा मानकर उसमें राग करता है। मुझे यह चीज अच्छी लगती है—ऐसे राग करता है। जड़ की पर्याय यहाँ (ज्ञान में)

आती है ? ना, जड़ की दशा के कारण राग होता है ? ना, जड़ की पर्याय के कारण ज्ञान होता है ? ना, ! **अपने ज्ञान को न जानकर, पर को मैं जानता हूँ—ऐसा मानना अधर्म है।**।५२४।।

(श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक तीसरा अधिकार, पू. गुरुदेव श्री का प्रवचन, श्री सद्‌गुरु प्रवचन प्रसाद न. ३२, पृष्ठ २३१-२३२)

★ आत्मा ने मीठे पदार्थ को नहीं जाना है। स्व को जानता हुआ पर को उपचार से जानता है। **अनुपचार बिना उपचार कहाँ से आवे ?** मीठे की पर्याय के अभावरूप रहता और अपने में अपने सद्‌भाव रूप रहता अपने को जानता हूँ—ऐसा नहीं मानता हुआ पर को मैं जानता हूँ—ऐसा अज्ञानी मानते हैं।

जीव स्वाद नहीं ले सकता; उस समय की ज्ञान पर्याय उस समय वैसी ही सामर्थ्य वाली है—ऐसा नहीं मानकर—मैं पर को जानता हूँ वह मिथ्याभ्रांति और अज्ञान है। इसी कारण अनन्त संसार में भटकता है, भ्रमता है।।५२५।।

(श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक, तीसरा अधिकार, पू. गुरुदेव श्री का प्रवचन, श्री सद्‌गुरु प्रवचन प्रसाद नं. ३२, पृष्ठ २३२)

★ इस प्रकार ज्ञेय मिश्रित ज्ञान किया है परन्तु ज्ञेय—मिश्रित हुआ नहीं है। ऐसे ज्ञेय मिश्रित ज्ञान द्वारा विषयों की ही प्रधानता भासती है। मेरी ज्ञानपर्याय मेरे से प्रवर्त्ती है—ऐसा भासित नहीं हुआ लेकिन विषयों से प्रवर्त्ती है ऐसा भासता है। इसको (पर को) जाना, फूल को सूंघा—इस प्रकार पर को प्रधानता देता है। कल्पना में ज्ञेय और ज्ञान को मिश्रित करता है (एकमेक मानता है)। पाँच इन्द्रियों के विषयों को और मन के विषयों को अपने में एकमेक करता है।—ये चीजें हों तो जानने में

आवें—इसलिए उन चीजों को जुटाना चाहता है (मिलाना चाहता है) पर को देखना चाहता है। पर को जानना चाहता है। परन्तु अपने को जानना नहीं चाहता। अपने को भिन्न नहीं मानता हुआ ज्ञेयमिश्रित ज्ञान द्वारा उन चीजों की (परवस्तुओं की) मुख्यता भासती है। 'मैं जाननहार—देखनहार हूँ'—ऐसा नहीं भासता—पूरा भगवान आत्मा रह जाता है (दृष्टि में नहीं आता है)।।५२६।।

(श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक, तीसरा अधिकार, पू. गुरुदेव श्री का प्रवचन श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. ३२, पृष्ठ २३२-२३३)

★ इस सब का सार यह है कि तेरा पर को जानने का रस्ता और पर में स्वाद मानकर—राग का स्वाद लेने का रस्ता—शांति का नहीं है। इसलिए तू दुखी हो रहा है। विषयों का स्वाद नहीं है और विषयों का ज्ञान नहीं है। परन्तु राग का स्वाद है और ज्ञान का ज्ञान है। विषय पर हैं राग क्षणिक है, तेरे स्वभाव में नहीं है और ज्ञान पर्याय ज्ञानस्वभावी आत्मा की है। इस प्रकार रागरहित नित्य ज्ञानस्वभावी आत्मा की दृष्टि हो! ऐसा समझे तो निमित्तबुद्धि और रागबुद्धि छूटकर स्वभावबुद्धि होवे—धर्म होवे यह समझाने के लिए यह बात करी है।।५२७।।

(श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक तीसरा अधिकार, पू. गुरुदेव श्री का प्रवचन, श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. ३२, पृष्ठ २३४)

★ **प्रश्न :** ज्ञान ज्ञान को ही जानता है तो जगत की दूसरी चीजों की क्या जरूरत है?

समाधान : ज्ञान के कारण जगत की वस्तुएं नहीं है। और जगत की वस्तुओं के कारण ज्ञान नहीं है। ज्ञान पर को जानता है—ऐसा कहना वो असद्भूत उपचार है। वास्तव में **यदि ज्ञान पर को जाने तो**

लोकालोक और ज्ञान एकमेक हो जायें—तो दोनों जुदा नहीं रहेंगे।।५२८।।

(श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक, तीसरा अधिकार, पू. गुरुदेव श्री का प्रवचन, श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. ३२, पृष्ठ २३४)

★ वास्तव में इस जगत को जीव ने नहीं जाना है। **यदि जगत को वास्तव में जाने तो जगत और जीव एक हो जावे।** तेरा ज्ञान वास्तव में मानस्तम्भ को जाने तो तेरा ज्ञान उसमें चला जाय—तो तू और मानस्तम्भ एकरूप हो जाये। **वास्तव में तू अपनी ज्ञानपर्याय को जानता है। मानस्तम्भ आदि पर को वास्तव में ज्ञान जानता ही नहीं है।।५२९।।**

(श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक, तीसरा अधिकार, पू. गुरुदेव श्री का प्रवचन, श्री सद्गुरु प्रवचन प्रसाद नं. ३२, पृष्ठ २३८)

★ **ज्ञान कला में अखण्ड का प्रतिभास :—**

ज्ञान की वर्तमान पर्याय का सामर्थ्य स्व को जानने का है। आबाल-गोपाल सभी को सदाकाल अखण्ड प्रतिभासमय त्रिकाली स्व जानने में आता है, लेकिन उसकी दृष्टि पर में पड़ी होने से वहाँ एकत्व करता हुआ 'जाननहार ही जानने में आता है' (जाणनार ज जणाय छे) वैसा नहीं मानता हुआ, रागादि पर जानने में आता है—इस प्रकार अज्ञानी पर के साथ एकत्वपूर्वक जानता-मानता होने से उसकी वर्तमान अवस्था में अखण्ड का प्रतिभास (ज्ञान) नहीं होता। और ज्ञानी तो '**यह जाननहार जानने में आता है वही मैं हूँ**' ऐसे जाननहार ज्ञायक को जानता-मानता होने से उसकी वर्तमान अवस्था में (ज्ञानकला में) अखण्ड का सम्यक् प्रतिभास होता है।।५३०।।

(श्री आत्मधर्म गुजराती अंक ८ [३९२] वीर संवत २५०२ जेठ)

श्रीमद् राजचन्द्रजी के वचनामृत

★ "अनन्तकाल से जो ज्ञान (इन्द्रियज्ञान) भव हेतु होता था उस ज्ञान को एक समय मात्र में जात्यांतर करके जिसने भवनिवृत्तिरूप किया उस कल्याणमूर्ति सम्यक्दर्शन को नमस्कार"।।५३१।।

(श्रीमद् राजचन्द्र पत्र नं ८३९, पृष्ठ ६२५)

★ जीवकी उत्पत्ति अरु रोग, शोक, दुख, मृत्यु,
देह का स्वभाव जीवपद में जनाय है;
ऐसा जो अनादि एकरूपका मिथ्यात्वभाव,
ज्ञानी के वचन द्वारा दूर हो जाय है।।४८।। ।।५३२।।

('जड और चैतन्य दोनों द्रव्य का स्वभाव भिन्न' में से)

★ ज्ञान ने आत्मा को लक्ष करके जाना है, उसकी वर्ते है शुद्ध प्रतीति,
मूल मारग सुनो रे जिनदेव का ... ...।।५३३।।

('मूल मारग सुनो रे... में से, पंक्ति ७)

★ जब जान्यो निजरूप को, तब जान्यो सब लोक,
नहीं जान्यो निजरूप को, सब जान्यो सो फोक।।५३४।।

★ घट, पट आदि जान तूं, इससे उसको मान,
जाननहार को माने नहीं, कहिए कैसा ज्ञान ?।।५३५।।

(श्री आत्मसिद्धी शास्त्र, गाथा नं. ५५)

★ केवल निजस्वभाव का अखण्ड वर्ते ज्ञान,
कहते केवलज्ञान उसे, देह छतां निर्वाण।।५३६।।

(श्री आत्मसिद्धि शास्त्र, गाथा नं. ११३)

पू. बहन श्री के वचनामृत

★ यह सर्वत्र-बाहर-स्थूल उपयोग हो रहा है, उसे सब जगह से उठाकर, अत्यन्त धीर होकर, द्रव्य को पकड़। वर्ण नहीं, गंध नहीं, रस नहीं, द्रव्येन्द्रिय भी नहीं और भावेन्द्रिय भी द्रव्य का स्वरूप नहीं है। यद्यपि भावेन्द्रिय है तो जीव की ही पर्याय, परन्तु वह खण्ड-खण्ड रूप है, क्षायोपशमिक ज्ञान है और द्रव्य तो अखण्ड एवं पूर्ण है, इसलिये भावेन्द्रिय के लक्ष से भी वह पकड मे नहीं आता। इन सबसे उस पार द्रव्य है। उसे सूक्ष्म उपयोग करके पकड।।५३७।।

(पू. बहनश्री के वचनामृत, पृष्ठ ७९, बोल २०३)

★ आत्मा जानने वाला है, सदा जागृतस्वरूप ही है। जागृतस्वरूप ऐसे आत्मा को पहिचाने तो पर्याय में भी जागृति प्रगट हो। आत्मा जागती ज्योति है, उसे जान।।५३८।।

(पू. बहनश्री के वचनामृत, पृष्ठ १०३, बोल २६५)

★ चैतन्य मेरा देव है; उसी को मैं देखता हूँ। दूसरा कुछ मुझे दिखता ही नहीं है ने !—ऐसा द्रव्य पर जोर आये, द्रव्य की अधिकता रहे, तो सब निर्मल होता जाता है। स्वयं अपने में गया, एकत्वबुद्धि टूट गई, वहाँ सब रस ढीले हो गये। स्वरूप का रस प्रगट होने पर अन्य रस में अनन्त फीकापन आ गया। न्यारा, सबसे न्यारा हो जाने से संसार का रस घटकर अनन्तवां भाग रह गया। सारी दशा पलट गई।।५३९।।

(पू. बहनश्री के वचनामृत, पृष्ठ १७४, बोल ३९७)

★ जीव भले ही चाहे जितना शास्त्र पढ़ ले, वाद-विवाद करना जाने,

प्रमाण-नय-निक्षेपादि से वस्तु की तर्कणा करे, धारणारूप ज्ञान को विचारों में विशेष-विशेष फेरे, किन्तु यदि ज्ञानस्वरूप आत्मा के अस्तित्व को न पकड़े और तद्रूप परिणमित न हो, तो वह ज्ञेयनिमग्न रहता है, जो-जो बाहर का जाने उसमें तल्लीन हो जाता है, मानों ज्ञान बाहर से आता हो—ऐसा भांव वेदता रहता है। सब पढ़ गया, अनेक युक्ति-न्याय जाने, अनेक विचार किये, **परन्तु जाननेवाले को नहीं जाना**, ज्ञान की असली भूमि दृष्टिगोचर नहीं हुई, तो वह सब जानने का फल क्या ? शास्त्राभ्यासादि का प्रयोजन तो ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानना है।।५४०।।

(पू. बहनश्री के वचनामृत, पृष्ठ १६३, बोल ३८१)

★ ज्ञायक स्वभाव आत्मा का निर्णय करके, मति-श्रुतज्ञान का उपयोग जो बाह्य में जाता है उसे अन्तर में समेट लेना, बाहर जाते हुये उपयोग को ज्ञायक के अवलम्बन द्वारा बारम्बार अन्तर में स्थिर करते रहना, वही शिवपुरी पहुँचने का राजमार्ग है। ज्ञायक आत्मा की अनुभूति वही शिवपुरी की सड़क है, वही मोक्ष का मार्ग है। दूसरे सब उस मार्ग का वर्णन करने के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। जितने वर्णन के प्रकार हैं, उतने मार्ग नहीं हैं; मार्ग तो एक ही है।।५४१।।

(पू. बहनश्री के वचनामृत, पृष्ठ १६४, बोल ३८३)

★ जिनेन्द्र भक्ति तो क्या, परन्तु कोई भी कार्य करते हुए साधक की दृष्टि ज्ञायकदेव पर ही पड़ी होती है। दृष्टि ज्ञायकदेव में जमी सो जमी ! वहाँ से पीछे हटती ही नहीं ! बाहर के नेत्र भले जिनेन्द्र पर एकाग्र हों परन्तु अन्दर के नेत्र तो उस समय भी निज ज्ञायकदेव पर से हटते नहीं। ज्ञायकदेव के दर्शन होने पर अनन्त गुणों में आंशिक शुद्धि की पर्याय प्रगट हुई ! अब पूर्णता लिये बिना अन्दर के नैन वहाँ से पीछे हटते ही नहीं,

द्रव्य दृष्टि जहाँ चोंटी वहाँ से पीछे फिरती नहीं। अन्दर में पूर्णता लेवे ही लेवे। जैसे भगवान के दर्शन होने पर नेत्र वहीं रुक जाते हैं वैसे ही ज्ञायकदेव के दर्शन होने पर अन्दर के नेत्र-दृष्टि वहीं चोंट जाती है। दृष्टि जमने पर ज्ञान भी वहाँ कथंचित् जम जाता है, बाद में उपयोग अन्दर और बाहर ऐसे करते-करते अन्दर में पूर्ण जमने पर केवलज्ञान प्रगट होता है। अहो! ज्ञायकदेव की और जिनेन्द्रदेव की अपार महिमा है।।५४२।।
(श्री गुजराती आत्मधर्म, फरवरी १९९१, पृष्ठ १९, पू. बहन श्री)

★ **प्रश्न :** अस्तित्व का ग्रहण अर्थात् क्या?

उत्तर : अज्ञानी को अनुभव से पहले अपने अस्तित्व का ख्याल आना चाहिए। "यह जानने में आता है वह जानने में आता है इसलिए मै जाननहार" ऐसा नहीं परन्तु "यह रहा मैं जाननहार ज्ञायक" ऐसे अपने अस्तित्व का सीधा ख्याल आवे, अभेद एक आत्मा का भावभासन होवे। ऐसे अस्तित्व के ग्रहण के बाद ही सच्चा पुरुषार्थ शुरू होता है।।५४३।।
(श्री अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ३१४)

आत्मार्थी भाई श्री निहालचंद्र भाई सोगानी जी के वचनामृत द्रव्य दृष्टि प्रकाश, भाग ३ में से

★ **प्रश्न :** राग को ज्ञान का ज्ञेय तो बनाना न?

उत्तर : राग को ज्ञान का ज्ञेय "बनाने जाते हैं" यह दृष्टि ही गलत है। खुद को ज्ञेय बनाया तो राग उसमें (जुदा) (भिन्न) जानने में आता है। राग को ज्ञेय क्या बनाना है?।।५४४।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, बोल ३२६, पृष्ठ ६९)

★ राग को ज्ञान का ज्ञेय, ज्ञान का ज्ञेय कहते हैं और लक्ष राग की ओर है तो वह सच्चा ज्ञान का ज्ञेय है ही नहीं। ज्ञान का ज्ञेय तो अन्दर में सहजरूप हो जाता है। लक्ष बाहर पड़ा है और ज्ञान ज्ञेय है—ऐसा बोले तो मुझे तो खटकता है। ऐसे 'योग्यता', 'क्रमबद्ध' आदि सब में लक्ष बाहर पड़ा हो और कहवे वो तो मुझे खटकता है।।५४५।।

(श्री द्रव्यदृष्टिप्रकाश, बोल ५७९, पृष्ठ १११)

★ निमित्तों से तो किंचित् मात्र लाभ नहीं है, लेकिन उघाड़ ज्ञान (इन्द्रियज्ञान) से भी कुछ लाभ नहीं है। उघाड़ ज्ञान में (इन्द्रियज्ञान में) तुझे हर्ष आता है तो त्रिकाल स्वभाव की तुझे महत्ता नहीं आई है।।५४६।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, बोल ३५९, पृष्ठ ७४-७५)

★ सुन सुन करके मिल जायेगा ओ दृष्टि झूठी है। (कार्यसिद्धि) अपने (अन्तर पुरुषार्थ) से ही होगी। सुनना, सुनाना, पढ़ना, ये सब

(बहिर्मुखीभाव, कार्यसिद्धि के लिए) बेकार हैं। ओ हो तो भले हो, लेकिन उसका खेद होना चाहिए, निषेध आना चाहिए।।५४७।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, बोल १५, पृष्ठ ६)

★ बहिर्मुख होने से ज्ञान खिलता नहीं; और अंतर्मुख होने से भीतर से ही केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। अपनी ओर ही देखने की बात है।।५४८।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, बोल ४१, पृष्ठ ११)

★ तीर्थंकर की दिव्य-ध्वनि से भी लाभ नहीं होता, तो फिर और किससे लाभ होता होगा ? वह (दिव्य-ध्वनि) भी अपने को छोड़कर एक (भिन्न) विषय ही है।।५४९।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, बोल ४८, पृष्ठ १२)

★ ज्ञान की पर्याय आती है अन्दर से; और (अज्ञानी को) बाहर का लक्ष होने से दिखती है बाहर से आती है। इसलिए अज्ञानी को पर से ज्ञान होता है, ऐसा भ्रम हो जाता है।।५५०।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, बोल ५८, पृष्ठ १४)

★ (द्रव्यलिंगी की भूल) द्रव्यलिंगी होकर ११ अंग तक पढ़ लेते हैं लेकिन त्रिकाली चैतन्य दल में अपनापना नहीं करते वो ही भूल है; दूसरी कोई भूल नहीं है।।५५१।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, बोल ६०, पृष्ठ १४)

★ पू. गुरुदेवश्री ने शास्त्र पढ़ते समय कहा जैसे व्यापार में चोपड़े का (बही का) पन्ना फेरते हैं वैसे ये पन्ना है कोई फर्क नहीं; अगर अन्दर की (ध्रुव चैतन्य की) दृष्टि नहीं; तो दोनों समान हैं।।५५२।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ १४, बोल ६१)

★ तीर्थंकर योग और वाणी मिली तो ठीक है। भविष्य में भी यह भाव से मिलेगी, ऐसी उसमें होश आती है; तो उससे कैसे छूटेगा ? लाभ मानते है तो कैसे छोड़ेगा ? उससे (ऐसा भाव से) नुकशान ही है, लाभ नहीं, लाभ तो मेरे से ही है—वर्तमान से ही मेरे से लाभ है—ऐसा जोर नहीं होवे तो पर में अटक जायेगा।।५५३।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ १४, बोल ६२)

★ विचार मंथन भी थक जाय, शुन्य हो जाय, तब अनुभव होता है ! मंथन भी तो आकुलता है। एकदम तीव्र धगशसे अन्दर में उतर जाना चाहिए।।५५४।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ १७, बोल ७२)

★ बस एक ही बात है कि 'मैं त्रिकाली हूँ' ऐसे जमे रहना चाहिए। पर्याय होने वाली हो—योग्यतानुसार हो जाती है, मैं उसमें नहीं जाता हूँ। क्षयोपशम हो, न हो, याद रहवे, नहीं रहवे लेकिन असंख्य प्रदेश में प्रदेश-प्रदेश में व्यापक हो जाना चाहिए।।५५५।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ १९, बोल ८१)

★ कोई एकान्त वेदान्त में खेंच जावे नहीं, इसलिये दोनों बात बताई है। पर्याय दूसरे में नहीं होती, कार्य तो पर्याय में ही होता है, ऐसा कहे तो वहाँ (पर्याय की रुचि वाले) चोंट जाते हैं—ऐसा तो है न ! ऐसा तो होना चाहिए न ! अरे भाई ! क्या होना चाहिए ? छोड़ दे सब बातें जानने की ! मैं तो त्रिकाली ही हूं। उत्पाद-व्यय कुछ मेरे में है ही नहीं।।५५६।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ २०, बोल ८८)

★ प्रश्न : शुरूआत वाले को, विचार में बैठते हैं तो मैं ऐसा हूँ।—मैं ऐसा हूँ ऐसा करते हैं, तो घंटा-आधा घंटा में थाक लगता है, तो क्यों ?

उत्तर : विकल्प में तो थाक ही लगे ने ! मैं ऐसा हूँ—ऐसा अनुभव करने में शान्ति है।।५५७।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ २०, बोल ८९)

★ शास्त्र सब पढ़ लेवे। लेकिन अनुभव बिना उसका भाव ख्याल में आते नहीं। सब अपेक्षा तो जान लेवे, लेकिन उसमें ही (जानपणा में ही) फँस जाते।।५५८।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ २५, बोल १०९)

★ जो निर्विकल्पता होती है उसमें तो सारा जगत, देह, विकल्प, उघाड़ आदि कुछ दिखते ही नहीं, एक आप ही आप दिखता है। अन्दर में जावे तो बाहर का कुछ दिखे नहीं।।५५९।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ २६, बोल ११४)

★ शास्त्र से ज्ञान नहीं होता, ऐसा सुने—और "बराबर है" ऐसा कहे। मगर अन्दर में (अभिप्राय में) तो आप बाहर से (शास्त्र आदि से) ज्ञान आता है, ऐसा मानता है। वाणी से लाभ नहीं ऐसा कहवे मगर मान्यता में सुनने से प्रत्यक्ष लाभ होता दिखता है तो थोड़ा तो सुन लेऊं, इसमें नुकसान क्या है ? (अज्ञान में ऐसा भ्रम रहता है) अरे भैया ! इसमें नुकसान ही होता है। लाभ नहीं। ऊपर से नुकसान कहे और अन्दर में लाभ मानकर प्रवर्त्ते, ओ कैसी बात ? उसमें अटक जाते हैं।।५६०।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ २७, बोल ११६)

★ प्रश्न : द्रव्यलिंगी इतना स्पष्ट जानकर क्यों 'त्रिकाली' में अपनापणा नहीं करते ?

उत्तर : उसको सुख की जरूरत नहीं है। क्योंकि उसको एक समय

की उघाड़ पर्याय में सन्तोष है—सुख लगता है। तो 'त्रिकाली' को क्यों पकड़े।।५६१।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ २८, बोल १२१)

★ आखिर जितना भी सुन लो, लेकिन सुख तो यहाँ से (अन्तर में से) ही शुरु होना है। यह थोडा सुन तो लेऊं, इसमें क्या नुकसान है ? पीछे अन्दर में जाऊँगा, वो बात ठीक नहीं है। और एक समय की ज्ञान पर्याय में विचार कर-करके भी क्या मिलेगा ? त्रिकाली की तरफ जोर देने से ही क्षणिक पर्याय की एकता छूटकर सुख मिलेगा।।५६२।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ २८, बोल १२४)

★ देवगुरु आदि निमित्त का संसारिक विषयों की अपेक्षा से फरक है। क्योंकि संसारिक विषयों तो अपनी तरफ झुकाव करने को कहते हैं। और देवादिक निमित्तों अपनी ओर झुकाव का निषेध करके आत्मा की ओर झुक जाओ—ऐसा कहते हैं। इसलिए देवादिक निमित्तों में फर्क कहने में आता है। लेकिन जो जीव अपनी ओर नहीं झुकता है, देवादिक की ओर ही झुके रहते हैं उन्होंने तो ये संसारिक विषयों की तरह ही यह भी विषय बना लिया। तो कोई फर्क नहीं रहा।।५६३।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ २९, बोल १२९)

★ जब मुनिओं अपने लिये शास्त्र में रमती बुद्धि को व्यभिचार मानते हैं, तो नीचे वालों की तो व्यभिचारी बुद्धि है ही। तो (अज्ञानी) जीव यहाँ ऐसा लेता है कि मुनिओं तो अपने लिये व्यभिचारी माने वो ठीक है, लेकिन अपन तो थोडी शक्तिवाले हैं, अपने को तो शास्त्रादिका अवलम्बन ही चाहिये, ऐसे आड लेकर वहाँ संतोष मानकर अटक जाते हैं। प्रथम में

प्रथम तो त्रिकाली में पसर जाने का है; ओ ही सब से प्रथम करना है।।५६४।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३ पृष्ठ ३०, बोल १३०)

★ थोड़ा यह तो कर लेऊँ, यह तो जान लेऊँ, सुन तो लेऊँ, ये सब अटकने का रास्ता है। (अपने) असंख्य प्रदेश में प्रसरकर पूरा का पूरा व्यापक होकर स्थिर रहो ना! सुख-शान्ति बढ़ती जायेगी। विकल्पादि टूटते जायेंगे।।५६५।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ ३२, बोल १४०)

★ अपने को तो सुख पीने की अधिकता रहती है। जानने की नहीं। और खरेखर तो विकल्प से जानते हैं. सो तो सच्चा जानना ही नहीं है। अन्दर में अभेदता से जो सहज जानना होता है, वही सच्चा ज्ञान है। परसत्ता अवलम्बी ज्ञान तो हेय कहा है ना! और शिवभूति मुनि विशेष जानते नहीं थे, फिर भी अन्दर में सुख पीते-पीते उनको केवलज्ञान हो गया।।५६६।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ ३४, बोल १४६)

★ (अज्ञानी जीव को) ज्ञान का थोड़ा क्षयोपशम होवे और थोड़ा विकास भी होता जावे, तो उसमें ही रुक जाता है। "मैं थोड़ा समझदार तो हूँ—और शान्ति भी थोड़ी पहले से अपेक्षित बढ़ती जाती है—तो मैं आगे बढ़ता जाता हूँ" ऐसा संतोष मानकर अटक जाता है।।५६७।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ ४२, बोल १८९)

★ **प्रश्न :** उपयोग को स्वयं की ओर ढालने का ही एक कार्य करने का है ना?

उत्तर : पर्याय की अपेक्षा से तो ऐसा ही कहा जावे। क्योंकि उपयोग

दूसरी तरफ है। तो इधर लाओ—ऐसा कहने में आता है। असल में तो मैं खुद ही उपयोग स्वरूप हूँ। उपयोग कहीं गया ही नहीं। ऐसी दृष्टि होने पर (पर्याय अपेक्षा से) उपयोग स्व सन्मुख आता ही है।।५६८।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ ४९, बोल २२३)

★ उपयोग अपने से बाहर निकले तो जम का दूत ही आया—ऐसा देखो ! (बाहर में) चाहे भगवान भी भले हों। (उपयोग बाहर जावे) उसमें अपना मरण हो रहा है। बाहर के पदार्थ से तो अपना कोई सम्बन्ध ही नहीं—फिर उपयोग को बाहर में लम्बाना क्यों ?।।५६९।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ ५२, बोल २४३)

★ "शुद्ध बुद्ध चैतन्य घन, स्वयं ज्योति सुख धाम" उसमें पर्याप्त बात बतला दिया है फिर जो सब बात आती है, वह तो परलक्षी ज्ञान की निर्मलता के लिए सहज हो तो हो।।५७०।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ ६०, बोल २८१)

★ अपने को ज्यादा ज्ञान का लक्ष नहीं है (क्षयोपशम बढ़ाने की चाहना नहीं है)। सुख पीने का भाव रहता है। केवलज्ञान पड़ा है, तो उसके उघड़ने पर ज्ञान तो सब हो जायेगा।।५७१।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ ७१, बोल ३४३)

★ ज्ञान के उघाड़ में रस लगता है, तो तत्वरसिक जन कहते हैं कि हमको तेरी बोली में रस नहीं आता, हमको तेरी बोली काग पक्षी जैसी (अप्रिय) लगती है।।५७२।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ ७७, बोल ३७२)

★ (बिमारी की व्याख्या ऐसी कही) उपयोग बाहर ही बाहर में घूमता

रहता है, बस, यही बिमारी है, इसको मिटानी है।।५७३।।
(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ ७८, बोल ३८१)

★ उपयोग बाहर में जाता है तो अपना अनुभव में अंतराय आती है।।५७४।।
(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ ८८, बोल ४४१)

★ (उघाड़ पर जिसकी दृष्टि है उसको) क्षयोपशम बढ़ता जाता है, तो साथ-साथ अभिमान भी बढ़ता जाता है।।५७५।।
(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ ८९, बोल ४४८)

★ विचार और धारणा में वस्तु को पकड़ने का सामर्थ्य ही नहीं। अज्ञानी वस्तु को नहीं पकड़ते हैं। विचार में तो वस्तु परोक्ष और दूर रह जाती है।।५७६।।
(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ ९०, बोल ४५१)

★ सोचते रहने से तो जागृति नहीं होती। ग्रहण करने से ही जागृति होती है। सोचने में तो वस्तु परोक्ष रहती है और ग्रहण करने में वस्तु प्रत्यक्ष होती है। सुनते रहने से और सोचते रहने से तो वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। ग्रहण करने का ही अभ्यास शुरू होना चाहिए।।५७७।।
(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ ९०, बोल ४५४)

★ विकल्पात्मक निर्णय छूटकर, स्व-आश्रित ज्ञान उघड़ता है। जो ज्ञान सुख को देता है—वही ज्ञान है।।५७८।।
(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ ९२, बोल ४६२)

★ पर सन्मुख उपयोग होता है—वह आत्मा का उपयोग ही नहीं है, अनउपयोग है। आत्मा का उपयोग तो पर में आता ही नहीं—और पर में

जावे वह उपयोग ही नहीं।।५७९।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ ९२, बोल ४६५)

★ (अज्ञानी का) परलक्षी उपयोग में (ज्ञान में) राग को भिन्न जानने की ताकत ही नहीं। परलक्षी उपयोग तो अचेतन ही गिनने में आता है।।५८०।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ ९३, बोल ४७२)

★ जैसे उधर के पंडितों को लगता कि हम सब जानते हैं, ऐसे वांचनकार हो जावे और उघाड़ हो जावे तो उसमें (लोग) अटक जाते हैं कि हम समझते हैं, तो वह उघाड़ रुकने का साधन हो जाता है। पंडितों का संसार-शास्त्र कहा है ना!।।५८१।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ ९७, बोल ४८८)

★ सागरों तक बारह अंग का अभ्यास करते हैं, लेकिन इस परलक्षी ज्ञान में तो नुकशान ही नुकशान है। जो उपयोग बाहर में जावे तो दुःख होवे ही। स्व उपयोग में ही सुख है।।५८२।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ ९७, बोल ४९२)

★ रुचि होवे तो प्रवृत्ति में भी अपने कार्य में विघ्न नहीं आता। दूसरे से तो कुछ लेना नहीं है, और (स्वयं) सुख का तो धाम है तो उपयोग रहित चक्षु की माफीक प्रवृत्ति में दिखे और उपयोग तो इधर (अन्दर में) काम करता होवे।।५८३।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ ९९, बोल ४९८)

★ वर्तमान अंश में ही सब रमत है। ओ अन्दर में देखेगा तो (अनन्त) शक्तियाँ दिखेंगी, और बहिर्मुख होगा तो संसार दिखेगा। इतना सा (कोई

जीव) अंश से बाहर तो जाते ही नहीं, इतनी मर्यादा में रमत है।।५८४।।
है।।५८४।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ १०६, बोल ५४७)

★ अज्ञानी को ऐसा रहता है कि मैं कषाय को मंद करते-करते अभाव कर दूंगा। लेकिन ऐसे तो कषाय का अभाव होता ही नहीं है। स्वभाव के बल बिना कषाय टलता नहीं। मैं कषाय को मंद करता जाऊँगा और सहनशक्ति बढ़ाता जाऊँगा, तो कषाय का अभाव हो जायेगा, ऐसा अज्ञानी मानता है। और ज्ञान में जो परलक्षी उघाड़ है, ओ ही बढ़ता-बढ़ता केवलज्ञान हो जायेगा, ऐसा मानता है।।५८५।।

(श्री द्रव्यदृष्टि प्रकाश, भाग ३, पृष्ठ १०९, बोल ५६५)

दाताओं की नामावली

११००१/-	श्री शान्ति सागर, अनिल कुमार जैन	दिल्ली
१००००/-	श्री कल्याण कुमार जैन	,,
५१०१/-	श्री पृथ्वीचन्द्र जैन	,,
५०००/-	श्रीमती उर्मिला जैन	,,
४०००/-	श्री नरेश चन्द्र जैन	,,
३१००/-	श्री विमल प्रसाद जैन	,,
३१००/-	श्री इन्द्रसैन जैन	,,
२०००/-	श्री श्रीराम जैन	,,
२०००/-	श्री कुन्द-कुन्द कहान दि. जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट (रजि.)	,,
२०००/-	श्री रतनलाल, श्रीपाल जैन	,,
११००/-	श्री माणिकचन्द जैन लुहाड़िया	,,
१००१/-	श्रीमती शैल जैन	,,
१०००/-	श्री अनिल कुमार जैन	,,
१०००/-	श्री राजकुमार जैन	,,
१०००/-	श्रीमती शोभा जैन	,,
५०१/-	श्री नवीन कुमार जैन	,,
५०१/-	श्रीमती शान्ति देवी जैन	,,
२०१/-	श्री सुलेख चन्द जैन	,,
१०१/-	श्री प्रेम चन्द जैन	,,
१००१/-	श्री सुरेन्द्र कुमार जैन, घी वाले	शिकोहाबाद
१००१/-	श्री रविन्द्र कुमार जैन	,,
१००१/-	श्री धनदेव जैन	,,
१००१/-	श्री कस्तूर चन्द जैन	,,

५०१/-	श्रीमती ज्ञानमाला जैन	"
२०१/-	श्री नरेश चन्द जैन	"
२०१/-	डॉ. मदन कुमार जैन	"
१०१/-	श्रीमती उषा जैन	"
१०१/-	श्री प्रेम चन्द जैन	"
१०१/-	श्री विजय जैन	शिकोहाबाद
१०१/-	श्री दिनेश चन्द जैन	"
१०१/-	श्रीमती किरन जैन	"
१००१/-	श्री प्रसन्न कुमार, मीठा लाल सेठी	जयपुर
२५१/-	श्री हरिश चन्द्र ढोलिया	"
५०१/-	डॉ. अमिता बहन	बम्बई
५०१/-	श्री शान्ति लाल काला	भिण्ड
२५१/-	डॉ. अशोक कुमार जैन	"
२०१/-	कु. अर्चना, अलका जैन	"
१०१/-	कु. नीलम जैन	"
१०१/-	श्री जयचन्द जैन	"
१०१/-	श्रीमती माया जैन	"
१०१/-	श्री मनोज जैन	"
१०१/-	श्री सुमत प्रसाद जैन	"
१०१/-	श्रीमती सरोज जैन	"
१०१/-	श्री बांके लाल अशर्फी लाल	"
२०१/-	श्रीमती साधना जैन	जसवन्त नगर
२०१/-	श्रीमती बिमला जैन	"
१०१/-	श्रीमती कमला जैन	"
२०१/-	डॉ. धन्य कुमार जैन	एत्मादपुर
१०१/-	मीठा लाल मदन लाल दोषी	हिम्मतनगर
१०१/-	श्री जेठा लाल एच. दोषी	सिकन्द्राबाद
८०१/-	गुप्त दान	